बिहारी का काव्य



संपादक

हरिमोहन मालवीय

प्रकाशक

सरस्वती प्रकाशन मन्दिर

नया बैरहना

इलाहाबाद-३

मूल्य—१५ रुपया

संवत्—२०२६ (१९६९ ई०)

प्रकाशक—श्री व्यासनारायण भट्ट
सरस्वती प्रकाशन मंदिर
६९, नया बैरहना, इलाहाबाद

मुद्रक—लल्लू प्रिंटिंग प्रेस
के० एल० कीडगंज
प्रयाग

गुरुवर
श्रद्धेय डा० माता प्रसाद जी गुप्त
को सादर समर्पित

यह संकलन

महाकवि बिहारी और सतसई से सम्बन्धित लेखों का यह संग्रह ब्रजभाषा काव्य के विद्वानों और अध्येताओं के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह लेख-संग्रह वर्षों पहले ही तैयार कर चुका था किन्तु कुछ अपरिहार्य परिस्थितियो के कारण इसका प्रकाशन न हो पाया। अंततः श्री व्यासनारायण भट्ट तथा डा० ललित शुक्ल की प्रेरणा से यह लेख-संग्रह अब प्रस्तुत हो पाया है।

बिहारी सतसई विषयक अनुसंधान के सिलसिले मे मेरे मन में यह बात आई थी कि बिहारी और सतसई सम्बन्धी महत्वपूर्ण विपुल सामग्री पत्र-पत्रिकाओ की संचिकाओं मे उपेक्षित सी पड़ी है। बहुत से विद्वानो ने सतसई का बड़ी सजगता और सुरुचि से अध्ययन किया था, लेकिन उनकी ये महत्वपूर्ण कृतियाँ अध्येताओ की दृष्टि से अब तक ओझल ही रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि बिहारी और सतसई विषयक तथ्यपरक अनुसधान-कार्य ठोस आधार पर नहीं हो पाया और अधिकांश विद्वानो ने येनकेन प्रकारेण स्व० बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की खोजों और उपलब्धियो को ही अंतिम समझ कर सूक्ष्म समस्याओ की ओर इंगित करने का प्रयास नहीं किया है। बिहारी के काव्य की आलोचना पर कई ग्रंथ छपे हैं, उनमें मौलिक स्थापनाएँ और बिहारी की विशेषताओ पर अच्छा प्रकाश डाला गया है किन्तु बिहारी विषयक बहुत सी सामग्री की ओर विद्वानों की दृष्टि कम ही गई है। विशेष रूप से पाण्डुलिपियो के आधार पर अध्ययन बहुत ही कम हुआ है। उसी प्रकार बिहारी-सतसई सम्बन्धी साहित्यिक चर्चाओ के प्रसंग मे बहुत से तथ्य विद्वानों द्वारा सामने लाए गए थे, लेकिन उनकी उपेक्षा ही हुई है, और फलत. गलत मान्यताओं के आधार पर बिहारी और सतसई का अध्ययन अब तक प्रचलित है। इस स्थिति से मुझे संतोष नहीं हुआ और मैंने कई संग्रहालयों और पुस्तकालयों मे संग्रहीत पत्रिकाओ की फाइलों मे से बिहारी-सतसई विषयक लेखों को खोजने का यत्न किया है। खोज मे प्राप्त लेखों की सूची अत में मैंने इसलिए दे दी है कि विद्वतजन उनका उपयोग करके बिहारी-विषयक अनुसधान को आगे बढाएँ। कुछ महत्वपूर्ण लेखो की सूचना इसमे छूट भी गई होगी, यदि भविष्य मे वह मिल सकी तो अगले संस्करण मे उसे देकर सूची को और भी प्रामाणिक बना सकूँगा।

इस कार्य मे श्री भुवनारायण मिश्र का योगदान मैं नहीं भूल सकता, जिन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा के में संग्रहीत पुरानी-नई पत्रिकाओं

से इस प्रकार के लेखों की सूची प्रस्तुत करने के कार्य मे अपना यथेष्ट सहयोग दिया था। लेखो की प्रतिलिपि करने में श्री हरिगोपाल शर्मा तथा उन्हे टंकित करने में श्री पुरुषोत्तम मालवीय का यथेष्ट सहयोग न मिला होता तो संकलन को इस रूप में प्रस्तुत न कर पाता। प्रूफ सम्बन्धी जटिलतर कार्य श्री विजय वर्मा ने किया है इसके लिए मै उनका आभारी हूँ।

अंत मे मैं विद्वानो और उन बन्धुओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूं, जिन्होंने मेरे आग्रह पर इस संकलन के लिए अपना लेख देने की अनुकम्पा की है। यह सकलन और भी प्रामाणिक बनाने की इच्छा थी, किन्तु अपरिहार्य कारणों से यह संभव न हो पाया। यदि विद्वतजगत और अध्ययनशील सतसई के अन्वेषको ने इस सकलन को अपनाया तो अगली बार और भी निखरे और प्रामाणिक रूप मे इसे प्रस्तुत कर सकूंगा। कुछ बन्धुओं के लेख ग्रन्थ के कलेवर की वृद्धि के कारण इस संग्रह में नही आ पाये हैं, उसके लिये मुझे खेद है, फिर भी अधिकांश महत्वपूर्ण सामग्री का समावेश इस संकलन में हो गया है। कुछ विषयो पर लेखो को आग्रह पूर्वक लिखाना पडा है, इस दृष्टि से मैं श्री किशोरीलाल, डा० शत्रुघ्न, डा० ललित शुक्ल, डा० केदारनाथ लाभ, डा० योगेन्द्र सिंह, श्री बैरन हालैंड, डा० भगवानदास तिवारी तथा डा० कमलेशदत्त त्रिपाठी का आभारी हूँ।

रामनवमी, २०२६ —हरिमोहन मालवीय

६१३, महामना मालवीय नगर
इलाहाबाद-२

विषय-सूची

बिहारी-सतसई सम्बन्धित सामग्री

● हरिमोहन मालवीय

बिहारी-सतसई ब्रज भाषा की सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य-कृति है। इसकी सहस्रो प्रतिलिपियाँ देश-विदेश के संग्रहालयों मे संग्रहीत है। कुछ प्रतिलिपियो में प्राचीन कलाकारो ने सुघड़ चित्राकन भी किया है।[१] ये चित्र कांगड़ा, बुन्देलखण्ड तथा राजपूत शैलियो के उत्कृष्ट नमूने है। बिहारी-सतसई सम्बन्धित साहित्य उसके मूल पाठ से प्रथक (१) टीकाओं (२) कुण्डलिया अथवा कवित्त के रूप मे पल्लवनों और (३) अनुवादो के रूप में मिलता है। ये अनुवाद अब तक संस्कृत, फारसी, बगला उर्दू और राजस्थानी में मिलते हैं। स्व० डा० अमरनाथ झा ने अँग्रेजी में सतसई का अनुवाद किया था, जो कि अब अप्राप्य है।

आधुनिक काल मे बिहारी सतसई पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं, किन्तु आलोचनात्मक निबन्धो के रूप मे सर्वाधिक चर्चा बिहारी सतसई पर ही हुई। सर्व प्रथम आलोचनात्मक निबन्ध श्री राधाचरण गोस्वामी का भारतेन्दु पत्रिका में जनवरी, सन् १८८६ में 'कविवर बिहारी का इतिवृत्त' नाम से प्रकाशित हुआ। देव-बिहारी विषयक विवाद के अतिरिक्त, पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा बिहारी की अतिरंजित प्रशंसा की प्रतिक्रिया स्वरूप भी संस्कृत विद्वानों के 'बिहारी की मौलिकता एवं अपहरण दोष' आदि पर अनेक निबन्ध प्रकाशित हुए। कालान्तर में प्रौढ़ आलोचनात्मक कृतियाँ प्रकाश में आईं।

बिहारी-सतसई पर प्रथम आलोचनात्मक पुस्तिका जून, १८६५ में 'कविवर बिहारी लाल' लिखी गई, जिसका तृतीय संस्करण सन् १९१८ में भी प्रकाशित हुआ। इसमें बाबू राधाकृष्ण दास ने बिहारी के जीवन के अतिरिक्त उनके काल की विशेषताओ पर प्रकाश डाला था। कालान्तर मे डा० रमाशंकर प्रसाद कृत 'संक्षिप्त बिहारी' इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुई। इसमें आलोचना के साथ-साथ टीका भी उपलब्ध है। सतसई पर सर्व प्रथम महत्वपूर्ण आलोचनात्मक ग्रन्थ पं० लोकनाथ द्विवेदी शिलाकारी द्वारा लिखित 'बिहारी दर्शन' सं० १९९३ वि० में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् हरदयालु सिंह ने सं० १९९७ में 'बिहारी-विभव' का प्रणयन किया। श्री कृष्ण बिहारी मिश्र कृत 'देव और बिहारी' तुलनात्मक आलोचना सम्बन्धी ग्रन्थ सं० १९७७ में प्रकाशित हुआ था। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र कृत 'बिहारी की वाग्विभूति' सं० २०१० में प्रकाशित हुई और बाद में आचार्य जी ने इसी अध्ययन के साथ शृंगार परम्परा का सुन्दर विवेचन जोड़ कर सुव्यवस्थित क्रम से सतसई के मूलपाठ सहित

'बिहारी' के रूप में प्रस्तुत किया। सन् १९४७ में डा० राम रतन भटनागर की पुस्तक 'बिहारी का एक अध्ययन' छात्रों के लिये लिखी गई। इसी प्रकार की पुस्तक श्री भारत भूषण सरोज की 'बिहारी' भी है। डा० हरवंश लाल शर्मा और श्री परमानन्द शास्त्री द्वारा लिखित 'बिहारी और उनका साहित्य' नवीन आलोचनात्मक शोधेतर प्रतिनिधि रचना है। डा० बच्चन सिंह ने नई दृष्टियों से सन् १९६४ में 'बिहारी का नया मूल्यांकन' प्रस्तुत किया। १९६६ में प्रो० उदय भानु हंस लिखित 'बिहारी की काव्य कला' आलोचनात्मक पुस्तक प्रकाशित हुई।

बिहारी-सतसई सम्बन्धित लेखो के अनेक सग्रह भी समय-समय पर प्रकाशित हुए है, इस दृष्टि से प० पद्मसिंह शर्मा, का 'सतसई सहार' सरस्वती के १९१० के अंको में प्रकाशित लेखो का संग्रह है। इसी भाँति 'बिहारी और देव' पुस्तिका मे 'श्री शारदा' जबलपुर-पत्रिका में प्रकाशित लाला भगवान दीन के लेखो का संकलन है। ये लेख उस पत्रिका मे अक्टूबर, सन् १९२१ से मई १९२२ तक क्रमश: छपे थे। रत्नाकर जी के संशोधित लेखो का संग्रह 'कविवर बिहारी' श्री राम कृष्ण के सपादकत्व मे सं० १९५३ मे प्रकाशित हुआ था। रत्नाकर जी के कुछ लेख 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के स० १९८४ तथा १९८६ के अंको मे छपे थे। डा० ओम्प्रकाश द्वारा संपादित 'बिहारी' विषयक लेखो का संग्रह १९६७ मे प्रकाशित हुआ है।

बिहारी-सतसई पर शोध कार्य का प्रारम्भ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने किया था। अब तक इस विषय पर कई शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत हो चुके हैं। डा० राम सागर त्रिपाठी का 'मुक्तक काव्य-परम्परा और बिहारी' शोध-प्रबन्ध सन् १९६० मे स्वीकृत हुआ था। यह दो रूपों में प्रकाशित हुआ है, एक शोध-प्रबन्ध के रूप में (१) मुक्तक काव्य-परम्परा और बिहारी तथा (२) 'बिहारी मीमासा'। बिहारी मीमांसा मे प्रथम पुस्तक का ही एक अंश समाविष्ट है। डा० गणपति चन्द्र गुप्त का 'शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी', डा० रणधीर सिन्हा का 'कविवर बिहारी लाल और उनका युग,' अन्य प्रकाशित शोध-प्रबन्ध हैं। डा० रामकुमारी मिश्र कृत 'बिहारी का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन' महत्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध है, इसमें 'बिहारी रत्नाकर' के पश्चात् अनेकों पाण्डुलिपियों के आधार पर प्रमाणिक पाठ भी दिया गया है। अनेक शोधार्थी आज भी बिहारी-सतसई से सम्बन्धित विषयो पर कार्य कर रहे है।

बिहारी सतसई का टीका साहित्य :

बिहारी-सतसई पर विपुल टीका-साहित्य रचा गया। यह दो रूपो में प्राप्त है (१) हस्तलेख और (२) मुद्रित। हस्तलिखित टीकाएँ कुछ पूर्ण प्राप्त हैं और कुछ अपूर्ण। इनका विवरण क्रमश: नीचे दिया जा रहा है :

१—वृन्दराय की टीका :

रत्नाकर जी ने कल्पना से इसके टीकाकार का नाम कृष्ण लाल लिखा है किन्तु

वास्तव में इसकी एक प्रति के छन्द में वृन्दराय का उल्लेख मिलता है, कृष्ण लाल नाम टीका की किसी भी प्रतिलिपि में नहीं मिलता। जोधपुर की एक प्रतिलिपि में लिखा है :

कहै कवि वृंदराय छिनहूँ न छोड्यौ जाय।
दोहरों बिहारी को सिहारी को मंत्र है ।।

टीका का रचना काल सं० १७१६ है :

सम्वत् ग्रह ससि जलधि छठि तिथि वासर चंद।
चैतमास पद कृष्ण मैं पूरन आनन्द कंद ।। (७१४)

विद्वानो ने भ्रमवश इस तिथि को सतसई का रचना काल समझ लिया था, यह टीका प्राचीन राजस्थानी व्रज भाषा में है।

२—मानसिंह विजयगढ़ की टीका :

यह टीका कब लिखी गई इस पर विवाद है ? डा० मोती लाल मेनारिया ने रत्नाकर जी द्वारा स्वीकृत तिथि स० १७३४ के स्थान पर सं० १७७० को टीका का रचनाकाल माना है। इसमें प्राचीन ब्रज भाषा गद्य मे छन्दो का अर्थ दिया गया है।

३—अनवर चन्द्रिका :

शुभकरण कवि ने सं० १७७१ में आश्रयदाता अनवर खाँ के नाम से इस टीका की रचना की थी। इस टीका का क्रम काव्य-शास्त्रीय आधार पर रस और नायक-नायिका भेदानुसार रखा गया है। टीकाकार ने छन्दो के अर्थ न देकर केवल काव्य-शास्त्रीय उल्लेख के साथ वक्ता-बोधव्य, अलंकार, ध्वनि, और 'नायक-नायिका भेद तथा रस सम्बन्धित उल्लेख किया है, कही-कही काव्य-दूषणों की ओर भी संकेत है।

४—अमर चन्द्रिका :

सुप्रसिद्ध काव्य-शास्त्री सूरति मिश्र ने सं० १७९४ में इस टीका का प्रणयन किया था। यह टीका जोधपुर नरेश अभयसिंह के सचिव अमरसिंह के लिए लिखी गई थी। विद्वान टीकाकार ने गद्य-पद्य में टीका की है, किन्तु अधिकांश भाग कविता मे है। अर्थ के स्पष्टीकरण के अतिरिक्त इस टीका मे अलंकार आदि पर प्रश्नोत्तर करते हुए विचार किया गया है।

५—रस चन्द्रिका टीका :

ईसवी खाँ ने नरवर गढ के नृपति छत्रसिंह की प्रेरणा से सं० १८०९ वि० में रस चन्द्रिका टीका का प्रणयन किया था। टीका अकारादि क्रम में है। कुछ स्थलो पर अर्थ के के साथ-साथ सर्वत्र टीका में नायक-नायिका भेद एवं

सम्बन्धी लक्षणों का उल्लेख है। कुछ छन्दों में केवल अलंकारों का ही निर्देश टीकाकार ने किया है।

६—अमृत लाल की टीका :

अकारादि क्रम पर बनी इस टीका मे भी 'अनवर चंद्रिका' की भाँति काव्य शास्त्रीय लक्षणो का संकेत है। टीका में अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। इसकी सं० १८२४ की एक प्रति प्राप्त है जिसमें टीका काल का उल्लेख नही है।

७—प्रताप चन्द्रिका :

यह टीका सं० १८४२ में मनीराम कवि द्वारा जयपुर नरेश प्रतापसिंह के संरक्षण में लिखी गई थी। टीकाकार ने टीका के प्रणयन में अमर चन्द्रिका एवं अनवर चन्द्रिका टीकाओं का सहारा लिया था।

८—रणछोड़ राय दीवान की टीका :

अनवर चन्द्रिका के क्रम पर बनी यह टीका सं० १९८४ में पूर्ण हुई। इसके टीकाकार रणछोड़ जी जूनागढ़ के दीवान थे। टीकाकार ने बिहारी के छन्दों के अनेक अर्थ किए हैं।

९—सतसैया-वर्णार्थ :

असनी के ठाकुर द्वारा सं० १८६१ में यह टीका सविस्तार लिखी गई थी। टीकाकार ने विस्तार के साथ अर्थ-सम्बन्धी समस्याओं पर प्रश्नोत्तर रूप में विचार किया है और छन्दों के अनेक अर्थ भी किए हैं।

१०—हरिरम्य त्रिवेनी टीका :

कपूरथला (पंजाब) के महाराज फतेहसिंह के यहाँ यह टीका कविराय ने लिखी थी। अब तक प्राप्त टीकाओं में यही टीका सबसे विस्तृत है, किन्तु खेद है कि इसकी पूर्ण प्रति प्राप्त नहीं है।

११—'बिहारी सतसैया' टीका :

इस टीका को रत्नाकर जी ने कर्ण कवि (पन्ना) कृत साहित्य-चन्द्रिका माना था, किन्तु खोज विवरण मे उल्लिखित साहित्य-चन्द्रिका के प्रारम्भिक छन्दों का मिलान करने पर ज्ञात होता है कि यह टीका पृथक् है। उसका टीकाकार संभवतः शिव राम है और रचनाकाल है सं० १८८१। बिहारी के सम्पूर्ण छन्दों पर सुविचारित गद्य मे इसमें अर्थ लिखा गया है। टीका अनवर चंद्रिका के क्रम पर है।

१२—श्रुत बोधाख्या संस्कृत टीका :

यह टीका नान्हा व्यास द्वारा लिखी गई थी। इसकी प्राप्त प्रतिलिपि का रचना काल सं० १८०५ वि० है।

१३—गुजराती टीका :

ज्योति रत्न मुनि लिखित गुजराती टीका सं० १७९३ में निर्मित हुई थी। टीकाकार श्री भावप्रभ सूरीश्वर का शिष्य जैन साधु था।

१४—वीरचन्द्र शिष्य परमानन्द कृत संस्कृत टीका :

यह टीका सं० १८६० वि० में बीकानेर में लिखी गई थी। टीकाकार ने सतसई के छन्दो को संस्कृत भावार्थ के साथ दिया है।

१५—नवदीपिका टीका :

बिहारी-सतसई की यह एक खण्डित टीका राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान में प्राप्त है, जिसमें भावार्थ स्पष्ट किया गया है।

१६—साहित्य चंद्रिका :

यह कर्ण कवि (पन्ना) द्वारा लिखित टीका है। शिवसिंह सरोज में राजा छत्रसिंह जी हृदयशाही पन्ना नरेश की आज्ञानुसार साहित्य चन्द्रिका का सं० १७९४ मे रचा जाना बतलाया गया है।

१७—श्रीभानु प्रताप तिवारी लिखित 'बिहारी सतसई' की खड़ी बोली गद्य में लिखित टीका की खंडित प्रति चुनार मे प्राप्त हुई है। टीका में काव्यांगो की चर्चा नही है। साथ में कवित्त भी दिये हुए हैं। मिश्र बंधु विनोद में इस टीका की चर्चा २५२१ अंक पर है।

बिहारी सतसई की मुद्रित टीकाएँ :

बिहारी सतसई पर अनेक टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं उनकी सूची प्रस्तुत है :

		टीकाकार	प्रकाशित
१—लाल चंद्रिका	टीका	लालू जी लाल	सन् १८९२
२—हरि प्रकाश	,,	हरिचरण दास	,, १८९२
३—बिहारी सतसई	,,	प्रभु दयाल पाण्डेय	संवत् १९५३
४—भावार्थ प्रकाशिका	,,	पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र	,, १९८८
५—सजीवन भाष्य	,,	पं० पद्मसिंह शर्मा	,, १९७९
६—बिहारी बोधिनी	,,	लाला भगवान दीन	,, १९७८
७—भावार्थ प्रकाशिका	,,	सविता नारायण	
(गुजराती)		गणपति नारायण	सन् १९१३
८—बिहारी सतसई	,,	श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी	संवत् १९८२
९—बिहारी रत्नाकर	,,	जगन्नाथ दास रत्नाकर	सन् १९२५
१०—बिहारी सतसई	,,	विद्याभास्कर शुक्ल	,, १९३४
११— ,, ,,	,,	लक्ष्मी निधि चतुर्वेदी	सं० २०००

	टीकाकार	प्रकाशित
१२—बिहारी सतसई टीका	जगदीश चन्द्र शुक्ल	सन् १९५१
१३— „ „ „	देवेन्द्र शर्मा इन्द्र	„ १९५८
१४— „ „ „	पन्नालाल श्रीवास्तव	„ १९५५
१५— „ „ „	प्रो० विराज	„ १९६२
१६— „ „ „	डा० गणपति चन्द्रगुप्त	„ १९६२
१७—बिहारी कवि और काव्य	हरेन्द्र प्रताप सिनहा और डा० जगदीश श्रीवास्तव	„ १९६३

गुटका टीकाएँ :

	टीकाकार	
१—बिहारी सतसई	हरदयाल	सन् १८७६ ई०
२—बिहारी सुधा	डा० श्याम बिहारी मिश्र	
३—बिहारी संग्रह	वियोगी हरि	
४—बिहारी वैभव	कमला देवी गर्ग	सम्वत् १९५३
५—संक्षिप्त बिहारी	डा० रमाशंकर प्रसाद	

अप्राप्त टीकाएँ

बिहारी सतसई पर लिखी गई अनेक टीकाओं की सूचना शिव सिंह सरोज, 'मिश्र बन्धु विनोद' हिन्दी-साहित्य के इतिहास आदि ग्रन्थों में तो मिलती है, किन्तु अब तक वे साहित्य संसार से ओझल हैं। इस प्रकार की टीकाएँ निम्नलिखित हैं :

१—चरण दास की टीका :

इसका उल्लेख मिश्र बन्धु विनोद मे ५२९ अंक पर है। चरण दास ने (१) 'नेह-प्रकाशिका' (रचनाकाल सं० १७४९) तथा (२) बिहारी सतसई की टीका, दो ग्रन्थ लिखे थे।

२—राजा गोपाल शरण की टीका :

शिवसिंह सरोज में राजा गोपाल शरण कृत 'प्रबन्ध घटना' टीका का उल्लेख है, जो संवत् १७७५ में विद्यमान थे। मिश्र बंधु विनोद में इनका जन्म-काल सं० १७४८ तथा कविता काल स० १७७५ लिखा है। उनके अनुसार इनके तीन ग्रंथ थे (१) प्रबन्ध घटना (२) सतसई की टीका तथा (३) पद । प्रबन्ध घटना ही सतसई की टीका है अथवा वह पृथक् ग्रंथ है इसका निर्णय अभी तक नहीं किया जा सका है।

३—रघुनाथ बन्दीजन की टीका :

काशीराज वरिबंड सिंह के दरबारी कवि रघुनाथ बन्दीजन कृत बिहारी सतसई

की टीका की कोई प्रति अभी तक प्राप्त नहीं है। बंदीजन का उपस्थिति काल सं० १८०२ है। रघुनाथ बंदीजन के रचित ग्रंथ हैं (१) काव्य कलाधार (२) रसिक मोहन या जगत मोहन (३) इश्क महोत्सव।

४—लालकवि बन्दीजन कृत 'लाल चन्द्रिका' :

शिव सिंह सरोज ने काशीवासी लाल कवि बंदीजन की इस टीका का उल्लेख किया है, जो महाराज चेतसिंह की सभा के कवि थे। इनका उपस्थिति काल सं० १८३२ माना गया है। इनकी कृति 'आनन्द रस' का उल्लेख शिवसिंह ने भी किया है। लल्लू जी लाल कृत 'लाल चंद्रिका' से पृथक इस टीका का कोई भी अस्तित्व प्रतीत नही होता। न जाने किस प्रकार लल्लू जी लाल 'लालकवि' की टीका के साथ लाल कवि बंदीजन नाम जुड़ गया।

५—अमर सिंह कायस्थ कृत अमर चंद्रिका टीका :

मिश्र बंधु विनोद में दिए गए अंक १०५८ के अनुसार छतरपुर के कुंवर सोनेशाह से दीवान अमर सिंह ने बिहारी की गद्य-पद्य में अमर चंद्रिका टीका बनाई थी। इनके रचित अन्य ग्रंथ हैं (१) सुदामा चरित और (२) राग माला।

६—महाराज मानसिंह (जोधपुर) की टीका :

मिश्र बंधु विनोद मे १९५५ अंक पर महाराजा मानसिंह (जोधपुर) को भी बिहारी सतसई का टीकाकार लिखा है। आप रचित १८ ग्रन्थ गिनाए जाते हैं।

७—राम जू की टीका :

मिश्र बंधु विनोद में १९८४ अंक पर राम जू की बिहारी सतसई विषयक टीका का उल्लेख प्राप्त होता है। इनका कविता काल सं० १९०१ के पूर्व है।

८—सरदार कवि की टीका :

काशीराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह के दरबारी कवि सरदार कृत टीका रत्नाकर जी के पास थी। अब इसकी वह प्रति भी नष्ट हो गई है जिसके प्रतिलिपि कार नारायणदास कवि थे। सरदार कवि रचित अनेक टीकाएँ प्रकाशित हुईं किन्तु बिहारी-सतसई की यह महत्वपूर्ण टीका इससे वंचित रह गई। सरदार कवि का उपस्थिति काल सं० १९४० वि० है।

९—गदाधर कृत टीका :

इस टीका के कुछ पृष्ठ स्व० रत्नाकर जी को जयपुर से प्राप्त हुए थे गदाधर सुकवि पद्माकर के वंशज थे।

१०—धनंजय कृत टीका

इसका उल्लेख "रस कौमुदी" में कवि ने किया है।

११—अयोध्या प्रसाद की टीका :

कुलपति मिश्र के वंशज अयोध्या प्रसाद ने एक बृहद् टीका का निर्माण किया था किन्तु यह टीका प्रकाशित न हो पाई और लुप्त हो गई।

१२—राम बक्स की टीका :

शिवसिंह सरोज मे इनके दो ग्रन्थो का उल्लेख किया गया है। (१) रस सागर (२) बिहारी सतसई की टीका। सेंगर के अनुसार इनकी बनाई हुई बिहारी-सतसई की टीका बहुत सुन्दर थी।

१३—वैद्यक टीका .

'बिहारी बिहार' की भूमिका में पं० अंबिकादत्त व्यास ने छोटूराम कृत वैद्यक टीका का उल्लेख किया है।

ऊपर वर्णित टीकाओं के अतिरिक्त (१) कुलपति मिश्र (२) उमेदराम (३) सूर्यमल्ल, (४) धनीराम (५) हरिप्रसाद (कृत संस्कृत टीका) (६) समरथ कवि तथा (७) माधवेश आदि की टीकाओं का भी नामोल्लेख मिलता है। समरथ कवि का उल्लेख पूरण चन्द्र नाहर ने 'प्रबन्धावली' मे तथा माधवेश कवि का उल्लेख स्व० ललिता प्रसाद जी सुकुल ने 'सम्मेलन-पत्रिका' के पौष शुक्ल सम्वत् २०११ के अंक में किया है। इसके अतिरिक्त साधु बाला उदासीन की एक टीका का उल्लेख मिलता है किन्तु अब वह टीका भी लुप्त प्राय है।

कुण्डलिया साहित्य

बिहारी सतसई पर कुण्डलिया निर्माण की एक परम्परा चल पडी थी। इसको विद्वानों ने टीका के अन्तर्गत माना है। स्वयं कुण्डलिया कार भी अपनी कृति को टीका मानते थे, किन्तु इस साहित्य में अर्थ स्पष्टीकरण का कोई प्रयास नही किया गया है। कवियों ने बिहारी के दोहों को आधार बनाकर अपनी कल्पना शक्ति से भावो का पल्लवन किया है। समस्यापूर्ति-साहित्य की भाँति कवियों ने विषय या शीर्षक के स्थान पर बिहारी के छन्दों के आधार पर काव्य सृजन किया है। केवल बिहारी सुमेर में पूरी कुण्डलियो के अर्थ भी दिए गए है, जिसमें कुण्डलियों के सन्दर्भ में बिहारी के छंदों के अर्थ का स्पष्टीकरण भी कुछ अंश मे हुआ है। वास्तव में बिहारी सतसई की लोकप्रियता के कारण इसका शृंगार करने की एक कवित्व-मय विद्या का जन्म हुआ। इस माध्यम से प्रतिभा सम्पन्न कवियों ने बिहारी-सतसई का शृंगार किया था। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस शैली की कृति को पल्लवन कहा है। वास्तव मे यही संज्ञा सर्वोपयुक्त है। सतसई पर रचित कुण्डलिया साहित्य की प्राप्त कृतियाँ है

(१) जुल्फिकार अली की कुण्डलियाँ :

संवत् १६०३ में यह ग्रन्थ लिखा गया था। इसकी कुण्डलियों का एक नमूना प्रस्तुत है :

पत्रा ही तिथि पाइयें वा घर के चहुँपास ।
नित्य प्रति पूनौई रहत आनन ओप उजास ।।
आनन ओप उजास चंद दुति सबरे मानत ।
दोज तीज कौ भेद सकल जोतिष ते जानत ।।
दोज तीज तिथि भेद एक हूँ होत न तत्रा ।
पूनौई कत इतै गनक देषत हैं पत्रा ।। (१०३)

(२) बिहारी सुमेर :

बिहारी सुमेर की खंडित प्रति मुझे पटियाला में श्री शमशेर सिंह 'अशोक' से प्राप्त हुई थी, किन्तु खेद है कि वह प्राप्त मुद्रित प्रति अपूर्ण थी। बाबा सुमेर सिंह पटना संगत के हरि मंदिर साहब के महत थे। इनकी कुण्डलियाँ उत्कृष्ट एवं कवित्व पूर्ण हैं :

नव नागरि तन मुलुक लहि जो बन अमिल जोर ।
घट बढ ते बढ़ रकम करी और की और ।।
करी और की और भिसल नूतन निरधारी ।
कानन लौ कर नयन हीन पट छुट कटि डारी ।।
कुचन उच्चता को परवानौ दिये सुकवि जब ।
चंचल गतिहि निकास लखी नहि जात जुगत नव ।।

बिहारी सुमेर मे कुण्डलियो का अर्थ एवं दोहो का पिंगलानुराग भेद भी दिया गया है।

(३) बिहारी-बिहार :

पं० अम्बिका दत्त व्यास रचित यह ग्रन्थ संवत् १६५५ मे प्रकाशित हुआ था। 'बिहारी-बिहार' के प्रकाशन के बाद इसकी हिन्दी-जगत में खूब धूम थी। 'सुकवि' उपनाम से व्यास जी ने इसमें अपने कवित्व का प्रदर्शन किया है, कई स्थलों पर आपने तीन, चार अथवा पाँच कुण्डलियो तक का सृजन किया है। व्यास जी के कवित्व का स्वरूप निर्दशित करने के लिये एक कुंडलिया प्रस्तुत है :

जगत जनायो जिन सकल सो हरि जान्यो नाहि ।
ज्यों आँखिन सब देखियत आँखि न देखी जाहि ।।
आँखि न देखी जाहि जात अनुभव सों जानी ।
इन बिन कोउ न होत सितासित रंग को ज्ञानी

ज्ञात रूप हरि बिना कहो किमि अनुभव आयो ।
या सों सोई गहहु 'सुकवि' सोइ जगत जनायो ।। (२६)

(४) सतसई-शृङ्गार :

भारतेन्दु रचित बिहारी-सतसई के छन्दों पर कुछ कुण्डलियाँ हरिश्चन्द्र चंद्रिका में सन् १८७५ ई० के अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुई थीं। 'सतसई शृंगार' की एक कुण्डलिया इस प्रकार है :

नभ लाली आली भई चटकाली धुनि कौन ।
रतिपाली आली अनत आए बन माली न ।।
आए बन माली न करी ससि बहुत कुचाली ।
काली व्याली रैन विरह घाली जियमाली ।।
बाली दीपक जोति मन्द भइ प्रति न पाली ।
राली हाली औध भई खाली नभ लाली ।।

इनके अतिरिक्त कुछ बिहारी सतसई विषयक कुण्डलिया साहित्य अब अप्राप्य है।

(१) चन्द कवि अथवा पठान सुल्तान की कुण्डलिया :

पठान सुल्तान की कुण्डलिया नाम से लिखित यह कृति चन्द कवि की है, ऐसा शिव सिंह सरोज में वर्णित है। ये मालवा के रहने वाले थे। इनकी कुण्डलिया के पाँच उदाहरण 'बिहारी बिहार' मे दिए गए हैं, जिसमे से एक उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत है :

भूषन भार संभारिहै क्यों इहि तनु सुकुमार ।
सूधे पाइ न धर प रैं सोभा ही कैं भार ।।
सोभा ही कैं भार चलत लचकनि कटि खीनी ।
देख्यौ अनिलु उड़ाइ जौ न होती कुच पीनी ।।
कह पठान सुलतान तासु अंग अंग अदूषन ।
नरी किन्नरी सुरी आदि तिय कौतिय भूषन ।। (५)

(२) ईश्वरी प्रसाद कायस्थ की कुण्डलिया :

मिश्र बन्धु विनोद अक २०२५ मे कन्नौज वासी इस कवि की कुण्डलिया का उल्लेख है। आपका जन्मकाल १८८६ और कविता काल सं० १९१० बताया गया है।

(३) उप सतसइया :

इसके रचयिता गंगाधर का उल्लेख शिवसिंह सरोज में किया गया है। छंद मत्स्यवन का एक उदाहरण प्रस्तुत है :

तजि तीरथ हरि राधिका तन दुति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज केलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग ।।
पग पग होत प्रयाग सितासित जावक लागे।
गंगा जमुना सरस्वती लज्जित तिन आगे ।।
रस अनुराग सिंगार प्रेम के बरन चरन भजि।
ब्रज निकुंज मग लेहि परयो रज सब तीरथ तजि ।।(२)

(४) जोखू लाल पंडा की कुण्डलिया :

ये काशी वासी और बाबू हरिश्चन्द्र की कवि सभा के सदस्य थे। इन्होंने भी कुछ कुंडलियों का प्रणयन किया था, किन्तु उनमे विशेष कला सौष्ठव का अभाव था।

कवित्त सवैया साहित्य

कुण्डलिया की ही भाँति बिहारी के दोहों के आधार पर कवित्त सवैया छन्दों का भी प्रणयन अनेक काव्यकारों ने किया था। यह बिहारी-विषयक काव्यमय सामग्री सतसई के भावों के स्पष्टीकरण में भी कई अंशो में सहायक होती है, क्योंकि बिहारी की सामासिक एवं संक्षिप्त-शब्दावली से इन छन्दों में कुछ अधिक व्यापक अवसर भावों को प्रकट करने के लिये मिलता है। बिहारी सतसई के माधुर्य से पुष्ट ये कविताएँ निश्चित ही सतसई का सुगढ़ शृंगार करती हैं। बिहारी-सतसई पर रचा गया इस प्रकार का काव्यमय निम्नलिखित साहित्य प्राप्त है :

(१) बिहारी सतसई पर कृष्ण कवि के कवित्त सवैये :

बिहारी सतसई पर सर्व-प्रथम कवित्त सवैया छन्द में भाव बिस्तार करने का श्रेय कृष्ण कवि को है जिसने इस कृति का प्रणयन कार्य सम्वत् १७८२ में सम्पन्न किया था। कृष्ण कवि के उच्चकोटि के काव्य-ज्ञान का यह ग्रन्थ प्रमाण है। कवि ने पिंगल शास्त्र के अनुसार सतसई में प्रयुक्त दोहा छंद के उपभेदों की ओर संकेत कर दिया है। इसके कृतिकार का नाम राधाकृष्ण और कृष्णदास भी, हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है। इस ग्रन्थ में पहले गद्य मे वक्ता-बोधक दे दिया गया है। कृष्ण कवि की कविता निश्चित ही उच्चकोटि की है। यथा :

सुनत पथिक मुह माह निसि लुवे चलत उहि गांम।
बिनु पूछें बिनु ही सुने जियति बिचारी बाम। (४३१)

टीका: यह नाइका प्रेषित पति का विदेश मे पथिक के सुख की बात सुनि नाइक नै अट करतैं या की दसा जानि सखी कौ बचनु सखी सौं :

सीत समैं हू की राति मैं लुवै चले उहि देसहु तासन सानी।
आपु समैं उतरात बटोही अचानक कांन परी यह बांनी ।।

छाँड़ि दयै सब काज विदेसी को बुद्धि तही घर कौ अकुलानी ।
प्रान पियारी की आई गई सुधि जीवति है तिय मैं यह जानी ।(४३)

(२) ईश्वर कवि कृत सवैया :

ईश्वर कवि ने संवत् १६६१ में मनोहर सिंह के अनुरोध से सवैया छंद बिहारी सतसई के छंदो के भावों को गुफित किया था । आप धौलपुर के निवार और मानिक राम के पुत्र थे । बिहारी के दोहे पर रचित एक सवैया प्रस्तुत है ।

दुसह दुराज प्रजानि कौ क्यों न बढ़ै दुष दंद ।
अधिक अंधेरो जग करत मिलि मावस रवि चन्द । (६८०)

आषिन मैं इत रूप बस्यौ फिरि दूसरौ रूप न रूप लसै ते ।
ईश्वर गेह मझार रहै जुवती जिमि दूसरी मानि गसै ते ।।
तैसे दुराज प्रजानि कौ दुख सुन्यौ न बढ़ै अरि जाल हसै ते ।
पावस कौ अंधियारौ बढ़ै बहु सूरज चन्द्रमा पास बसे ते ।।

(३) बंशराज कृत रस चन्द्रिका :

यह ग्रन्थ संवत् १८२५ मे लिखा गया था । इसके कृतिकार हंसराज त्रिपाठी, बुलाकी राम शर्मा के पुत्र थे । इनकी कविता का एक नमूना प्रस्तुत है :

चितई लल चौहैं चषनि डटि घूंघट पर मांह ।
छल सौं चली छुआइ कै छिनक छबीली छाँह ।।

कवित्त :

गोप कदंब मिले हरिवंश सो खेलत आनंद अग भरे हैं ।
जात हुती व्रिषभान लली संग गोपिन के कहू गोप धरे हैं ।
कै ललचौहई वैन दुहूँ डटि घूंघट माह सो हेरि हरे हैं ।
लै छल सौं तन के निज छांह सो छवाइ लली चलि जात घरे हैं ।।

(४) रस-कौमुदी :

बाबा जानकी प्रसाद रसिक बिहारी ने सन् १८८५ में इस ग्रंथ को प्रकाशित किया था । इसकी रचना सं० १६२७ मे हुई थी । रस कौमुदी से एक उदाहरण प्रस्तुत है :

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगो इतो उदोत
बंक बकारी देत ज्यो दाम रुपैया होत (२४)

रीत रची बिपरीत दुहूँ सु अनंग उमंग भरे सुख पैया ।
ढीली छबीली की बेंदी परी सब अंक छके रति की सरसैया ।।
छूटत ही मुख पै लटकै दुति बाढी हुती मिलि कै कुटिलैया ।
येकहि बंक बकारी दिये रसिकेश ज्यों होत है दाम रुपैया ।।

बिहारी सतसई के अनुवाद

बिहारी सतसई के अनुवाद संस्कृत, फारसी, उर्दू, राजस्थानी, बंगाली और पंजाबी भाषा मे किए गए हैं। इस अनुवाद के अतिरिक्त गुजराती मे दो टीकाएँ प्राप्त होती हैं जिन्हें टीकाओ के प्रसंग मे रखा गया है। परमानन्द कृत शृङ्गार सप्तशती में अनुवाद और संस्कृत टीका दोनों हैं, उसे अनुवाद में मैंने रखा है, किन्तु वह कृति टीका साहित्य के साथ निःसंकोच रखी जा सकती है। इसी भाँति फारसी का अनुवाद टीका की कोटि मे भी आ सकता है। नीचे हम विविध अनुवादों की चर्चा करेंगे।

संस्कृत अनुवाद

१—शृङ्गार सप्तशती :

बृज चन्द के पुत्र परमानन्द कृत यह ग्रन्थ सम्वत् १९३० में विद्योदय प्रेस, छापाखाना बनारस से प्रकाशित हुआ था। ग्रंथ रचना काल स० १९२५ है। पं० परमानन्द ने अनुवाद के साथ-साथ विस्तार से अर्थ भी किया है। यहाँ बिहारी सतसई के प्रथम छन्द का अनुवाद प्रस्तुत है :

अपनय भव बाधाभयं राधे त्वं कुशलासि।
हरि रपि धरति हरिद्युति यदि माधवमुपयासि ।।

२—आर्यागुम्फ (१) :

रत्नाकर जी के एक आर्यागुम्फ का उल्लेख कविवर बिहारी (पृ० २९७) में किया है जिसके रचयिता काशीराज चेत सिंह के दरबारी कवि पं० हरि प्रसाद थे। इसकी रचना सम्वत् १८३७ में हुई थी। उसमे बिहारी के प्रथम दोहे का अनुवाद इस भाँति है :

सा राधा भव बाधां विविधामपहरतु नागरिकी।
यस्यास्तुन तनुकान्त्या कान्ता श्यामो हरिर्भवति ।।

३—आर्यागुम्फ (२) :

कृष्ण कवि के कवित्त के साथ 'संस्कृत आर्यागुम्फ' की एक प्रति सरस्वती भण्डार राम नगर मे प्राप्त है, आर्यागुम्फ का एक भाग हाशिए पर लिखा गया है। इसमें आर्या छन्द मे अनुवाद और अर्थ दोनो हैं। यथा :

मम् भव बाधां हरतां नूनं सा नागरि राधा।
यत्प्रतिनिवे बपुश्यामो हरिद्युतिर्भवति ।।

"मेरी ति सा राधा नाम्नी नागरी रात्रा नाम्नी नायिका मम भव बांधां संसार दुखं अधिभौतिकादि क्लेश हरतु।" आदि,

स्व० भट्ट मथुरा नाथ शास्त्री कृत अनुवाद

स्व० भट्ट जी के ग्रन्थ 'साहित्य वैभवम्' में 'बिहारी विलास' शीर्षक के अन्तर्गत बिहारी सतसई के छन्दों का संस्कृत अनुवाद दिया गया है। यही सामग्री गीता-प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'गोविन्द वैभवम्' में भी समाविष्ट की गई है। उदाहरण स्वरूप एक अनुवाद और संस्कृत अर्थ प्रस्तुत है :

लोपे कोप इन्द्र लौं रोपे प्रलय अकाल।
गिरि धारी राखे सबै गो गोपी गोपाल॥

प्रलयरोपिकोपाव्रतं पुरूहुतं प्रलुलोप।
गोगोपीगोपालकान् गिरिधर एवं जुगोप॥२१॥

प्रलयं रोपयति करोति इदृशेन क्रोधेन आवृतम् लुलोप लुप्तमकरोत् पराजित्य द्रावयाभास। लौदादिकाल्लुम्पतेलिर्ट्। गिरि सदृश दुरूद्धरं धृत्वापि रक्षेति गिरिधरं पदेन सूच्यते। ततश्च भक्तवत्सलः सर्व-समर्थश्च स एव सर्वात्मना सेव्य इति चरमं ध्वन्ते।

फारसी अनुवाद

सफरंगे-सतसई :

जोशी आनन्दी लाल शर्मा ने सफरंगे-सतसई नाम से फारसी अनुवाद सन् १८६३ में तैयार किया था। आप का यह अनुवाद प्रकाशित भी हुआ है। सफरंगे सतसई में बिहारी के ६४० दोहों का अनुवाद है।

उर्दू अनुवाद

'गुल्जारे बिहारी' :

अमर पत्रिका के (सम्वत् १९७६ के अंक १ से ११ तक) में बरेली निवासी श्री मदन लाल दाना का बिहारी सतसई के ६० दोहो का उर्दू अनुवाद प्रकाशित हुआ था। श्री दाना ने बिहारी के काव्य की प्रशंसा बड़े भावात्मक ढङ्ग से की है। दाना कृत एक अनुवाद प्रस्तुत है :

सरपटाति सैं ससिमुखी मुख घूंघट पट ढांकि।
पावक सर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि॥

बरंग शोला रौजन से गई वह झाँक कर फौरन।
छिपा कर भाव वश घूंघट से अपने रूए रोशन को॥

गुलदस्तए बिहारी :

मुंशी देवी प्रसाद प्रीतम ने भी बिहारी सतसई के छन्दों के उर्दू अनुवाद सन् १९०४ में कायस्थ हितकारी पत्र मे प्रकाशित किए थे, तत्पश्चात् सम्पूर्ण अनुवाद

सं० १६८१ वि० में साहित्य सेवा सदन से 'गुलदस्तए बिहारी' नाम से प्रकाशित हुआ।
उर्दू अनुवाद और छन्द प्रस्तुत है :

मिलि परछांही जौन्ह सों रहे दुहुनि के गात।
हरि राधा इक संग ही चले गली में जात॥

छिपे महताबो साया में प्रिया प्रीतम के तन हिलिमिल।
चले जाते हैं ब्रज गलियों रही है चाँदनी सी खिल॥

जज़बाते मशरिक में बिहारी के दोहों के उर्दू में अर्थ :

उर्दू समाचार पत्र रियासत के सम्पादक सरदार दीवान सिंह मफ़तून ने जज़बाते मशरिक मे अन्य कवियो के समक्ष बिहारी के दोहो का उर्दू में भावार्थ प्रस्तुत किया है। यह भावार्थ आपने १६३७ मे नागपुर कारावास में लिखा था। एक उदाहरण 'जज़बाते मशरिक' से प्रस्तुत है :

सुरंगु महावरु सौत पग निरख रही अनखाइ।
पिय अंगुरिनु लाली लखैं खरी उठी लगिलाइ॥

गुस्सा और नाराज़ी से बेचैन हो रही थी और ख्याल आ रहा था कि अब शौहर सौतन के इन खूबसूरत पावों को पसद करेगे। तो देखा कि शौहर की उँगली भी मेंहदी से लाल रंगी हुई है। हसद (ईर्षा) की आग से कबाब हो गई कि हाय सौतन के पाँव को मेंहदी लगाई थी शौहर ने अपने हाथों से।

सतसई के छन्दों पर गजलें :

डा० हरवंश राय बच्चन ने सूचित किया है कि श्री सोहनलाल श्रीवास्तव ने बिहारी सतसई के छन्दो पर गजलो का निर्माण किया था, जो प्रकाशित भी हुई थी किन्तु यह कृति अभी तक मुझे प्राप्त नही हुई है।

बंगला-अनुवादक :

बंगला के सुप्रसिद्ध साहित्यिक श्री सोमेन्द्र नाथ ठाकुर ने बिहारी सतसई के १०० छन्दों का बंगला में पद्यात्मक अनुवाद किया है। आपने सतसई का अध्ययन सन् १६४४ मे फतेहगढ और लखनऊ जेल में किया था। फलस्वरूप १६४५ में दमदम जेल मे इसका अनुवाद कार्य पूर्ण किया। अनुवादित एक छन्द प्रस्तुत है :

जुवति जौनह मैं मिलि गई नेक न होति लखाइ।
सौंधे कै डोरें लगी अली चली संग जाइ॥

ज्योत्सनार साथे अंगे अंगे मिशे गेछे अभिसारिका।
अलख होइया पथचले केह दृष्टि नाहि को होने॥
देह परिमल अनुसरी साथे चले सखी परिचारिका।
भ्रमर जे मन धाय फूलपने अजस्र गंध टेने॥

राजस्थानी-रूपान्तर :

राजस्थान मेवाड के कवि मोहन सिंह (जन्म सं० १९५६) ने बिहारी-सतसई के कुछ छन्दों का राजस्थानी में अनुवाद किया है। एक छन्द का राजस्थानी अनुवाद अथवा रूपान्तर इस प्रकार है :

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योही रहत आनन ओप उजास॥
पतड़ां मिलवे मत्तड़ी, ऊए भूँपड़ले वाट।
पून्यू दातड़-दीहड़े मुखड़ा रै भरलाट॥

पंजाबी-रूपान्तर :

पटियाला के श्री इन्द्रसिंह चक्रवर्ती ने बिहारी-सतसई के कुछ छन्दों का पंजाबी रूपान्तर प्रस्तुत किया है। श्री चक्रवर्ती का यह पंजाबी रूपान्तर अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

१—कांगड़ा पेंटिंग्ज आफ दि बिहारी-सतसई—ले० श्री एम० एस० रंधावा, टाइम्स आफ इंडिया एनुअल–१९६४, पृष्ठ २९ से ३७।

कविवर बिहारीदास की जीवनी

● हरिमोहन मालवीय

महाकवि बिहारीदास की जीवनी पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता मुझे तब प्रतीत हुई जब अनेक तथ्य इस प्रकार के मिले जिनके आधार पर पूर्वघोषित जीवनी विषयक स्रोत अप्रामाणिक एव मनगढ़न्त प्रतीत हुए। यह सही है कि सं० १९८४ वि० मे स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' मे पर्याप्त शोध करने के अनन्तर महाकवि बिहारीदास की जीवनी प्रकाशित की थी और आज जो कुछ भी बिहारी की जीवनी पढ़ी-पढ़ाई जाती है, वह रत्नकार जी के अनुसन्धान पर प्रमुख रूप से आधारित है। किन्तु रत्नाकर जी का इस सम्बन्ध में यह कथन कि "इधर-उधर से कुछ बाते एकत्रित करके उन पर अनुमान को अवलंबित कर यह जीवनी सुशृंखल रूप मे लिखने का यत्न किया गया है। इसमे अनेक त्रुटियों तथा अशुद्धियों की सम्भावना है"[1] यह उनके कार्य की प्रामाणिकता पर एक प्रश्न-चिह्न लगा देता है। इससे यह स्पष्ट है कि रत्नाकर जी द्वारा भी बिहारी की प्रामाणिक जीवनी प्रस्तुत न हो सकी थी। बाद के शोध-कर्त्ताओ और विद्वानो ने बिहारी की जीवनी के सम्बन्ध में प्रचारित या प्राप्त आधारभूत सामग्री और उसके स्रोतो को प्रामाणिकता के निकष पर नही कसा जिसके कारण इस महाकवि के जीवन-पक्ष पर सम्यक् प्रकाश नही पड सका। यदि किसी ने उन स्रोतों पर दृष्टि भी डाली, तो सामान्य परीक्षण करके कुछ तथ्यो को स्वीकार करके शेष को अस्वीकृत कर दिया। फलस्वरूप व्यर्थ की कपोल-कल्पित कथाएँ बिहारी के जीवन के साथ जुड़ गई हैं।

जीवनी विषयक दोहे की प्रामाणिकता :

बिहारी की जीवनी के संदर्भ में निम्नलिखित दोहा प्रस्तुत किया जाता है :

जनमु ग्वालियर जानिए, खड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल॥

कुछ विद्वानो ने इसे बिहारी द्वारा लिखित भी मान लिया था। रत्नाकर जी ने लिखा है कि "हमने अपनी युवावस्था में कुछ कवियों से ये तीन दोहे एक आख्यायिका के साथ सुने थे—यद्यपि कुछ लोगों का कहना है कि इनमे का पहला दोहा गंग कवि ने खानखाना को सुनाने के लिए बनाया था।"[2] दोहे निम्नलिखित हैं :

गंग गोछ मोछैं जमुन, अधरनु सरसुति रागु।
प्रगट खानखानानु कै कामद बदन प्रयागु॥ (१)

जनमु ग्वालियर जानियै, खंड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल ।। (२)
श्री नरहरि नरनाह को, दीनी बाँह गहाइ।
सुगुन आगरें आगरे, रहत आइ सुखु पाइ ।। (३)

रत्नाकर जी ने आख्यायिका के सम्बन्ध में लिखा है कि "आख्यायिका यह है कि बिहारी ने 'गंग गोछ' वाला दोहा खानखाना को सुनाया, जिस पर प्रसन्न होकर खानखाना ने उनको अशर्फियों से चुनवा दिया। खानखाना के विशेष वृत्तान्त पूछने पर बिहारी ने अन्य दो दोहे कहे।"[3] आगे रत्नाकर जी ने लिखा है कि "बिहारी ने कहा कि 'प्रयाग स्नान से सब पातक छूट जाते हैं, अतः मैं इस प्रयाग में अपने ऋण-पातक से मुक्त होने के निमित्त आया हूँ, मेरे ऊपर जयसिंह का ७०० अशर्फियों का ऋण है।' यह सुनकर खानखाना ने उनको अशर्फियों से चुनवा दिया। बिहारी ने कहा कि ये कुल अशर्फियाँ जयसिंह के पास भेज दी जाएँ, जिससे कि ब्याज सहित ऋण चुक जाय।"[4] स्मरणीय है कि रहीम की मृत्यु फागुन सं० १६८३ में हो चुकी थी। वास्तव में तीनों दोहों के साथ कही हुई आख्यायिकाएँ कपोल-कल्पित ही हैं, क्योंकि तब तक न सतसई ही लिखी गई थी और न बिहारी का सम्पर्क ही महाराज जयसिंह से हुआ था। इसके अतिरिक्त खानखाना से भी मिलने की कोई सम्भावना नहीं प्रतीत होती।

'जनमु ग्वालियर जानियै' वाले दोहे के सम्बन्ध में प० अम्बिकादत्त व्यास का कथन है कि "इस दोहे को पहले राजा शिवप्रसाद ने लिखा, फिर 'भारतेन्दु' पत्र में श्री राधाचरण गोस्वामी ने लिखा, तदनन्तर बाबू राधाकृष्ण दास, ग्रियर्सन साहब और पंडित प्रभुदयाल तथा मैंने (व्यास जी ने) लिखा।"[5]

श्री राधाचरण गोस्वामी ने 'कविवर बिहारी का इतिवृत्त' शीर्षक अपने लेख में लिखा है कि "बिहारी कवि ब्रजभाषा की ससुराल मथुरापुरी के वासी थे, इसी से इनकी भाषा मधुर से मधुरतर है।"[6] गोस्वामी जी ने ससुराल पर '१' का चिह्न लगाकर पादटिप्पणी में यह दोहा लिखा है :

जनमु ग्वालियर जानिए, खंड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुभग, मथुरा बसि ससुराल ।।

गोस्वामी जी के कथन पर श्री अम्बिकादत्त व्यास ने लिखा है कि "गोस्वामी जी का तात्पर्य गोचर अर्थ यह झलकता है कि ब्रजभाषा का जन्म ग्वालियर का है, ब्रजभाषा बुन्देलखण्ड में बालिका है और ब्रजभाषा की ससुराल मथुरा है, वहाँ इसका यौवन काल छिटका।"[7]

श्री राधाचरण गोस्वामी के कथन पर अधुनिक विद्वानों ने कोई ध्यान नहीं

दिया और कालान्तर में यह दोहा बिहारी के जीवन-पक्ष मे सम्बन्धित समझा जाने लगा। कुछ लोगों ने तो इसे बिहारी रचित भी मान लिया।[८] गोस्वामी जी के कथन का परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि भ्रमवश ही यह दोहा बिहारी के साथ जुड़ा है। वास्तव मे इस दोहे से ब्रजभाषा के उद्भव और विकास का द्योतन किसी कवि ने किया है।

ब्रजभाषा के जन्म के सम्बन्ध मे एक दावा ग्वालियर के पक्ष मे भी है, जिसके अनुसार 'ग्वालियरी' ही ब्रजभाषा के नामकरण के पूर्व मध्यदेश की काव्य-भाषा थी। 'बिहारी सतसई' के छन्दो का कवित्त-सवैया में पल्लवन करने वाले (अथवा टीकाकार ?) कृष्णदत्त कवि ने ब्रजभाषा के पहले 'ग्वारियरी' की सरसता का वर्णन किया है :

देश भेद ते होत सो, भाषा बहुत प्रकार।
बरणत है तिन सबन मे, ग्वारियरी रससार ।। (७०८)
ब्रजभाषा भाषत सकल, सुरबाणी सम तूल।
ताहि बखानत सकल कवि, जानि महारस मूल[९] ।। (७०९)

स्व० राहुल सांकृत्यायन का कथन है कि "जिसे हम ब्रज-साहित्य कहते है, वह पहले ग्वालियरी साहित्य के नाम से प्रसिद्ध था। यह आज की ब्रज-कन्नौजी का मिश्रित साहित्य था। यदि हम उत्तर पंचाली (रुहेलखण्डी) को न भी ले तो जिस तरह ब्राह्मण-उपनिषद् काल मे कुरु-पंचाल और वहाँ की भाषा तथा साहित्य प्रधानता रखता था, उसी प्रकार पालियो और प्राकृतों के काल में कान्यकुब्ज की भाषा और साहित्य शिष्ट और मुख्य माने जाते थे। इसी की उत्तराधिकारिणी ग्वारियरी है जो पीछे ब्रज के नाम से प्रसिद्ध हुई।"[१०]

ग्वालियर और ग्वालियरी के महत्व की ओर ध्यान सन् १६६६ ई० में मानसिंह तोमर लिखित 'मानकुतूहल' के फारसी अनुवाद मे आकृष्ट किया गया था। औरङ्गजेब के काश्मीर के सूबेदार फकीरुल्ला सैफ खाँ के अनुसार सुदेश से मतलब है ग्वालियर से...भारतवर्ष मे इस बीच की भाषा सबसे अच्छी है।[११] केशवदास जी ने भी मध्यदेश गोपाचल की भाषा को सुभाषा कहा है (दे० कविप्रिया ७/३)। स्वयं केशवदास जी के पूर्वज भी पहले गोपाचल (ग्वालियर) के राज्याश्रय में थे, बाद में बुन्देलखण्ड में आए और नई मान्यता के अनुसार इनके पुत्र बिहारी को ब्रज और अन्त मे आमेर का राज्याश्रय लेना पड़ा था।

ग्वालियर के सम्बन्ध में अनेक तथ्यो का समावेश श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'मध्यदेशीय भाषा ग्वालियरी' में किया है। बुन्देलखण्ड की काव्य-भाषा के सम्बन्ध में उनका मत है कि "बुन्देलों ने बुन्देलखण्ड नाम दिया परन्तु उन्हें बुन्देली

भाषा नाम देने की आवश्यकता न थी। उनके प्रदेश की भाषा उस समय समस्त हिन्दी भाषी जनता की काव्य-भाषा थी।"[१२] श्री द्विवेदी जी के अनुसार काव्य-भाषा का रूप ग्वालियर, अजमेर, जयपुर, महोबा, कालिञ्जर, गढ़कुण्डार तथा ओड़छा में सवाँरा गया है। वह मध्यदेश की व्यापक काव्य-भाषा है। वह पहले ग्वालियरी बुन्देलखण्डी है, तब ब्रज है। एक अन्य स्थल पर द्विवेदी जी का कथन है कि "अनेक शताब्दियों तक हिन्दी का नाम ही 'ग्वालियरी' भाषा रहा और उसे वह समर्थ रूप मिला जो समस्त भारत में फैला सका और जिसमे सूरदास के 'सूरसागर', तुलसीदास के राष्ट्रप्रेरक राम-साहित्य तथा केशवदास के पाण्डित्य पूर्ण ग्रंथों की रचना सम्भव हो सकी और मिल सके बिहारी जैसे रससिद्ध कवि।"[१३]

डा० शिवप्रसाद सिंह ने 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' नामक अपने ग्रंथ में जिन कवियों का उल्लेख किया है, उसमें अधिकांश ग्वालियर से सम्बन्धित हैं। डा० सिंह ने लिखा है कि "ब्रजभाषा मे सगुण कृष्ण-भक्ति का आरम्भ बल्लभाचार्य के वृन्दावन पधारने के ८०-९० साल पहले ही कवि विष्णुदास द्वारा किया जा चुका था। यह एक नया ऐतिहासिक सत्य है।"[१४] डा० सिंह ने ग्वालियर नरेश डूमरेन्द्र सिंह (राज्यारोहण १४२४ ई०) के राज्यकाल मे विष्णुदास की उपस्थिति मानी है और लिखा है कि "विष्णुदास की भाषा १५वी शती की ब्रजभाषा का आदर्श रूप है। इस भाषा मे ब्रज के सुनिश्चित और पूर्ण विकसित रूप का आभास मिलता है जो १६वी शती तक एक परिनिष्ठित भाषा के रूप मे दिखाई पड़ा।"[१५]

विष्णुदास की ही भाँति मानिक कवि (सं० १५४९), मेघनाथ (सं० १५५७), चतुरमल (सं० १५७१ वि०), छीहल (सं० १५७५ वि०) आदि सूर के पूर्व ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि थे जिनका निवास ग्वालियर में था। डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि विद्वानो ने ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति-काव्य का प्रारम्भ बल्लभाचार्य जी के (सन् १५१९ ई०, स०१५७६) ब्रज आगमन से माना है[१६] जब कि यह काव्य-परम्परा पहले से ही ग्वालियर मे मिलती है।

ब्रजभाषा के विकास-क्रम को बताने वाले जिस दोहे की ओर राधाचरण गोस्वामी ने ध्यान आकृष्ट किया था, उसका अर्थ उपर्युक्त संदर्भ मे स्पष्ट है, किन्तु तथ्यो का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण वह दोहा बिहारी के जीवन से जोड दिया गया।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि जिस बसुआ गोविन्दपुर को बिहारी का जन्मस्थान कहा जाता है, उस स्थान का कोई उल्लेख ग्वालियर राज्य के गजेटियर में नही है। गजेटियर के तृतीय भाग में केवल ईसागढ़ जिले में गोविन्दपुर तथा अमभेरा में गोविन्दपुर का उल्लेख मिलता है (ग्वालियर स्टेट गजेटियर, भाग ३, पृष्ठ १५१

और २०७)। रत्नाकर जी ने बसुआ गोविन्दपुर की स्थिति आमेर में मानी है। केवल प्रारम्भ में मिश्रबन्धुओं ने उसे ग्वालियर का गाँव लिखा था।

बिहारी के प्राचीनतम समीक्षक राधाचरण गोस्वामी का कथन ऊपर लिखे आधारों पर सही सिद्ध होता है। "बिहारी, ब्रजभाषा की ससुराल मथुरापुरी के वासी थे" कथन में 'मथुरापुरी' का गलत उल्लेख गोस्वामी जी ने किया है, क्योंकि उन्हें 'बिहारी सतसई' के दोहे का अशुद्ध पाठ स्मरण था। दोहे का पाठ उन्होंने लिखा है :

"जनम लियो मथुरा नगर, सुबस बसे ब्रज आय।"

जब कि इसका वास्तविक पाठ है :

"प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसै ब्रज आय।"

ब्रज से बिहारी का सम्बन्ध ऊपर लिखे दोहे के द्वितीय चरण से भी सिद्ध है, किन्तु उनका जन्म ग्वालियर में हुआ था, इसका कोई प्रमाण नहीं है।

'बिहारी-बिहार' की अप्रामाणिकता :

बिहारी से सम्बन्धित 'बिहारी-बिहार' नाम की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं। एक 'बिहारी-बिहार' में पं० अम्बिकादत्त व्यास ने सतसई के छन्दों के भावों का पल्लवन कुण्डलिया छन्द में किया है। इससे पृथक् एक अन्य 'बिहारी-बिहार' भी प्राप्त होता है जिसमे महाकवि बिहारी की जीवनी आत्मकथन शैली मे लिखी गई है। डा० जगदीश गुप्त ने दूसरे 'बिहारी-बिहार को भी व्यास जी कृत मान लिया है।[१७]

बिहारी के जीवन से सम्बन्धित 'बिहारी-बिहार' को प्रचारित करने का श्रेय श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को है। चतुर्वेदी जी ने अपने लेख 'कविवर बिहारी कौन थे' में लिखा है—"ये दोहे आज से ६७ वर्ष पहले (लगभग सन् १९१९ अथवा १९२०) मुझे इन्दौर में श्री हरिप्रसाद जी चतुर्वेदी (भूतपूर्व तहसीलदार, इन्दौर राज्य) के यहाँ मिले थे और मैंने इनकी प्रति उसी समय पण्डित पद्मसिंह शर्मा, पण्डित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी और बाबू श्यामसुन्दर दास इत्यादि विद्वानो को भेज दी थी।" चतुर्वेदी जी ने आगे लिखा है कि "उन्होने (पण्डित हरिप्रसाद जी) मुझसे कहा था कि संवत् १९३३ मे शाहपुरा के सरस्वती भण्डार में 'बिहारी-बिहार' की एक प्रति बडी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में मिली थी। शाहपुरा नरेश के कामदार उसे पढ़वाने के लिए इन्दौर छावनी में लाए। वहाँ मानिक सिंह वकील के मकान में मैंने उसे पढा और उसकी नकल ले ली।"[१८] श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी द्वारा प्रेषित 'बिहारी-बिहार' नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे प्रकाशित भी हुआ था। रत्नाकर जी की पुस्तक 'कविवर बिहारी' मे (पृ० ३१७ से ३२१) इसका पाठ प्राप्त है। रत्नाकर जी के पाठ मे निम्नलिखित छन्द छूट गया है। यह छन्द श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के लेख के साथ प्राप्त पाठ में संख्या ७ पर मिलता है

दक्ष गोत्र की अल्ल है नाम ककोर जु लेव ।
गुरू कहाउत माथुरन पुजियत पूज्य अभेव ।।

'बिहारी-बिहार' के अनुसार कविवर बिहारी ने लिखा है कि 'मेरे पितामह वसुदेव और पिता केसव देव छघरा माथुर चौबे मधुपुरी के निवासी थे । ककोर कुल मे दक्ष गोत्र की अल्ल है और माथुरों के गुरु है । मेरा नाम बिहारी और पुत्र का नाम कृष्ण है । संवत् १६५४ की बुद्धवार कातिक सुदी अष्टमी को मेरा जन्म हुआ । ११ (रुद्र वर्ष) की आयु मे मैं अपने पिता के साथ वृन्दावन के यमुना तटवासी टट्टी सम्प्रदाय के हरिदास स्वामी के पास गया । वही नागरीदास जी मिले । माथुर लोग इसी गद्दी के शिष्य होते थे । नागरीदास जी की आज्ञा से मैंने उसी आश्रम मे रहकर स्वभाषा, संस्कृत, गान-ताल, काव्य आदि विद्याओ का अध्ययन किया । एक बार वहाँ शाहजहाँ का आगमन हुआ और राग-रागिनी सुनकर बादशाह ने मुझको आगरा बुलाया । काव्य-प्रणयन करते हुए आगरा के दुर्ग मे बहुत काल तक रहे । बादशाह रात को बहुत देर तक फारसी की गजल, शेर, गीत और गान सुनते थे । बादशाह के पुत्रोत्सव में आये ५२ नृपतियों को बादशाह के कहने से मैंने कविता सुनायी जिमसे सभी राजा प्रसन्न हुए । बादशाह ने स्वयं सबसे सनद दिलवाई । सभी ने यथाशक्ति वर्षासन दी । मिर्जा राजा जयसिंह के यहाँ वर्षासन लेने आगरे गए । वहाँ दो मास तक किसी ने कोई बात न पूछी । नवोढ़ा रानी के फन्दे मे काम पीडित राजा कली पर मँडराने वाले भौंरे की भाँति बेसुध होकर राज-काज भूल गये थे । रगमहल मे राजा की सेज पर पासवान से एक दोहा रखवाया, जिससे प्रसन्न होकर जयसिंह ने कविता करने की आज्ञा प्रदान की । राजा की भावना का विचार करके अन्य रसो पर भी कविताएँ रची गई, लेकिन शृंगार रस मे अधिक काव्य-प्रणयन हुआ । फलस्वरूप एक-एक दोहे पर मोहर मिली । चार पक्षो मे यह काव्य रचा गया । जयसिंह की आज्ञा से वृन्दावन मे पुन. स्वामी के स्थान पर वापस आए । लाल बिहारी से दास बिहारी हो गये । सोमवार शुक्ल-पक्ष सप्तमी संवत् १७२१ मे मृत्यु हो गई ।''[१९]

रत्नाकर जी ने 'बिहारी-बिहार' के सम्बन्ध में निर्णय लेते हुए लिखा है कि ''उसकी भाषा ऐसी अप्रौढ तथा छन्द ऐसे अनगढ हैं कि वह बिहारी रचित कदापि नहीं हो सकता । दूसरे यह कि :उसमें बिहारी का जन्म विक्रमी संवत् १६५२ अथवा १६५४ की कार्तिक शुक्ल अष्टमी बुधवार का बतलाया गया है और संसार-त्याग संवत् १७२१ के चैत्र मास की शुक्ल सप्तमी, सोमवार, पर गणित से संवत् १६५२ की कार्तिक शुक्ल अष्टमी मुध्वार को पड़ती है, संवत् १६५४ को उक्त अष्टमी शनिवार को और संवत् १७२१ की चैत्र शुक्ल सप्तमी बुधवार को; जिससे यह निबन्ध किसी विशेष

जानकार का भी लिखा नहीं प्रतीत होता दूसरे उसकी कई एक घटनाएँ यदि असम्भव नही तो दुर्घट अवश्य हैं, जैसे चार पक्षो में सतसई का रचा जाना तथा ११ वर्ष की अवस्था से बिहारी का वृन्दावन मे रहना इत्यादि ।"२०

यह सब लिखने के बाद भी रत्नाकर जी ने पुनः लिखा है कि "इस निबन्ध की अधिकांश बातें सच्ची जान पड़ती है, क्योंकि उनका प्रमाण अन्य ग्रन्थों अथवा किंवदन्तियो से भी मिलता है, जैसे बिहारी के कुल, जाति, पिता, पुत्र इत्यादि का कथन, उनका वृन्दावन जाना, श्री स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय का अनुयायी होना, अन्तिम अवस्था में विरक्त होकर वृन्दावन में रहना, उनके जन्म तथा संसार-त्याग के वर्ष इत्यादि ।"२१

रत्नाकर जी को कुल, जाति, पिता, पुत्र इत्यादि कथन सच्चे जान पड़े। वास्तव में कुछ कथन 'बिहारी-विहार' के कवि ने कृष्ण कवि के कथन से लिया है, यथा :

बसत मधुपुरी मधुपुरी, केसव देव सुदेव ।
नाम छहधरा गाइयतु, चौबे माथुर देव ।।

तथा

नाम बिहारी जानियतु, मम सुत कृष्णा जान । (कृष्ण कवि)

श्री बनारसी चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'बिहारी-विहार' में भी बिहारी को ककोर ही लिखा हुआ है । बिहारी को ककोर चौबे सिद्ध करने के लिए इस छन्द का पाठ इस प्रकार रखा गया है :

माथुर वंश ककोर कुल, लसत मधुपुरी गाँव ।
चौबे केशव को तनय, दास बिहारी नाँव ।।

कृष्ण कवि का कथन इस प्रकार है :

माथुर विप्र ककोर कुल, कह्यो कृष्ण कवि नाँव ।
सेवक हौं सब कविन सौं, बसत मधुपुरी गाँव ।।

पिता का नाम बिहारी के दोहे में ही स्पष्ट है :

प्रगट भए द्विजराज कुल, सुजस बसे व्रज आइ ।
मेरे हरहु कलेश सब, केसौ केसौ राइ ।।

'केशव' ही नहीं, सतसई की शब्दावली भी 'बिहारी-विहार' मे स्वाभाविकता लाने के लिए रखी गई है, यथा :

(१) अ—राधा भव बाधा हरौ राधा तिनके पास । (बिहारी-विहार)
आ—मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोई । (बिहारी सतसई)
२ अ—हुकुम पाइ जय शाहि कौ नगर पयानो कीन्ह ।)

आ—हुकुम पाइ जहसाहि कौ हरि राधिका प्रसाद। (बिहारी सतसई)

'बिहारी-विहार' में सुप्रसिद्ध दोहा 'नहिं पराग नहिं मधुर-मधु' से सम्बन्धित सुप्रसिद्ध कथानक को जोड़ दिया गया है। यथा :

भूपति इक रानी बरी, शुठि सुंदर शुभ बाम।
रह्यौ नवौढा आयु की, भूपति पीडित काम।। (३७)
फँसे तासु के फंद मे, अलि गति ज्यो मँडरात।
राज काज सब बिसरिगो, बात न कुछु कहि जात।। (३८)

रेखाङ्कित भाग में 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाले दोहे का स्पष्ट प्रभाव है।

'बिहारी-विहार' मे कृष्ण को बिहारी का पुत्र कहा गया है। कृष्णदत्त कवि भी 'माथुर विप्र' और 'मधुपुरी' वासी थे। 'बिहारी-विहार' के रचयिता ने इसी आधार पर कृष्ण कवि से बिहारी का पिता-पुत्र सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। कृष्णदत्त कवि ने अपने आश्रयदाताओ का विशद् वर्णन किया है। यदि यह कवि बिहारी का पुत्र होता तो सतसई का पल्लवन करते समय वह कवि से अपने सम्बन्ध की चर्चा अवश्य करता। किन्तु ऐसा कोई उल्लेख उसने नही किया है।

'बिहारी-विहार' के ऐतिहासिक तथ्यो को तोड-मरोड कर श्री अमृतलाल शील ने 'सरस्वती' के फरवरी सन् १९२७ के अङ्क में प्रकाशित 'कविवर बिहारी कौन थे' शीर्षक लेख मे विचार किया है। श्री शील ने यह लेख श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के 'कविवर बिहारी कौन थे' (सरस्वती, अक्टूबर १९२६, पृ० ४१९-४२३) के उत्तर में लिखा था। श्री शील ने लिखा है कि "शाहजहाँ के बादशाह होने के बाद केवल एक बेटा दौलत अफजा उत्पन्न हुआ था। उस समय अभिषेक (के उत्सव) मे आए हुए बहुत नृपतियो मे कुछ आगरे मे अवश्य होंगे। परन्तु इस समय शाहजहाँ को वृन्दावन अथवा किसी और स्थान को जाने का अवसर नही मिला।...शाहजहाँ को इन ८४ दिनों में बहुकाल तक 'गान सुनत सो रात को दिवस भए बहुतेर' का अवसर नही मिला और न मिलना सम्भव था, क्योंकि इस समय शाहजहाँ ने...... तमाम राज्य के सूबेदारो को बदल दिया था।......इन कामो मे वह इतना फँसा था कि संगीत सुनकर रात बिताने का अवसर उस समय नही मिल सकता था।...... अभिषेक के बाद पहले पहल जब शाहजहाँ के आगरा छोडने का अवसर हुआ, तब वह २३ खीपुर औव्वल १०३८ हिजरी (१० नवम्बर, १६२८) अर्थात् बेटे के जन्म के ६ महीना १२ दिन उपरान्त फतेहपुर (वृन्दावन आगरे से पश्चिम ओर है और फतेहपुर पूर्व ओर) सीकरी को गया। वहाँ ३० वीं को (१७-११-१६२८) तुलादान किया और ८ वीं रबी उस्सानी १०३८ (२५-११-१६२८) को बारी नाम के गाँव में

पहुँच कर पांच दिन रहा। फिर गोपाचल (ग्वालियर) चला गया। अतएव शाहजहाँ का वृन्दावन जाना, बिहारी को साथ लिवा लाना, उसके बहुकाल बाद पुत्र उत्पन्न होने पर बावन नृपतियों से सनद और वर्षासन दिलाना, ये सब कल्पित और झूठी बाते है।''

बिहारी की मृत्यु-तिथि चैत शुक्ल सप्तमी, सोमवार सं० १७२१ जो 'बिहारी-विहार' मे है, वह भी हिसाब से गलत है। एक विद्वान् का विचार है कि उस दिन बुधवार था। इस तिथि को 'बिहारी भगवान् कृष्ण के हो गये थे' जिससे यह सिद्ध होता है कि वह तिथि बिहारी के मरण की है, न कि 'बिहारी-विहार' के रचना काल की। यह बात भी स्पष्ट कर देती है कि यह बिहारी की रचना नही है। वास्तविकता तो यह है कि महाकवि बिहारी को चतुर्वेदी सिद्ध करने का अनेक बार प्रयास किया गया। चतुर्वेदी-समाज में भी दो मत प्रचलित रहे। एक मत के अनुसार बिहारी ककोर चौबे थे और उनके पुत्र कृष्ण थे और दूसरे मत के अनुसार बिहारी घरबारी थे और उनके पुत्र का नाम निरंजन था।

बिहारी को घरबारी चौबे सिद्ध करने का प्रयास श्री अमरकृष्ण ने किया था, क्योकि उनके पिता बालकृष्ण का स्वागत 'वंश भास्कर' ग्रन्थ में बूँदी के चारण सूर्य-मल्ल ने यह कहकर किया है -

कवि विप्र बिहारी वंश-जात। कवि बालकृष्ण प्रभु अन्नपात॥

इसी भाँति सोरो के गङ्गा गुरुओं के यहाँ से प्राप्त वंशावली के आधार पर अमर कृष्ण ने एक छप्पय बनाया था। रत्नाकर जी ने उस छप्पय का रचयिता अमरकृष्ण के पिता बालकृष्ण को लिखा है। किन्तु श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के लेख की पाद टिप्पणी मे लिखा है कि "आज मे ३० वर्ष पहले जब मुशी देवीप्रसाद जी मुसिफ, जोधपुर ने श्री अमरकृष्ण जी से उनकी वंशावली माँगी थी, तब उन्होंने यह छप्पय उन्हे भेजा था। फर्क इतना ही है कि पहले भेजे छप्पय मे निरजन का नाम नही था और द्वितीय पंक्ति इस प्रकार थी—'ज्ञान के धाम कहुँ लवलेश न दुरमत। अमर-कृष्ण जी से पूछने पर उन्होंने कहा—"सोरो मे गंगा गुरु से जाँचने पर हमे निरंजन नाम का पता लगा।'' अमरकृष्ण का बनाया हुआ छप्पय इस प्रकार है :

प्रथम बिहारी दास प्रगट जिन सप्तशती कृत।
तनय निरंजन तासु भयउ विज्ञान विशद मत॥
तिनके गोकुल दास तनय तिन खेम करन गति।
दया राम सुन जासु बहुरि तिनके मानिक मति॥
पुनि गणेश तिनके तनय बालकृष्ण जिनके भयउ।
गुण निगुण चतुरता सप्त सों कविता तिय नायक कहेऊ॥

रेखांकित स्थलो पर रत्नाकर जी का पाठ भिन्न है 'विज्ञान विशद मत' के स्थान पर 'विख्यात सुहृद' तथा अंतिम पंक्ति का पाठ हे 'गुन निपुन चतुर जन-भाल-मति कविता तिय नायक कह्यौ' । चतुर्वेदी जी के लेख में छप्पय के अतिरिक्त एक दोहा और भी है जो इस प्रकार है :

तिनके भा अति मद मति कवि जन किंकर जानि ।
विद्या रहित विवेक बिन अमरकृष्ण पहिचान ।।

अमरकृष्ण के इस प्रकार छन्दबद्ध वंशावली प्रस्तुत करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिभाशाली कवि यथावसर इस प्रकार की कविता कर लेते थे । 'बिहारी विहार' भी इसी प्रकार की सुनी-सुनाई बातो पर आधारित कृति है और यह बिहारी को ककोर माथुर चौबे सिद्ध करने के लिए ही लिखी गई है । बिहारी को चौबे घोषित करने का कितना उत्साह था, इसका पता इसी से लग जाता है, जब कि श्री बनारसी दास चतुर्वेदी लिखते है—"यह बात तो अब प्राय. निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि बिहारी जाति के चौबे ब्राह्मण थे, पर अभी तक यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनकी उपाधि क्या थी ? वे ककोर चौबे थे या घरबारी ।"[२२]

बिहारी की जाति के सम्बन्ध में दो और मत भी प्रचिलित थे । श्री राधाचरण गोस्वामी के अनुसार बिहारी, राय और श्री राधाचरण दास जी के अनुसार बिहारी सनाढ्य मिश्र थे । जहाँ तक राधाचरण गोस्वामी का अनुमान है, उसका कारण है पाठ सम्बन्धी साधारण भूल । सुप्रसिद्ध दोहे की एक अर्धाली के पाठ 'प्रगट भए द्विजराज कुल' के स्थान पर 'जनम लियो मथुरा नगर' लिखकर गोस्वामी जी ने बिहारी की जाति का निर्णय किया है । उनका कथन है कि "बिहारी ब्राह्मण-क्षत्रिय से उत्पन्न 'राय' थे, क्योकि इसमें 'केशव राय' शब्द से यही बोध होता है कि उनके पिता राय थे । यदि 'केशव राय' शब्द से मथुरा के देवता केशवदेव जी का अभिप्राय होता तो देव शब्द होता, न कि राय । यदि कोई पाठान्तर (लाल चंद्रिका का भी यही म। है) 'जनम लियो द्विज कुल विसै' से बिहारी को ब्राह्मण मानें तो सन्देहास्पद है । क्योकि ब्राह्मण कुल के लिए केवल द्विज शब्द अनर्ह है द्विजराज, भूसुर, भूमिसुर, विप्र आदि लिखते । यदि कहो कि राय द्विज नही तो हम न माने, पर राय अपने को ब्राह्मण-क्षत्रिय से उत्पन्न मानते हैं, और इसी से अनुलोमो में अपनी प्रथम गणना करते हैं और अपने को द्विज मानते हैं ।"[२३] गोस्वामी जी ने 'द्विजराज' शब्द ब्राह्मण के लिए उपयुक्त माना है और वास्तविक पाठ भी है 'प्रगट भए द्विजराज कुल' । इस प्रकार गोस्वामी जी का अनुमान स्वत: खण्डित हो जाता है ।

केशव और बिहारी :

केशव और बिहारी के पिता-पुत्र की चर्चा सर्वप्रथम बाबू राधाकृष्ण दास ने अपने लेख कविवर बिहारी लाल में की थी । तदुपरान्त जी को

भी इस मत के समर्थन में अनेक सम्भावनाओ का आभास मिला। उन्होने नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे 'महाकवि बिहारीदास जी की जीवनी' शीर्षक से एक निबंध प्रकाशित करवाया था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि केशव और बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध का तत्कालीन साहित्यिकों द्वारा विरोध हुआ। फलस्वरूप 'महाकवि बिहारीदास की जीवनी' में केशव और बिहारी के काव्य में प्राप्त भाव-साम्य आदि का निदर्शन करते हुए रत्नाकर जी को लिखना पडा कि "ऊपर जो बाते लिखी गई है, उनसे सुप्रसिद्ध कवि केशवदास जी ही को बिहारी का पिता मानना सङ्गत प्रतीत होता है। पर इस समय विद्वान् मण्डली की धारणा इसके विरुद्ध है। अतः जब तक इस बात के और कुछ पुष्ट प्रमाण हाथ न आये, तब तक हम भी बिहारी के पिता को अन्य ही केशव मान कर यह जीवनी लिखते हैं।"[२४]

केशव और बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और विद्वानों ने इस समस्या पर अनेक प्रकार से विचार-विमर्श किया है। कुलपति मिश्र ने 'संग्राम सार' में लिखा है :

कविवर मातामह सुमिरि, केसौ केसौराइ।
कहौ कथा भारत्थ की, भाषा छन्द बनाइ॥

इस पर टीका करते हुए रत्नाकर जी ने लिखा है—"उससे उनके मातामह तथा बिहारी के पिता का कविवर होना सिद्ध होता है। पर जहाँ तक ज्ञात है, उस समय ओडछे वाले केशवदास जी को छोड़कर और कोई ऐसा केशव नामक प्रसिद्ध कवि नही था जो कुलपति जी का मातामह होता और जिसकी वन्दना कुलपति ऐसा पण्डित और कवि ऐसी श्रद्धा से करता। अत. कुलपति जी के दोहे से भी केशव-से प्रसिद्ध कवि केशवदास जी ही का लक्ष्य करना अधिक संगत प्रतीत होता है।"[२५]

कुलपति मिश्र ने 'युक्ति तरंगिणी' में केशवदास जी के बाद बिहारीदास जी का स्मरण इस प्रकार किया है :

जो भाषा जान्यौ चहत रसमय सरस सुभाइ।
कविता केसौराय की तौ सांचौ चितुलाई॥
भाँति-भाँति रचना सरस देव गिरा ज्यौं व्यास।
तौ भाषा सब कविनु में विमल बिहारीदास॥

केशव और कुलपति दोनों अपने नाम के आगे 'मिश्र' जोडते थे। बिहारी कुलपति मिश्र के मामा थे, यह बात भी विद्वानो ने कही है।[२६]

श्री मथुराप्रसाद 'मधुरेश' से प्राप्त केशवदास जी का जो वंश-वृक्ष मिला है, उसके अनुसार केशवदास जी के भाई बलभद्र मिश्र एवं कल्याणदास मिश्र थे तथा केशव के पुत्रों के नाम हैं बिहारीदास श्री प्रसाद विश्वेश्वर पयाल, जहदेव और

अनन्तराम। इस वंश-वृक्ष को डा० विजयपाल सिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध में पूर्ण रूपेण प्रकाशित किया है।

बिहारी के काव्य में बुन्देलखण्डी शब्दावली का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इस तथ्य की ओर भी विद्वानों ने ध्यान आकृष्ट किया है। लाला भगवानदीन ने लिखा है कि "हमारा यह अनुमान है कि बिहारी बहुत दिनों तक अपने लड़कपन में कहीं बुन्देलखण्ड में रहे हैं। कारण यह है कि इनकी कविता में ठेठ बुन्देलखण्डी शब्दों का ऐसा ठीक प्रयोग पाया जाता है, जैसा अन्य प्रान्त का निवासी कर ही नहीं सकता। उदाहरण लीजिए : स्यों—सहित (बिहारी बोधिनी, दो० न० २५१, ५०१)। कई टीकाकारों ने इस शब्द का अर्थ न समझ कर इसका रूप 'सौं' कर डाला है और अर्थ करना उड़ा गए हैं।......यह सर्वमान्य बात है कि केशवदास जी बुन्देलखण्डी थे। केशव कृत 'रामचन्द्रिका' में इस 'स्यों' शब्द का प्रयोग बहुतायत से पाया जाता है। अन्य प्रान्त निवासी कवियों की कविताओं में इस शब्द का प्रयोग देखा ही नहीं जाता।"[२७]

राधाकृष्ण दास जी तथा आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने भी सतसई में बुन्देली शब्दों के प्रयोग को देखकर बिहारी के बुन्देलखण्ड निवासी और केशव के पुत्र होने की सम्भावना पर विश्वास प्रकट किया।

केशव के काव्य का प्रभाव :

बिहारी ने केशव के काव्य का, विशेष रूप से 'कविप्रिया' का अध्ययन किया था और उनके कवि-मानस पर उसका कई रूपों में प्रभाव पड़ा था। ये प्रत्यक्ष प्रभाव, भाव और शब्दावली दोनों पर पड़े हैं। भावसाम्य तो आकस्मिक भी हो सकता है, किन्तु शब्दावली के प्रयोग—साम्य का कारण संस्कारगत् ही है। यदि दो चार स्थलों पर इस प्रकार का साम्य हो तो वह भी आकस्मिक कहा जा सकता था, किन्तु 'कविप्रिया' में अनेक ऐसे छन्द हैं जिनमें केशव और बिहारी ने समान शब्दावली का प्रयोग किया है। बिहारी के प्रथम दोहे में ही भाव एवं शब्द-प्रयोग का साम्य प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है :

बिहारी : मेरी भौ बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परैं, स्याम हरित दुति होइ।। १

केशव : राधा केशव कुँवर की, बाधा हरहु प्रवीन।
नेकु सुनावहु करि कृपा, शोभत बीन प्रवीन।।१५।७

रत्नाकर जी ने भी बिहारी और केशव के कतिपय छन्दों के भाव-साम्य का मिलान किया है।[२८] शब्दावली साम्य के भी कुछ उदाहरण हैं जिनमें शब्द-योजना कुछ अंशों में समान मिलती है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य हैं :

(१) अभिराम सचिक्कन स्याम सुगन्ध के धामहु ते जे सुभाइक के (कविप्रिया, प्रकाश ५, छन्द १४, पंक्ति १)

सहज सचिक्कनि स्याम रुचि, सुचि सुगंध सुकुमार। (बिहारी सतसई)

(२) ऊख, महूख, पियूख गानि, केशव साँचो इष्ट। (क० प्रि०, ६।४८-१)

ऊख, महूख पियूख की तौ लगि भूँख न जाति। (वि० स०)

(३) गोरी गोरी भोरी भोरी, थोरी थोरी वैस फिरै। (क० प्रि०, ६।२८-३)

ढोरी लाई सुनन की, लखि गोरी मुसिकात।

थोरी थोरी सकुचि सो भोरी भोरी बाल।। (वि० स०)

(४) तेल, तूल, तामोर, तिय, ताप, तपन, रतिवंत। (क० प्रि०, ७।३५-१)

तपन तेज तापन तपन तूल तुलाई माह। (वि० स०)

(५) नहीं उरबसी उर बसी मदन मद न वश भक्त।। (क० प्रि० १५।१०६-१)

तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान। (वि० स०)

इसी भाँति अनेक शब्द 'कविप्रिया' और 'सतसई' में समान रूप से व्यवहृत मिलते हैं। इस प्रकार बिहारी पर केशव का अत्यधिक प्रभाव लक्षित किया जा सकता है और उनके पिता-पुत्र सम्बन्ध की पुष्टि की जा सकती है।

नरहरि का तात्पर्य :

'बिहारी-सतसई' के एक दोहे मे 'नरहरि' शब्द मिलता है जिसके सम्बन्ध मे रत्नाकर जी ने भ्रम उत्पन्न कर दिया है। रत्नाकर जी ने लिखा है कि बिहारी श्री स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय के अनुयायी और कदाचित् श्री स्वामी नरहरि दास जी के शिष्य थे। दोहा इस प्रकार है :

जम करि मुँह तरहरि पर्यौ, इहिं धर हरि चितु लाउ।
विषय तृपा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ।।

नरहरि दास का परिचयात्मक विवरण भी 'कविवर बिहारी' के पृष्ठ ३३५ की पाद-टिप्पणी में रत्नाकर जी ने दिया है। अपनी बचत के लिए रत्नाकर जी ने 'बिहारी-रत्नाकर' मे नृसिंह अर्थ भी स्वीकार किया है, किन्तु नरहरि दास को कवि का दीक्षा गुरु भी माना है। यहाँ यह स्पष्ट है कि यम रूपी हाथी की तुलना मे नृसिंह की कल्पना ही सार्थक है और हाथी को पराजित करने की सामर्थ्य सिंह मे ही मानी गयी है। केशव ने भी नृसिंह का उल्लेख अपने काव्य मे किया है। यथा :

दीन्ही ताहि नृसिंह जू, तन मन रन जय सिद्धि।
हित करि लच्छन-राम ज्यो, भई राज की बृद्धि।। (रसिक प्रिया, १।६)

'ताहि' का अर्थ यहा इन्द्रजीत सिंह से है जो केशव के आश्रयदाता है। 'कवि प्रिया' में भी नृसिंह का वर्णन मिलता है। यथा :

धरत धरनि, ईश शीश चरणोदकनि,
गावत चतुरमुख सब सुखदानियै।

कोमल कमल कर कमलाकर कमल,
कलित, बलित, गुण क्यों न उर आनिये ।
हिरण्यकशिपु दानकारी प्रहलाद हित,
द्विजपद उरधारी बेदन बखानिये ।
'केशोदास' दारिद दुरद के बिदारबे को,
एकै नरसिंह कै अमर सिंह जानिये ।।

यहाँ 'अमर सिंह' और नरसिंह' में दो अर्थ का श्लेष है । आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने लिखा है कि वीरसिंह देव को मुगल इतिहास-लेखक सदा नरसिंह ही लिखते थे ।[२९] वास्तव मे नृसिंह ओडछा राज्य के इष्ट थे । इस सम्बन्ध में 'बुन्देलखंड का संक्षिप्त इतिहास' मे गोरे लाल तिवारी ने लिखा है—"मधुकर शाह नृसिंह के उपासक थे । एक दिन अकबर ने इन्हे भी आखेट मे चलने के लिये कहा, पर महाराज मधुकर शाह ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया कि मैं अपने इष्ट को मारने नहीं जा सकता ।"[३०]

बिहारी ने केशव की भाँति ही एक छन्द मे नृसिंह का स्मरण किया है । यहाँ नरहरि दास से सम्बन्धित होने की बात रत्नाकर जी की कल्पना की उपज है । इसका कहीं भी उल्लेख नही मिलता ।

पातुर राय का उल्लेख :

'बिहारी सतसई' मे पातुर राय प्रवीण का नाम दो छन्दो में किसी न किसी रूप में आया है

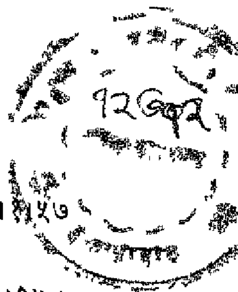
पूस मास सुनि सखिनु पै, साईं चलत सबारु ।
गहि कर बीन प्रवीन लय, राज्यो रागु मलारु ।। (बि० र०, १४६)
सब अंग करि राखी सुघर, नाइक नेह सिखाइ ।
रस जुत लेति अनंत गति, पुतरी पातुर राइ ।। (बि० र०, २८४)

केशवदास जी ने इसी राय प्रवीण के लिए 'कविप्रिया' की रचना की थी, जिसका उल्लेख 'कविप्रिया' मे केशवदास ने इस प्रकार किया है :

सबिता जू कविता दई, जाकहँ परम प्रकाश ।
ताके कारज कविप्रिया, कीन्ही केसवदास ।।१।६१

राय प्रवीण का उल्लेख 'कविप्रिया' मे कई स्थलो पर मिलता है । इस सन्दर्भ में कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं :

(१) नाचत गावत पढत सब, सबै बजावत बीन ।
तिन मे करत कवित्त यक, राय प्रवीण प्रवीण ।।१।५६
(२) राय प्रवीण प्रवीण अति, नवरंग राइ सुवेश ।
मति विचित्र नैना निपुण, लोचन नलिन सुदेश ।। १।४६



(३) राय प्रबीरा प्रबीरा सो, परवीरान मन सुख्ख ।
अपरबीरा 'केशव' कहा, परवीननि मन दुःख ।। ११५७

(४) देव को दिवान सो प्रबीरा राय जू को बाग,
इन्द्र के समान तहाँ इन्द्रजीत जानिये ।।७।१५-४

(५) सुनि बाजत बीन प्रबीन नवीन सुराग हिये उपजावति सी ।११।४१-३

बिहारी के प्रथम दोहे मे 'बीन प्रवीन' शब्द उसी भाँति आया है, जिस भाँति केशव के 'मुनि बाजत बीन प्रवीन नवीन सुराग हिये उपजावति सी' में आया है । छन्द १।५६ मे राय प्रवीरा के नाचने-गाने के अतिरिक्त उसकी काव्य-प्रतिभा का उल्लेख केशव ने किया है । मानसिंह बिजैगढ़ ने 'सब अग करि' वाले छन्द का अर्थ इस प्रकार किया है :

"श्री दरसन विषै श्री राधाजु के नैन की । नृत्य करी राय पातुर समान कहै है । सब सर्वनारारभ के । श्रंक आव विषै सुकर चतुर कत राषी । नाय० । श्री कृष्रा सनेह० ।। नायक नृत्यकार । तिन सिखाइ कै । रस० । पैमरस संजुक्त । अनंत चाल लेत है । पुन० । नैन की पुतरी राज पातुर जैसी है ।"

इसमे 'राय पातुर' व्यक्ति विशेष के लिये ही प्रतीत होता है । यह उल्लेख भी बिहारी और केशव के नैकट्य और प्रभाव को द्योतित करता । 'कविप्रिया' की रचना सं० १६५८ मे राय प्रवीरा की काव्य-दीक्षा के लिए हुई थी । उस समय वह नायिका भेद की मुग्धा नायिका ही रही होगी । बिहारी को नृत्य आदि मे उसका प्रगल्भ रूप देखने को अवश्य मिला था जिससे उपमान के रूप में वह 'बिहारी-सतसई' मे अनायास आ गई । यदि केशव बिहारी के पिता न होते तो इन्द्रजीत सिंह के दरबार की इस पातुर की नृत्य-निपुणता को ध्वनित करने वाला छन्द इतने सजीव ढङ्ग से न लिख पाते ।

मैना जाति का उल्लेख :

बिहारी ने मैना जाति का उल्लेख सतसई मे किया है । दोहा है :

चलत न पावत निगम मग, जग उपज्यौ अति त्रास ।
कुच उतुग गिरिवर गह्यो, मैना मैन मवास ।।

रत्नाकर जी ने 'मैना' के सम्बन्ध में 'बिहारी रत्नाकर' मे लिखा है कि राजस्थान के जंगलों में एक जाति के मनुष्य रहते है जो कि मैना अथवा मोना कहलाते हैं उनका काम प्रायः डाका डालना और लूटना है । बुन्देलखंड के इतिहास में महाराज वीरसिंह देव द्वारा मैना और जाटों को हराने का विवरण मिलता है ।[३१] बिहारी ने इस जाति का परिचय बुन्देलखड मे पाया था, राजस्थान में नहीं; क्योंकि उनके यौवनकाल तक के अनेक सूत्र यह सिद्ध करते है कि वे बुन्देलखंड मे रह चुके थे ।

"सुबस बसे ब्रज आय' पर विचार :

बिहारी द्वारा ओड़छा का राज्याश्रय छोड़कर मथुरा और तत्पश्चात् आमेर राज्य के संरक्षण में जाने के कई कारण हैं। केशवदास जी ने स्वतः जीवन की संध्या मे गङ्गातट-वास की आकांक्षा की थी।[३२]

सं० १६६२ मे केशवदास रामशाह के कहने से वीरसिंह देव से सन्धि कराने गए थे किन्तु कुछ कारणो से वे सफल न हुए। सं० १६६३ में ओडछा पर मुगलों का आक्रमण हुआ जिसमें केशव के आश्रयदाता इन्द्रजीत घायल और मूर्छित हुए। स० १६८४ में बुन्देलखंड में अकाल पड़ा और उसी समय महाराज वीरसिंह देव की मृत्यु हो गई। केशवदास जी की मृत्यु सं० १६७४ मे हो चुकी थी। सं० १६९१ से सं० १६९८ तक जुझार सिंह, देवी सिंह, पृथ्वीराज आदि सिंहासन पर बैठे। इस उथल-पुथल में बिहारी को मथुरा जाकर बसना पड़ा और वहाँ भी केशवदेव जी का ही स्मरण करना पड़ा था :

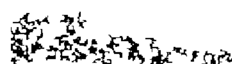
प्रगट भए द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसौ केसौ राइ॥

उपर्युक्त पद में दो केशव का उल्लेख मिलता है। इस पर सूरति मिश्र ने लिखा है -

श्लेष अर्थ केशव पिता, अरु हरि केशवराय।
वे द्विज कुल ये चन्द्र कुल, प्रगटै अर्थ जताय॥

प्राचीनतम टीकाकार वृन्दराय (रत्नाकर जी के अनुसार कृष्ण लाल) ने लिखा है—"ए जो ब्रज ते आनि कै आबैर के विषै सुबसु काहे है सो कौन कि केसौ जो मेरो पिता अरु केसोराय जो श्री कृष्ण जू मेरे सबही क्लेश को हरौ।" इस टीकाकार ने बिहारी का ब्रज से आगरे पहुँचने का उल्लेख किया है। शेष टीकाकार ब्रज मे बसने का ही उल्लेख करते हैं। सभी टीकाकारो ने पहले 'केशव' को पिता और दूसरे 'केशव' को भगवान् केशव का स्मरण करना माना है जो कि अशुद्ध है वास्तव मे प्रथम 'केशव' आराध्य है और 'केशवराय' पिता है जिनका स्मरण, धार्मिक मान्यता के अनुसार बाद में किया गया है। हिन्दुओ मे देवताओं के बाद पितरो का स्मरण होता है।

'केशव केशवराय' को एक ही नाम मानने के मत का प्रतिपादन 'श्री माया शंकर याज्ञिक ने सं० १९८७ वि० की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' मे किया था, जिस पर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ने भी ('बिहारी' पृ० १०१) विचार किया है। डा० विजयपाल सिंह का कथन है कि याज्ञिक जी द्वारा उद्धृत छन्द महाकवि केशवदास द्वारा ही विरचित है। केशव आचार्य थे, अतः उनके छन्दो का प्रयोग 'रस सुधा सागर' में होना कोई आश्चर्य की बात नही।[३३]



आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने उदाहरण देकर सिद्ध किया है 'केशवराय' का प्रयोग अनेक स्थलों पर इस दृष्टि से हुआ है कि उसका अर्थ कवि और कृष्ण दोनों का द्योतक है।[३४]

वास्तव मे 'केशव केशवराय' एक व्यक्ति का सूचक नही है। पहले कवि ने अपने आराध्य की वन्दना की है और यह वन्दना केशवदेव जी की ही सम्भावित है जिनके मन्दिर का निर्माण मथुरा मे सं० १६७६ में ओड़छा नरेश वीरसिंह देव ने करवाया था और जिसे सं० १७२६ में औरङ्गजेब ने तुड़वा दिया था। बिहारी ने अवश्य ही केशवदेव जी के विशाल मन्दिर को देखा था।

उपर्युक्त उदाहरणों तथा प्रमाणो से भी यही सिद्ध होता है कि बिहारी के पिता सुप्रसिद्ध आचार्य केशवदास ही थे।

मिर्जा राजा जयसिंह और बिहारी :

बिहारीदास ने मिर्जा राजा जयसिंह का सतसई में उल्लेख किया है और एक छन्द के अनुसार बिहारी ने जयसिंह (जयसाहि) की आज्ञा से ही सतसई का प्रणयन किया था। छन्द इस प्रकार है :

हुकुम पाइ जयसाहि कौ, हरि-राधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद ।। (बि० र० ७१३)

सतसई के लिखे जाने के सम्बन्ध मे एक कथा प्रचलित है जिसके अनुसार एक समय महाराज जयसिंह (रत्नाकर जी के अनुसार सं० १६९१-९२ में)[३५] किसी नवोढ़ा रानी के प्रेम में निमग्न होने के कारण राज्य-शासन से उदासीन होकर राजमहल मे ही रहने लगे थे। राजा जयसिंह की चौहानी रानी अनन्त कुमारी अपने पति के इस व्यवहार से दु:खी थी। बिहारी जब वर्षासन लेने के निमित्त आगरे गए, तो उन्होने चौहानी रानी के कहने पर जयसिंह को प्रबोध कराने के लिए वहाँ से एक दोहा महाराज जयसिंह के पास भेजा, जिसमें लिखा था :

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ, आगे कौन हवाल ।।

इस अन्योक्ति गर्भित उपदेश से मिर्जा जयसिंह को प्रबोध हुआ और उनका प्रेमोन्माद उतर गया। चौहानी रानी ने प्रसन्न होकर 'काली पहाडी' ग्राम बिहारी को प्रदान किया।[३६] रत्नाकर जी ने इस घटना का काल सं० १६९२ माना है।

इस छन्द के सम्बन्ध में हरिचरणदास ने 'हरिप्रकाश टीका' में लिखा है कि "पहले बिहारी ने यही दोहा बनायो, पीछैं महाराज जयसिंह कह्यो सतसई बनावौ।" अन्य प्राचीन टीकाकारो ने इस बात का कोई उल्लेख नही किया है। प्राचीन टीकाओं में इसका अभिधेयार्थ ही मिलता है। वृन्दराय (रत्नाकर जी के अनुसार कृष्ण लाल)

और मानसिंह विजैगच्छ ने अपनी-अपनी टीकाओं में भी इस घटना का उल्लेख नहीं किया है। पं० हरिनारायण जी (जो किसी समय जयपुर राज्य के अफसर ड्योढी थे) के पत्र से जो विवरण रत्नाकर जी ने प्रस्तुत किया है, उसमें भी इस प्रणय-गाथा का कोई उल्लेख नहीं है। उक्त पत्र द्वारा यह तो ज्ञात होता है कि बिहारीदास प्रथम इनकी (रामसिंह की) माता चौहानी जी की सरकार में थे और फिर महाराजा के के भी कृपापात्र हो गए थे। रामसिंह जी ने काव्य विषयक बहुत सी बातें बिहारी जी से आगरे में सीखी थी।

'जयपुर का इतिहास' के लेखक श्री हनुमान शर्मा ने लिखा है कि "कहा जाता है कि महाराज से परिचय करने के लिए बिहारीदास जी ने 'नहिं परागु नहिं मधुर मधु' वाला दोहा महाराज के पास भेजा, तब उन्होंने उनको आदरपूर्वक रख लिया।" (पृ० १४३)

बाबू राधाकृष्ण दास ने इस घटना के सम्बन्ध मे लिखा है कि "हमे इसमे विश्वास नही होता, क्योंकि महाराज जयसिंह ऐसे स्त्रैण न थे, वह बडे गम्भीर, धीर और वीर थे।" जयसिंह के सङ्घर्षमय जीवन के साथ इस प्रकार की कल्पित प्रणय-कथा जोडकर उनके जैसे महान् राजनीतिक पुरुष के साथ न्याय नही किया जा सकता। मिर्जा राजा जयसिंह के महत्व को आँकते हुए यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "मुगलशाही सेना के साथ रहकर मध्य एशिया मे स्थित बलख से लेकर पूर्व मे मुंगेर तक साम्राज्य के हर एक भाग में जयसिंह ने युद्ध किया था। शाहजहाँ के दीर्घकालीन शासनकाल में कदाचित् ही ऐसा कोई वर्ष बीता था जब कि इस राजपूत राजा ने किसी युद्ध या चढ़ाई मे भाग न लिया हो और अपनी मशहूर सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप उसे कोई न कोई पदोन्नति न मिली हो। रणभूमि में प्राप्त विजयों से भी कही अधिक सफलताएँ उसे राजनीतिक क्षेत्र में मिल चुकी थीं। जहाँ कही भी कोई कठिन या चतुराईपूर्ण गूढ़ काम करना होता था वहाँ बादशाह, जयसिंह का मुँह ताकता था।"

विद्याभूषण पं० रामनाथ जी द्वारा प्रेषित विवरण १५ के अनुसार जब बिहारी के दोहे के प्रभाव से महाराज जयसिंह नवोढ़ा रानी के फंदे से मुक्त होकर बाहर निकल आए तो चौहानी रानी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनको बहुत कुछ पारितोषिक दिया और उस घटना का ज्यो का त्यो चित्र खिचवाकर अपने महल मे लगवा लिया। उस चित्र के निम्न भाग में वाम पार्श्व पर १६ और दक्षिण पार्श्व पर ९२ के अंक हैं। इन दोनों अंकों को मिलाने से १६९२ होता है। अतः यह अनुमान संगत प्रतीत होता है कि यह १६९२ उक्त घटना का संवत् है।[३०]

'बिहारी रत्नाकर के में इस चित्र के सम्बन्ध में रत्नाकर जी ने

लिखा है कि "उसमे (चित्र मे) उस समय का दृश्य दिखलाया गया है, जब बिहारी ने 'नहिं परागु नहिं मधुर मधु' दोहा लिखकर महाराज जयसिंह के पास भेजा था। आमेरगढ़ के विनायक पौरि तथा उसके सामने के प्रशस्त चबूतरे का दृश्य उसमें दिखाया गया है'। बिहारी का चित्र उसमें दो जगह है। एक तो बिहारी के जाते समय का चित्र है, जिसके पीछे लाल ढाल वाला एक मिरदहा जो, बिहारी को बुलाने गया था, खडा है और सामने कोई कर्मचारी बिहारी का स्वागत कर रहा है। दूसरे स्थान पर कतिपय और कर्मचारियो के साथ बिहारी का बैठा हुआ चित्र है। इसमे बिहारी उक्त दोहा लिखकर एक वर्षवर (खोजे) को देते हुए दिखलाए गए है और वह वर्षवर वह दोहा ले जाकर किसी दासी को दे रहा है।" आगे रत्नाकर जी ने प्रचलित कथा से तालमेल बैठाने के लिए लिखा है—"इस चित्र के विषय में जयपुर मे यह कहा जाता है जब बिहारी के दोहे के प्रभाव से राजा नवोढा रानी के प्रेमपाश मे मुक्त होकर बाहर निकल आए और अपना काम-काज करने लगे तो चौहानी रानी ने प्रसन्न होकर आज्ञा दी कि उस समय की घटना का ज्यों का त्यों चित्र बनाया जाय। बस, उसी आज्ञा के अनुसार उक्त चित्र तैयार किया गया। उसके नीचे के भाग में दोनो पार्श्वों पर दो-दो अंक लिखे हुए हैं, अर्थात् वाम पार्श्व पर १६ तथा दक्षिण पार्श्व पर ६२। इन चारों अंकों को मिलाकर हम इसको विक्रम सं० १६६२ अनुमानित करते हैं।"[३८] बिहारी रत्नाकर में उपलब्ध बिहारी का चित्र इसी विशाल चित्र की अनुकृति के आधार पर बनाया गया था। रत्नाकर जी ने इस घटना को स० १६६२ में घटित होना अनुमानित किया है, किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि उस समय जयसिंह आमेर में उपस्थित ही नहीं थे। 'मआसिरूल उमरा' के अनुसार ८ वे वर्ष (सन् १६३४, वि० सं० १६६१) बालाघाट की सूबेदारी (जो दौलताबाद और अहमदनगर आदि सरकारों मे विभक्त है) खानेजमा को मिली तो ये (जयसिंह) भी उनके साथ नियुक्त किए गए। उसी वर्ष एक हजारी मन्सब बढ़ने से इनका मन्सब पाँच हजारी सवार का हो गया। इसके अनन्तर ये दरबार आए। ६ वें वर्ष (सं० १६६२ वि०) खाने दौरा के साथ साहू भोसला को दंड देने पर नियत हुए। १० वे वर्ष यह दरबार आए। दक्षिण मे इन्होने अच्छा काम किया था, इसलिए बादशाह ने प्रसन्न होकर अच्छी खिलअत देकर अपने देश आमेर जाने की छुट्टी दी कि वहाँ कुछ दिन आराम करे।[३९]

ऊपर के विवरण से सिद्ध है कि जयसिंह सं० १६६२ में आमेर में नही थे। सं० १६६३ में वे अवकाश पाकर आमेर गए थे और एक वर्ष बाद ही उन्हें शुजा के साथ कंधार जाना पड़ा था।

'शिवाजी' में भी सर यदुनाथ ने लिखा है कि ' वे (जयसिंह आमेर

वर्ष की उम्र में ही पितृहीन होकर मुगलो की सेना (सन् १६१६ ई०) मे भर्ती हो गए। उसके बाद जहाँगीर की अन्तिम अमलदारी और शाहजहाँ के सम्पूर्ण शासन का इतिहास इनकी कीर्ति से उज्वल है। इधर पश्चिम में अफगानिस्तान के कंधार से लेकर उधर पूरब की ओर मुँगेर और उत्तर मे आक्स् नदी के किनारे से दक्षिण मे बीजापुर तक सब स्थानो मे मुगल फौज को संग लेकर लडे थे और सभी जगह उन्होंने नाम कमाया था। वे राजनीतिक चालें चलने में भी कुछ कम चालाक न थे। सब विपत्तिजनक और कठिन से कठिन कामो मे बादशाह, जयसिंह के ऊपर भरोसा करते थे।"[४०]

जयसिंह के प्रतापी और सघर्षरत जीवन के साथ मधुर, रसिकता से युक्त इस दोहे और घटना की कोई संगति नही दीखती। वास्तव मे इस दोहे (नहिं परागु नही मधुर मधु) का भाव बिहारी को सस्कृत और प्राकृत काव्य-परम्परा से मिला था। इस भाव के छन्द पूर्व और परवर्ती संस्कृत-काव्य मे विविध रूपों मे मिलते है। विकटनितम्बा, गोवर्धनाचार्य, पण्डितराज जगन्नाथ तथा बिहारी सभी 'गाहा सतसई' के इस भाव के छन्द से प्रभावित रहे है या परस्पर भावो का आदान-प्रदान किया है। 'गाहा सतसई' का छन्द इस प्रकार है :

जाव ण कोसविकास पावइ ईसोस मालईकलिआ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि॥ (५।४४)

अर्थात् 'जब तक मालती-कलिका का कोष कुछ बढ़ नहीं जाता, तब तक हे रसपान लोलुप भौरे, तुम मर्दन मात्र से ही सन्तोष कर रहे हो।'

'गाहा सतसई' का दूसरा छन्द यों है.

अविहत्तसंधिबन्धं पढमरसुब्भेअपाणलोहिल्लो।
उव्वेलिउं ण आणइ खण्डइ कलिआमुहं भमरो॥ (७।१३)

अर्थात् 'कली के प्रथम मकरन्द रस का लोभी भ्रमर उसका अविकसित सन्धि-बन्ध (मुँह का जोड) खण्डित कर रहा है, उसे विकसित होने देना वह नही चाहता।'

गोवर्धनाचार्य ने भी इसी भाव को आर्या मे लिखा है :

पिब मधुप ! बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि॥३६७

अर्थात् 'हे मधुप ! दूर से जिह्वाग्र भाग मात्र रख कर बकुल कली का रसपान करो। अधर-सम्पर्क से ही समाप्त हो जाने योग्य (अल्प) मकरन्द पर व्यर्थ मुंह न लगाओ (यह नायिका अत्यन्त सुरत क्लेश को न सह सकेगी)।'

विकटनितंबा का मुक्तक भी इसी प्रकार के भाव का आस्वादन कराता है। मुक्तक इस प्रकार है

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
मुग्धाम जातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ।।

अर्थात् 'हे भ्रमर ! अपने चपल मन को उपमर्दन (मसलना) सहने में समर्थ फूलों वाली लताओं में बहलाओ । नव मल्लिका की मुग्धा कली को जिसमे अभी पराग नही आया है, क्यो कष्ट दे रहे हो ?'

बिहारी का उक्त छन्द भी इसी परम्परागत कथन की भित्ति पर आधारित है । इस आधार पर यह स्वतः सिद्ध है कि लोक-प्रचलित सतसई प्रणयन की प्रेरक कथा कपोल-कल्पित एव सारहीन है । यह हो सकता है कि अपने काव्य का प्रथम परिचय बिहारी ने महाराज जयसिंह को इसी छन्द के माध्यम से दिया हो । वास्तव में बिहारी ने पूर्ववर्ती रसिक काव्यकारों की कथन-परम्परा में अपना भी कथन जोडा था । लोक-मानस प्रणय-कथाओं में विशेष आस्वाद भी लेता है । राजा और रानी की प्रणय-केलि के प्रति उत्कण्ठा के कारण ही वह कथा प्रचलित हो गई और उसे हिन्दी के विद्वानो ने सत्य मान लिया जिसका कोई भी सामंजस्य जयसिंह जैसे प्रतापी राजा के जीवन के साथ सम्भव नहीं है ।

बलख की घटना :

'बिहारी सतसई' के अन्तिम तीन दोहो में मिर्जा जयसिंह के पराक्रम पर कविवर बिहारीदास ने प्रकाश डाला है । जयसिंह ने औरंगजेब के साथ बलख (मध्य एशिया) की चढाई में भाग लिया था ।[४१] बिहारी ने जयसिंह द्वारा सेना को बलख से निकाल लाने की सराहना विशेष रूप से की है । इस घटना से सम्बन्धित बिहारी के तीन दोहे इस प्रकार हैं :

सामा सेन सयान की, सबै साहि कैं साथ ।
बाहुबली जयसाहि जू, फते तिहारैं हाथ ।। (७१०)
यौं दल काढे बलक तें, तैं जयसिंह भुवाल ।
उदर अघासुर कै परैं, ज्यौं हरि गाइ गुवाल ।। (७११)
घर घर तुरकिनि हिंदुनी, देति असीस सराहि ।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी जयसाहि ।। (७१२)

छन्द ७१२ के सम्बन्ध में 'बुन्देलखण्ड वैभव' में श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी ने लिखा है कि इस दोहे का सम्बन्ध सं० १७११ वाली दक्षिण की लड़ाई से है, तथा राय कृष्णदास ने लिखा है कि जयसिंह ने सं० १७११ (१६६५ ई०) में दक्षिण में युद्ध को रोककर शिवाजी और औरङ्गजेब के बीच जो सन्धि कराई थी, उस समय बिहारी दास ने यह दोहा कहा था । किन्तु यह दोनों विद्वानों का भ्रम है । वास्तव

में यह दोहा भी बलख की घटना से सम्बन्धित है जैसा कि टीकाकार मानसिंह विजैगढ़ के अर्थ से ज्ञात होता है। टीकाकार ने लिखा है :

दल्ली (दिल्ली) तथा आगरे तथा आंबेर के सिपाइन कै। घर घर प्रति तुरकनी तथा हिंदुनी स्त्री जस बषानु कर कर आसीस देति है।...अहो राजा जयसिंघजु हम्हारे धनी तुम्ह बुलष बषारा की मुहम तै जीद ते राष हम्हारी चादर चुरी सोहाग तुम्ह दीया है।"[४२]

सतसई का रचना-काल :

रत्नाकर जी ने बलख की घटना के वर्णन के आधार पर सतसई का रचना-काल सं० १७०४ के जाडे की ऋतु माना है।[४३] किन्तु अब्दुर्रज्जाक लिखित 'मआसिरुल उमरा' में जयसिंह का जो वृत्त मिलता है, उसके अनुसार मिर्जा राजा की पदवी पाने के बाद जयसिंह को सतत अनेक जिम्मेदारियाँ दी गई, जिनका विवरण इस प्रकार है : "१४ वें वर्ष (सन् १६४० ई०, सं० १६९७) मुरादबख्श के साथ काबुल में नियुक्त हुए। १५वें वर्ष मऊ दुर्ग विजय और कधार मे नियुक्त हुए। १६ वें वर्ष देश चले गए। १६४४ ई० में पुन: दक्षिण गए और २० वे वर्ष लौटे। इसी वर्ष औरङ्गजेब के साथ बलख की चढाई पर गए। २२ वे वर्ष कंधार की लडाई में सम्मिलित हुए। २३ वें वर्ष दरबार में आए और वर्ष के अंत में देश जाने का अवकाश लेकर चले और मार्ग में कामा पहाडियो के विद्रोहियो को दंड देने के लिए नियुक्त हुए और २५ वे वर्ष अर्थात् १७०८ मे औरङ्गजेब के साथ कधार की चढ़ाई में हरावल के अध्यक्ष बनाए गए।"

इस विवरण के अनुसार स० १७०६ के अन्त तथा सं० १७०७ मे जयसिंह आमेर में रहे और बलख के युद्ध का विशेष विवरण उसी समय वहाँ के लोगो को मिला होगा। इस आधार पर बिहारी द्वारा इसी समय सतसई को पूर्ण करने की सम्भावना युक्तिसंगत है। सं० १७०४ के जाड़ों में सतसई पूरी करने को जो बात रत्नाकर जी ने कही है, वह शुद्ध नही है। वास्तव मे सं० १७०७ में ही सतसई की रचना पूर्ण हुई थी।

मृत्यु-काल :

जिस प्रकार बिहारी की जन्म-तिथि अज्ञात है, उसी भाँति मृत्यु-तिथि भी। जो तिथियाँ अब तक घोषित की गई हैं, उनकी प्रमाणिकता पर प्रारम्भ मे ही अविश्वास किया जा चुका है। बिहारी अन्त समय तक आमेर में रहे अथवा जोधपुर में, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। अनेक भारतीय-कवियो की भाँति ही बिहारी ने भी अपने निजत्व को कृतित्व की गरिमा से ढँक दिया था।

सन्दर्भ-संकेत

(१) कविवर बिहारी, पृ० ३८२ (२) वही, पृ० ३४५ (३) वही, पृ० ३४६ (४) वही, पृ० ३४६ (५) बिहारी विहार, भूमिका पृ० ७ (६) भारतेन्दु, २० जनवरी सन् १८८६, पृ० १४६ (७) बिहारी विहार, भूमिका, पृ० ७ (८) बिहारी दर्शन (लोकनाथ द्विवेदी शिलाकारी,) पृ० १५ (९) कृष्णदत्त कवि की 'बिहारी की सतसई', पृ० ११४ (१०) हरिहर निवास द्विवेदी द्वारा लिखित पुस्तक 'मध्यदेशीय भाषा ग्वालियरी' की भूमिका, पृ० १३ (११) मान-कुतूहल, पृ० ६१ (१२) मध्यदेशीय भाषा ग्वालियरी, पृ० १ (१३) वही, पृ० २६ (१४) सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० १५१ (१५) वही, पृ० १५२ (१६) ब्रजभाषा, पृ० २१-२२ (१७) रीतिकाव्य संग्रह, पृ० २८१ (१८) सरस्वती, अक्टूबर सन् १९२६, पृ० ४१६-२०, ४२२ (१९) नागरी प्रचारणी पत्रिका, जनवरी सन् १९१६ (२०) कविवर बिहारी, पृ० ३२१ (२१) वही, पृ० ३२२ (२२) सरस्वती, अक्टूबर १९२६, पृ० ४१९ (२३) भारतेन्दु, सन् १८८६ (२४) कविवर बिहारी पाद-टिप्पणी, पृ० ३५६ (२५) वही, पृ० ३५६ (२६) वही, पृ० ३२९; हिन्दी साहित्य का इतिहास (आ० रामचन्द्र शुक्ल) पृ० २५८ तथा हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी (ले० डा० गणपतिचन्द्र गुप्त), पृ० ४०१ (२७) देखिए, टीकाकार का वक्तव्य बिहारी बोधिनी, अष्टम सस्करण स० २०१३, पृ० ४ (२८) कविवर बिहारी, पृ० —३३६ से ३४० (२९) महाकवि केशवदास, पृ० १० (३०) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, (ले० गोरे लाल तिवारी) पृ० १२६-१२७ (३१) वही, पृ० १३०

(३२) वृत्ति दई पुरुखानि की, देऊ बालनि आसु।
मोहि आपनो जानि कै, गंगा तट देउ बासु॥

(३३) केशव और उनका साहित्य, पृ० ५३ (३४) महाकवि केशवदास, पृ० १४ (३५) कविवर बिहारी, पृ० ३२९ (३६) वही (३७) बिहारी रत्नाकर, प्राक्कथन, चतुर्थावृत्ति (सं० २०००) पृ० ३२-३३ (३८) कविवर बिहारी, पृ० ३७६ (३९) मआसिरुल उमरा, अनु० ब्रजरत्नदास, प्रथम भाग, पृ० १५७ (४०) सर यदुनाथ सरकार : शिवाजी, पृ० १५४ (४१) मध्य एशिया का इतिहास, भाग २, पृ० १८९ (४२) बिहारी सतसई—टीका, मानसिंह बिजैगढ़ (श्रीमती कमला संघी की प्रति) (४३) कविवर बिहारी, पृ० ३७८।

बिहारी सतसई-अध्ययन की कुछ नवीन दृष्टियाँ

● डा० भगीरथ मिश्र

'अनेक सवाद' भरी बिहारी-सतसई के अध्ययन की एक लम्बी परम्परा है। हिन्दी का यह ग्रंथ सुदुर्लभ सौभाग्यशाली है जिसकी टीकाएँ और अनुवाद पहले ही संस्कृत और उर्दू में भी हो चुके हैं। परन्तु टीका, व्याख्या और अनुवाद की प्रगाढ़ परम्परा होते हुए भी, यह कहा जा सकता है कि अध्ययन सीमित क्षेत्र में ही होता रहा। आधुनिक शिक्षा-विकास के साथ-साथ साहित्य के अध्ययन के जो नवीन क्षेत्र उद्घाटित होते जा रहे हैं, उनमें भी हमारे प्राचीन काव्य, नूतन सम्भावनाओं से युक्त सिद्ध हो रहे है। ऐसा सिद्ध हो रहा है कि जो काव्य लोकप्रिय, स्मरणीय एवं युगान्तर स्थायी होता है, वह अपने अंतर्गत इन नूतन सम्भावनाओं को भी छिपाए रहता है। हिन्दी-साहित्य के प्रसंग मे यह बात दो अति प्रसिद्ध काव्यो, रामचरित मानस और बिहारी-सतसई के सम्बन्ध मे पूर्णतया सत्य है। रामचरित मानस जहाँ पहले धार्मिक और साहित्यिक महत्व का ग्रथ समझा जाता था, वही अब वह सांस्कृतिक, सामाजिक एव राजनीतिक महत्व का ग्रथ सिद्ध हो रहा है। इसी प्रकार बिहारी सतसई जो केवल रमणीय काव्य की दृष्टि से पढी जाती रही है, अब वह सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक विशेषताओ से सम्पन्न ग्रंथ स्पष्टतः सिद्ध हो रही है। अत हिन्दी-काव्यो का इन नवीन दृष्टियों से अध्ययन अपेक्षित है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी काव्य के गौरव की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए प्रतिष्ठित गौरव वाले साहित्यो की परम्परा मे उसके ग्रंथो के साथ हिन्दी ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन की भी आवश्यकता है। इन परम्पराओ और तुलनाओं के बीच रख कर ही हम राष्ट्रभाषा हिन्दी के काव्य का समुचित मूल्यांकन कर सकते हैं। ऐसे अध्ययन न केवल अधिक विश्वसनीय होते हैं, वरन् वे सत्कार्यों की रचना की प्रेरणा भी देते हैं।

लोक की सहज काव्य-प्रतिभा मुक्तक के रूप मे प्रकृत्या प्रस्फुटित होती है। साथ ही यह काव्य सहज स्मरणीय होने के कारण अधिक प्रचलित एव स्थायी होता है। बड़े-बड़े प्रबन्ध काव्य मौखिक रूप मे उतने दीर्घजीवी नही होते जितने छोटे-छोटे धार्मिक भावना, इहत्व या जीवनानुभव से संयुक्त मुक्तक होते हैं। इसके अतिरिक्त मुक्तक जहाँ बहुमुखोच्चरित हो सहज प्रचार पाते हैं, वहाँ दीर्घकाय प्रबन्ध सामान्यतया कठिनाई से ही इस सौभाग्य को प्राप्त करते हैं।

कला की भी दृष्टि से मुक्तक-काव्य मे अभिव्यक्ति-भंगिमा एवं चमत्कार की विशेषता प्रबन्ध की अपेक्षा अधिक रहती है। मुक्तककार जहाँ एक-एक शब्द को सँभालकर प्रयुक्त करता है, एक-एक वर्ण को सजा कर रखना और उसकी मात्रा तोलकर लगाता है तथा इस प्रकार एक दृष्टिपात मे ही अपनी पूर्ण कला की चमत्कृति की चकाचौंध दिखा सकता है, वहाँ प्रबन्धकार को कथा-प्रवाह और चरित्र-चित्रण के प्रति अधिक जागरूक रहने के कारण कला के प्रति अधिक सजग होने का अथवा चमत्कार-प्रदर्शन का अवसर उतना नही मिलता। वरन् वहाँ कुतूहल और भावना की तीव्रता के कारण कला की सूक्ष्मता और जटिलता समझने का धैर्य भी पाठक को नही रहता।

मुक्तक काव्य की सुन्दर परम्परा के साथ ही समस्यापूर्ति काव्य का भी विकास हुआ। मुक्तक काव्य का कलागत उत्कर्ष अपने एक विशिष्ट रूप में समस्या-पूर्ति काव्य में पाया जाता है जिसके अध्ययन की भी आवश्यकता है। मुक्तक का यह रूप सुभाषित, सूक्ति या चमत्कार काव्य के रूप मे आया है।

यह कहना भी अधिक संगत नहीं है कि संस्कृति, समाज एवं इतिहास का समावेश केवल प्रबन्ध काव्य में ही रहता है। बिहारी जैसे मुक्तककारो ने अपने दोहों में इन तीनों की विशेषताएँ भर दी हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृति चित्रण के कुछ दोहे निम्नांकित हैं :

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाय।
तरि संसार-पयोधि कौं, हरि-नावैं करि नाव॥
जप माला छापैं तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै रामु॥
तजि तीरथ, हरि राधिका-तनदुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि निकुंज-मग, पग-पग होतु प्रयागु॥

उपर्युक्त दोहो मे वेश-भूषा एवं अन्य बाह्याडम्बरों को छोड़ कर भक्ति भाव को ग्रहण करने का उपदेश है और उसमे भी सर्वोपरि है प्रेमा-भक्ति का संकेत। यह प्रेम भावना भारतीय सस्कृति का महत्वपूर्ण अंग थी। इसी प्रकार बिहारी के दोहो मे सामाजिक जीवन से सम्बन्धित सूक्तियाँ देखिए :

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोडियै, खोटे ग्रह जपु दानु॥
अरे परेखौ को करै, तुही बिलोकि बिचारि।
किहिं नर किहिं सर राखियै, खरे बढ़ैं परिपारि॥
कहैं यहै श्रुति सुम्रत्यौ, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकही, पातक राजा रोग॥

करि फुलेल कौ आचमन, मीठौ कहत सराहि ।
रे गन्धी, मति अंध तूं, अतर दिखावत काहि ।।
रह्यौ न काहू काम कौ, सेत न कोऊ लेत ।
बाजू टूटे बाज कौ, साहब चारा देत ।।

उपर्युक्त दोहो मे सामाजिक नीति की सूक्तियाँ है, परंतु वे सब समकालीन समाज के विशिष्ट प्रसंगों से भी सम्बंध रखती है । इनमें मध्ययुगीन समाज की दशा के अनुरूप सूक्तियाँ दीख पड़ती हैं ।

इसी प्रकार इतिहास की घटनाओ और व्यक्तियो से सम्बन्धित दोहे भी बिहारी के अनेक है । यहाँ तक कि जयपुर के आस-पास तो लोगों का विश्वास है कि उनके अधिकाश दोहे किसी न किसी सामाजिक या ऐतिहासिक घटना से सम्बन्ध रखते हैं और उन्ही घटनाओ का प्रतिबिम्ब होने के कारण बिहारी के दोहो का दरबार में इतना आदर होता था । इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले बिहारी के कुछ प्रसिद्ध दोहे निम्नांकित है :

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल ।
अली कली ही सौ बिध्यौ, आगे कौन हवाल ।।
स्वारथ सुकृतु न श्रम वृथा. देखु बिहंग बिचारु ।
बाज पराये पानि परि, तू पच्छीन न मारु ।।
सामाँ सेन सयान की, सबै साहि कै साथ ।
बाहुबली जगसाहि जू, फते तिहारै हाथ ।।
यौं दल काढे बलक तें, तैं जयसिंह भुवाल ।
उदर अघासुर कैं परैं, ज्यौं हरि गाइ गुवाल ।।
घर-घर तुरकिनि हिंदुनी, देति असीस सराहि ।
पतिनु राखि चादर, चुरी तै राखी, जयसाहि ।।

उपर्युक्त उदाहरण इस बात को प्रमाणित करने के लिए दिए गए हैं कि बिहारी—जैसे मुक्तककारों की रचनाओ का अध्ययन सास्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि दृष्टियो से भी किया जा सकता है ।

बिहारी के दोहों के इतने अधिक प्रभावशाली होने का एक प्रमुख कारण उनमें समाविष्ट नाटकीय तत्व हैं । ये तत्व विशेष रूप से उनके रचनात्मक मुक्तकों मे मे देखे जा सकते हैं । मुगल-शासन काल में नाटक-रचना को हतोत्साहित किया गया । यही कारण है कि उस समय के हिन्दी-साहित्य में भी नाटक-रचना सुदुर्लभ है । ऐसी दशा में कवियो की नाटकीय प्रतिभा प्रबन्ध-काव्यो, पदों एवं मुक्तकों मे प्रस्फुटित हुई । इन्हीं काव्यों को पढ कर या लीला-रूप मे अभिनय कर जन सामान्य ने अपनी नाटकीय अभिरुचि की तुष्टि की । अतः सूर, तुलसी बिहारी- देव- पद्मा-

कर जैसे महाकवियो की रचनाओ मे नाटकीय तत्वो का समावेश देखने को मिलता है। इन रचनाओं की लोकप्रियता का भी यही एक प्रधान कारण था।

नाटकीय तत्व प्रबन्ध काव्यों में तो कथातत्व के साथ सहज ही समाविष्ट हो सकते हैं, परन्तु मुक्तक काव्यो मे समाविष्टीकरण कुछ कठिन कार्य है। फिर भी इस दिशा में बिहारी को अद्वितीय सफलता मिली है। नाटकीय विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने लिखा है :

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम् ।।१।७

इससे स्पष्ट है कि अवस्थाओं की अनुकृति, रूप-योजना, चित्रात्मक वर्णन नाटक की विशेषता है। हम कह सकते है कि किसी व्यक्ति का स्वरूप, क्रियाकलाप, भावानुभूति अथवा किसी घटना को प्रत्यक्ष कर सजीव रूप से सामने प्रस्तुत कर देना नाटकीय विशेषता है। ऐसी दशा में हम निश्चयत: कह सकते है कि बिहारी के मुक्तक नाटकीय विशेषताओ से सम्पन्न हैं। इन विशेषताओ से युक्त कुछ उदाहरण देखिए :

अंग-अग नग जगमगत, दीपसिखा-सी देह।
दिया बढाये हूँ रहै, बडौ उज्यारो गेह।।
छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता-रंग।।
मिलि चन्दन बेन्दी रही, गोरैं मुँह न लखाइ।
ज्यौं-ज्यौ मद लाली चढ़ै, त्यौं-त्यौ उघरति जाइ।।

उपर्युक्त प्रकार के बिहारी के अनेक दोहे हैं जिनमे रूप-लावण्य का चित्रण चटकीले ढङ्ग पर किया गया जिससे सामने सजीव लावण्य-मूर्ति अंकित हो जाती है। इनसे भी अधिक निखरे हुए बिहारी के वे चित्र हैं जो क्रिया-कलाप को प्रत्यक्ष करते हैं। उदाहरणार्थ देखिए :

चितई ललचौहैं चखनि, डटि घूँघट पट माँह।
छल सौ चली छुवाइ कै, छिनकु छबीली छाँह।।
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत लजियात।
भरे मौन मैं करत हैं, नैननु ही सब बात।।
मुँह धोवति एड़ी घसति, हसति अनगवति तीर।
घसति न इन्दीबर-नयनि कालिन्दी के नीर।।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोहो में अभिनय की विशेषता है जो नाटक का गुण है। बिहारी इनके अभिनयात्मक चित्रों को भुलाया नहीं जा सकता है। साथ ही यह भी सत्य है कि बिहारी-सतसई ऐसे क्रियाकलापमय चित्रों से भरपूर है।

ये क्रियाकलाप प्राय: विभाव या अनुभाव-रूप में है। इनके साथ-साथ ऐसे भी दोहे हैं जिनमें भाव प्रत्यक्ष हुआ है। दो-एक उदाहरण देखे जा सकते हैं :

छला छबीले लाल कौ, नवल नेह लहि नारि।
चूमति, चाहति, लाइ, उर पहिरति धरति उतारि ।।
नासा मोरि, नचाइ जे, करी कका की सौह।
काँटे-सी कसकैं ति हिय, गडी कटीली भौंह ।।

इन दोहो मे प्रेम (रति) भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति है जो नाटकीय विशेषता के साथ प्रत्यक्ष होती है। भाव के इस प्रकार के प्रत्यक्षीकरण के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसके साथ ही साथ घटनाओ को सजीव रूप से स्पष्ट करने वाले दोहे भी बिहारी-सतसई मे अनेक हैं; जैसे :

कुंजभवन तजि भवन कौं, चलियै नन्दकिसोर।
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहुँ ओर ।।
घर-घर तुरुकिनि हिंदुनी, देति असीह सराहि।
पतिन राखि चादर, चुरी तैं राखी, जयसाहि ।।
अहे दहेडी जिनि धरै, जिनि तू लेहि उतारि।
नीकैं ही छीकै छुवै, ऐसै ई रहि नारि ।।

इन समस्त उदाहरणो से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि बिहारी के काव्य मे नाटकीय विशेषता विद्यमान है जो उसे इतना प्रभावशाली बनाती है।

मुक्तक काव्य मे इस नाटकीय विशेषता को लाने के लिए भाषा पर अधिकार चाहिए। और यह मानना पड़ेगा कि बिहारी को वह अधिकार विलक्षण रूप से प्राप्त है। उन्होने इसी अधिकार से जगमगाती शब्द योजना एवं उक्ति-वैचित्र्य का सम्पादन किया था। सतसई के सात सौ दोहो मे ही उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द-भण्डार विशाल है। ठेठ ग्रामीण शब्दों से लेकर उत्कृष्ट साहित्यिक शब्दावली का प्रयोग सतसई में हुआ है और दोनो ही प्रकार की प्रयुक्त शब्दावली मे एक मोहक आभा और रमणीयता विद्यमान है।

बिहारी ने अपने शब्दो के बहुविध प्रयोग से वैचित्र्य सम्पादन किया है। कही तो वह पुनरुक्ति रूप मे है और कही अनेकार्थी शब्द प्रयोग रूप मे। कही विरोध द्वारा वैचित्र्य है, तो कही असंगति का चमत्कार है। उदाहरणार्थ :

सालति है नटसाल सी, क्यौ हूँ निकसति नाहि।
मनमथ नेजा नोक सी, खुभी-खुभी जिय माहि ।।
हरि-हरि बरि-बरि उठति है, करि-करि थकी उपाइ।
[illegible]

और आपु कनीनिकनु, गनी धनी-सिरताज।
मनी धनी के नेह की, बनी छनी पट लाज॥
खेलन सिखये अलि भले, चतुर अहेरी मार।
काननचारी नैन-मृग, नागर नरनु सिकार॥

बिहारी के शब्द-प्रयोग के साथ-साथ शब्द-मैत्री, वर्ण-मैत्री, वर्णावृत्ति आदि के चमत्कार भी उनके दोहों में एक चमक भर देते हैं और बहुत से लोग उनके काव्य पर इन्हीं विशेषताओं के कारण लट्टू हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये विशेषताएँ सर्व प्रथम प्रभाव डालती हैं और यदि इस वर्ण-शब्द सौष्ठव के साथ-साथ अर्थगत विशेषता भी हुई, तो काव्य की उत्कृष्टता असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाती है। जैसे :

सायक सम मायक नयन, रंगे त्रिबिध रंग गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात॥

उपर्युक्त दोहों में 'यक' और 'जलजात' शब्दों के विविध प्रयोगों का चमत्कार है। अर्थ के अतिरिक्त शब्द का भी विलक्षण आकर्षण है परन्तु इससे भी कठिन 'ट' जैसे वर्णों की आवृत्ति का चमत्कार है। उसका भी एक उदाहरण प्रस्तुत है :

लटकि-लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकुट की छाँह।
चटक भर्‌यौ नटु मिलि गयौ, अटक भटक वन माँह॥

उपर्युक्त कोमला और परुषा वृत्तियों के साथ एक उपनागरिका का उदाहरण तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है :

रस सिंगार मंजनु किये, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु-रंजनु हूँ बिना, खंजनु गंजनु नैन॥

यह बिहारी के वर्णों एवं शब्दों की योजना, विशिष्ट चमत्कार का साधन है। बिहारी के अनुकरण पर अब इसी प्रकार का चमत्कार दो-एक दोहों में दिखा देना और बात है, पर हिन्दी काव्य के प्रारम्भिक सतसई-ग्रन्थों में उपर्युक्त चमत्कार लाना बिहारी की मौलिकता है। शब्द-प्रयोग के प्रसंग में बिहारी का शब्द-निर्माण भी बड़ा वैशिष्ट्य पूर्ण है। दोहे को साँचे में ढालने के लिए तथा वर्णमैत्री और शब्द-संक्षेप की आवश्यकतावश बिहारी ने शब्दों के नवल रूपों की रचना की है। जैसे :—झुलमुली, टलाटली, चितपटपट्टी, उडाइक, सायक (सायंकाल का संक्षेप), कैबा (के बाद का संक्षेप), रचौहैं (रचाने वाले), लगौहैं, चोरटी, गोरटी, बड़बोली आदि।

ऐसी बात नहीं कि बिहारी ने शब्दों को विकृत न किया हो। अर (अड), बर (बल), नटसाल, रोज (रोजा), अनही चितै, मोषु (मोक्ष), संक्रोनु (संक्रमण), कक़ै (करिकै), असोस (अशोष्य), मुत्तिय (मौक्तिक) आदि अनेक उदाहरण बिहारी

द्वारा प्रयुक्त विकृत शब्दों के दिये जा सकते हैं। अतः भाषा की दृष्टि से भी बिहारी की सतसई का अध्ययन बड़ा मनोरंजक है।

इस प्रकार हम देखते है कि 'बिहारी-सतसई' का काव्यगत अध्ययन तो हुआ है; परन्तु इस ग्रन्थ का सामाजिक, ऐतिहासिक, सास्कृतिक तथा नाटकीय विशेषताओ एवं भाषा विश्लेषण की दृष्टियों से भी अध्ययन, किया जा सकता है। इस प्रकार के महत्वपूर्ण साहित्यिक ग्रंथों के अध्ययन काव्य के अतिरिक्त ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में हमारी जानकारी का विस्तार करने वाले होंगे।

बिहारी सतसई में समाज चित्रण

• डा० रमाशंकर तिवारी

बिहारी की सतसई दीर्घकाल से सहृदय काव्यानुरागियो के निकट मनन एवं आस्वादन की वस्तु रही है। अपने समय तक विकसित होती हुई, शृङ्गार-धारा की सम्पूर्ण भँवरो को बिहारी ने अपने काव्य-सागर में एक साथ प्रवाहित किया, जिसका मनोरम परिणाम यह हुआ है कि 'सतसई' मे अनेक सवाद भर गए हैं।[1] सस्कृत में इन सवादो की अनेकता ही बिहारी की लोकप्रियता अथवा विख्याति का वास्तविक कारण रही है। यह तो हम नही कहते कि बिहारी ने इन 'सवादो' मे समाज-चित्रण का आस्वाद भी सचेष्ट भाव से सन्निविष्ट किया था, लेकिन यह भी सही है कवि अपनी रचनाओ में जाने-अनजाने, ऐसी सामग्रियाँ समाविष्ट कर देता है जो तत्कालीन समाज की जीवन-धारा के भिन्न-भिन्न पार्श्वों पर, परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष हैं। जिनके आधार पर तत्कालीन समाज की अवस्था की एक झाँकी प्रस्तुत की जा सकती है, विभिन्न शीर्षकों मे वही प्रयास करना यहाँ अभीष्ट है।

नैतिक अवस्था :

बिहारी ने अपने युग की नैतिक अवस्था की ओर यह कहकर प्रचुर व्यंजना गर्भित संकेत किया है कि समय 'पलटने' से प्रकृति भी पलट जाती है तथा कपूत कलिकाल के प्रभाव के कारण सभी लोग अपनी चाल अथवा आचरण-मर्यादा का त्याग कर देते हैं। 'सतसई' काल के लोगो का नैतिक धरातल गिरा हुआ है। धन संग्रह के लोभ में समाज के कुछ वर्ग बुरी तरह से अधिग्रस्त है। दुर्दशा सहन कर भी वे धन जोडने में प्रवृत्त हैं, तथा सन्तोष न रखते हुए, कुमार्ग-सुमार्ग का ध्यान किए बिना, अर्थ-लिप्सा की तुष्टि मे निरत हैं। अर्थपरायणता के प्रति प्यासे की कृपणता बढ गई है।[2] समाज में ऐसे भी कृपण गृह-स्वामी मौजूद है जो नवागता वधू को भीख देने का काम सौंप देते हैं—इस अभीष्ट से कि उसके हाथ छोटे हैं और अधिक अन्न इसके द्वारा खर्च न हो सकेगा। किन्तु कृपणो को छकाने वाले ऐसे मनचले व्यक्ति भी उपलब्ध हैं जो अपनी रूपलिप्सा की तृप्ति के निमित्त, आवश्यकता न होते हुए भी, भिखारी बन कर उस सुन्दरी से भीख लेने आते हैं।

झूठ बोलने का प्रचार अधिक है।[3] धर्म-परायण समझे जाने वाले पौराणिकों एवं ज्योतिषियों का जीवन भी आचरण की दीनता से असम्पृक्त नहीं है। पुराण बाँचने वाले पंडित दूसरों को तो परदारागमन से निवृत होने का उपदेश देते हैं, किन्तु स्वयं अन्य नारियों में अनुरक्त हैं।[4] को लिखकर धर्माधर्म

का ध्यान रखे बिना तथा बिना यह बात स्मरण रखे कि उनकी शील-च्युति गणना से प्रकाश में आ जाएगी, अन्य पुरुषों के गर्भ धारण कर लेती है।[५] वैद्य दूसरो को पुरुषत्व वर्द्धनार्थ पारे की भस्म देते हैं, लेकिन स्वयं नपुंसकता का निवारण करने मे असमर्थ है।[६] देवर-भौजाई का संबंध सर्वदा से अत्यंत नाजुक रहा है। सतसई में एक ओर ऐसी कुलांगनाएँ है जो देवर के अनुचित प्रेम-प्रदर्शन के कारण लज्जा एवं शील से सूखती जा रही है।[७] तो दूसरी ओर ऐसी मनचली भावजे भी हैं जो देवर मे अनुरक्ति रखती और प्रसन्न होती है।[८] सन और अरहर के खेत में प्रेमी-प्रेमिका चुपके से मिलते हैं और संकेत स्थल नष्ट होने पर मानसिक संताप से ग्रस्त हो जाते हैं।[९] यद्यपि गाथा सतसई में भी ऐसे प्रसंग आए है जिनका अनुकरण बिहारी द्वारा किया गया कहा जा सकता है, तथापि बिहारी ने प्रकृत अवस्था का चित्रण किया है—ऐसा हमारा अनुमान है क्योंकि आज भी ग्रामीण अंचलो मे प्रेमाभिव्यक्तियाँ देखी और सुनी जाती है।

समाज में अंध विश्वास व्याप्त था। स्त्रियाँ माथे पर काजल का टीका इस लिए लगाती थी कि उन पर दूसरो की कुदृष्टि का प्रभाव न पडे।[१०] जादू-टोना में व्यापक विश्वास था। चोरी का पता लगाने के लिए जल से भरी हुई मंत्र की कटोरी (कविलनवी) चलाई जाती थी[११] गुडहर के फूल के विषय में यह विश्वास था कि वह जिस घर में पहुँच जाता है, उसमें कलह अवश्य होती है।[१२] साही नामक जानवर के काँटे के विषय में आज भी लोकाचलो मे ऐसा ही विश्वास प्रचलित है। बाँई आँख का फड़कना नारियो के लिये शुभ-सूचक समझा जाता था तथा मलार गाने से पानी बरसने की बात मे विश्वास किया जाता था।[१३] यदुनाथ सरकार ने अंध विश्वासों के व्यापक प्रचलन का उल्लेख किया है। बिहारी शक्ति मानों एवं श्रीमानों के मर्यादाहीन आचरण की बात कहते हैं क्योंकि तत्कालीन वातावरण (जलवायु) से बड़े-छोटे सभी प्रभावित हो गए है।[१४] इटैलियन यात्री मैनूची ने प्रत्यक्ष अनुभव से, मुगल शासकों के दुर्वृत्तो का जो वर्णन किया है, उससे बिहारी के इस सूत्रात्मक संकेत को अनुमोदक मिलता है।

धार्मिक अवस्था :

नैतिक अवस्था से मिलती-जुलती ही धार्मिक अवस्था सतसई के समाज में चित्रित हुई है। धर्म अवनति-ग्रस्त हो चला है तथा सभी अपने-अपने मतों की श्रेष्ठता प्रतिपन्न करने में व्यस्त हैं।[१५] निर्गुण और सगुण, दोनों प्रकार की उपासनाएँ जनता मे प्रचलित है।[१६] किन्तु धर्म की मूल भित्ति, सत्यानुराग एवं सत्याचरण से लोग विमुख हो गए है, तथा भक्ति, के वाह्य प्रतीको, जपमाला, तप्तमुद्रा, तिलक इत्यादि से चिपके हुए हैं[१७] आत्म-प्रवचना के साथ धर्म के हिमायती लोक-प्रवचना

में भी प्रवृत हो गए हैं। भगवान् के प्रति नैष्ठिक आत्म-समर्पण की भावना सर्वथा विलुप्त हो गई है। जिसका संकेत बिहारी की, श्री कृष्ण की शरण मे अंगीकृत होने की निष्ठामयी प्रार्थनाओं में मिलता है। यहाँ हमारा विनम्र कथन यह है कि मैं बिहारी की भक्ति भावना की सच्चाई मे विश्वास करता हूँ कि (इन कवियो के) विलास जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि वे भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। फिर भी समाज में ऐसे साधु-सन्त भी वर्तमान थे जो असीम शारीरिक यातनाओं को सहन कर आत्मा एवं परमात्मा दोनों की तुष्टि का विधान करते थे। ग्रीष्म के जलते उत्ताप मे पंचाग्नि सेवन करना एक ऐसा ही प्रयत्न था।[१८] मुसलमान फकीरो मे भी एक विशिष्ट समुदाय था जिसके अनुवर्ती, हिन्दुओं के औघड़ो तथा अलखियो की भाँति, कौड़ों की लड़ी तथा लोहे की साकड़ो से अपने शरीर कसे रहते थे,[१९] ये "मलिंग" कहलाते थे और एकांत में मौनावलम्बन पूर्वक ईश-ध्यान में निमग्न रहते थे,[२०] जिससे जान पड़ता है कि लोग ज्योतिष की इन गणनाओं में आस्था रखते थे। तथापि, मिथ्या दंभ एव कपट धर्म की नींव को चाल रहे थे—ऐसा अनुमान करना संगत प्रतीत होता है।[२१]

लोकरीति :

उपर्युक्त नैतिक तथा धार्मिक अवस्था की अनेक बातें, न्यूनाधिक रूप में, जैसे वर्तमान समय मे भी मिलती है, वैसे ही "सतसई" मे चित्रित लोकरीति में हमें अपने ही समाज का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। बिहारी की नायिकाएँ गणेश चतुर्थी का व्रत मनाती हैं जिसमे दिन भर निर्जल एवं निराहार रहकर रात्रि में चन्द्र दर्शन करती और अर्घ्य देती हैं।[२२] भाद्र पक्ष के शुक्लपक्ष की हरितालिका तीज के मनाने तथा स्त्री-पुरुषो के देव दर्शन के निमित्त मंदिरो मे साथ-साथ जाने का भी उल्लेख प्राप्त है।[२३] नई दुलहिनों की मुँह दिखाई की प्रथा भी आजकल के ही समान थी।[२४] नव-बालाएँ शील-संकोच के कारण पतियो से प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं कर सकती थीं तथा नैहर में तो प्रिय-दर्शन और भी कठिन हो जाता था।[२५] विवाह पाणि ग्रहण के द्वारा सम्पन्न होता था। बिहारी के वर-वधू हाथ पर हाथ रखने के साथ ही अपने हृदयो का अदान-प्रदान कर लेते हैं।[२६] "सतसई की नारियाँ महावर लगाने के पूर्व या ऐसे भी, एड़ियों को मलने के लिए झाँवे का प्रयोग करती हैं।[२७] आज भी ऐसी प्रथा ग्रामीण बालाओं मे पाई जाती है। विधवा होने पर हिन्दू स्त्रियों के चूड़ी और मुसलमान स्त्रियों के चादर उतारने का उल्लेख उपलब्ध होता है।[२८] पितृपक्ष में पितरों को श्राद्ध देते समय कुछ अन्न कौवो के लिए निकाल दिया जाता है, यह प्रथा उस समय भी लोक प्रचलित थी।[२९] बिहारी ने यह भी

संकेत किया है कि ससुराल मे रहने वाले जामाता उपहास के आस्पद समझे जाते थे।[३०] सम्भव है, इसमे उनका अपना व्यक्तिगत अनुभव भी व्यंजित हो।

आर्थिक एवं राजनीतिक अवस्था :

आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियो पर प्रकाश डालने वाले संकेत अथवा स्पष्ट कथन भी "सतसई" मे उपलब्ध होते हैं। बिहारी ने मुगल नरपतियों तथा उनके अधीनस्थ नवाबो और सामन्तो के दोहरे शासन का उल्लेख किया है। जिससे प्रजा अत्यन्त कष्ट अनुभव कर रही थी।[३१] पातक और रोग के समान राजन्य शक्ति का प्रहार दुर्बल एवं निर्धन जनता पर ही पडता था।[३२] सामन्तीय वर्ग की आर्थिक अवस्था सामान्यत अच्छी थी, किन्तु अधिकाश हिन्दू अधीशो की आर्थिक दशा पतनोन्मुख हो चली थी, बिहारी ने जो वसन्त के विलोम एव "अपत कटीली डार" का कथन किया है, उससे इस अनुमान को प्रश्रय मिलता है कि राजपूत रजवाडो की स्थिति प्रशासनिक दृष्टि से ही नही, अपितु आर्थिक दृष्टि से बिगड़ती जा रही थी।[३३] गाँवो मे धोबी, गदहो पर बोझ ढोने वाले तथा कुम्हार बसते थे जो अत्यन्त गरीब थे,[३४] तथा सर्वथा अशिक्षित होने के कारण कला इत्यादि जीवन के सुसंस्कृत व्यापारो से पूर्णत अनभिज्ञ थे।[३५] ग्रामीण लोग चरखा चला कर अपनी दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति का प्रयास करते थे।[३६] जैसा कि नारी के परिधान-प्रसाधन वाले प्रसंग मे हमने आगे दिखाया है, "सतसई" के समाज मे आर्थिक दृष्टि से चार स्पष्ट वर्ग अनुमानित किए जा सकते है। प्रथम वर्ग राजन्य समुदाय का प्रतीत होता है, द्वितीय सामन्तो का तथा तृतीय सामान्य मध्यवित्त वालो का वर्ग ज्ञात होता है। चतुर्थ श्रेणी में वे लोग आते हैं जो नितान्त निर्धन तथा किसी प्रकार विकास की आदिम अवस्था मे कालयापन करते प्रतीत होते है। सामन्ती वर्गों के प्रासादो के साथ-साथ साधारण जन-समुदाय के टाटी और फूस मे निर्मित घरों का उल्लेख भी बिहारी ने किया है, यद्यपि उनमें भी प्रेमान्तर की लीला चलती है।[३७] शासकीय एवं सामन्ती वर्गों मे सुरा एवं पान के ऊपर धन व्यय किया जाता था, जब कि सामान्य मध्यवर्गी लोग तम्बाकू पीने के साथ-साथ अपने प्रेमिकाओ के मन भी पी जाते थे—"मो मनु कहा न पी लियो, पियत तमाकू लाल।"

"सतसई" के अनेक दोहो से यह ज्ञात होता है कि साधारण ग्राम्य परिवारो के व्यक्ति आर्थिक कारणो से परदेश जाते थे।[३८] लेकिन यात्रा एवं संचार की सुरक्षा का कोई व्यवस्थित प्रबन्ध नही था। मार्ग मे ठगो और डाकुओ का आतंक व्याप्त था, जो यात्रियों को गड्ढे मे गिरा कर जान मे मार डालते थे।[३९] "बैरगिया नाला [illegible] जोर" की कहानी अभी भी हमे स्मरण है।

गुण ग्राहकता :

यद्यपि बिहारी को प्रचुर राज-सम्मान प्राप्त था तथा उनके दोहों की यथेष्ट अभिशंसा भी हुई थी, तथापि वे अपने समाज की गुण ग्राहकता से संतुष्ट नही थे। जिस अर्थ लोभ एवं सामान्य संकुचित तथा विकृत मनोभावना की व्यंजना अन्य उपर्युक्त प्रसंगों में हुई है उसके आलोक में गुणियो एवं कलावन्तों के समुचित सम्मान की आशा नहीं ही करनी चाहिए। बिहारी ने तत्कालीन "दानियो" की कृपणता एवं अगुणग्राहकता का उल्लेख भी किया है।[४०] गुणियों का निरादर तथा मूर्खों का समादर उस युग की मन. स्थिति पर संकेतपूर्ण प्रकाश डालता है।[४१] जिनसे हानि पहुँचने की आशंका होती थी, उन्ही का समाज मे सम्मान था और साधु स्वभाव सज्जनो की उपेक्षा होती थी।[४२] जान पडता है, कवियो एवं कलाकारो का सम्मान भी पूर्वापेक्षा घट गया था। उन्हे परिवर्तित परिस्थितियों मे गँवारो के मध्य रहना पडता था जो अशिक्षित एवं असंस्कृत होने के कारण कला एव कविता का आस्वादन नही कर सकते थे तथा "नागरता" के नाम पर ताली बजा-बजा कर हँसते थे।[४३] बिहारी ने "बहार" के बीतने और गुलाब मे पत्रविहीन कँटीली डार के बच रहने का जो उल्लेख किया है, उससे यह अनुमान करना असंगत नही होगा कि कलावन्तो के आदर एवं सम्मान के दिन व्यतीत हो गए थे तथा उन्हे अब ऐसे ग्रामीणो का मुँह ताकना पडता था जो गुलाब के इत्र को हाथ मे लेकर सूँघते-सराहते थे और फिर मौन ग्रहण कर लेते थे।[४४] बिहारी ने इस विषय के एक से अधिक दोहो मे गँवारों और नागरों का साथ-साथ इस प्रकार उल्लेख किया है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि नगरो और गाँवों में पार्थक्य की खाई दिनानुदिन चौडी होती जा रही थी, तथा कुछ हालतो मे एवं कला का मूल्य समझने पर भी, ग्रामीण इस लिए कलावन्तो की ओर से उदासीन थे अथवा उन्हे उपेक्षा के भाव से देखते थे कि वे गुणी लोग नगर-वासियो तथा शिष्ट संभ्रान्त समुदायो के हृदय विहीन, लोक-निरपेक्ष विलास-प्रमोद के प्रतीक अथवा प्रवक्ता थे।[४५] कुछ कलाकार ऐसे भी थे जो अपने सरंक्षकों की स्थिति बिगडने पर भी उनसे लिपटे हुए थे—इस आशा मे कि समय चक्र में परिवर्तन होगा और उनके सरंक्षकों की स्थिति सुधरेगी तथा उन्हे पुनः सम्मान प्राप्त होगा —"ह्वै है फेरि बसंत ऋतु इन डारनु वे फूल ॥"

आमोद-प्रमोद एवं विलास-सजावट :

बिहारी का युग, वैभव एवं विलासिता का प्रकर्ष-काल है। इटैलियन यात्री मैनूची ने शाहजहाँ के दरबार का प्रत्यक्ष वर्णन करते हुए मुगल राजमहलो मे अनेक प्रौढ़ा स्त्रियों एवं योगबालाओ के रखे जाने का वर्णन किया है जिन्हे बादाम चश्म, सुखदेन पियार नौशावह बामों (मदिरा पीने वाली) नसीमतन बानो (रजत वर्ण वाली),

माणिक बानो (माणिक्य के रंग वाली) इत्यादि उपाधियों से विभूषित किया जाता था। बिहारी ने सखियों, दूतियों एवं सपत्नियों तथा मदिरा पान इत्यादि विलास-व्यापारों का जो वर्णन किया है, उसमे—परम्परागत शृङ्गार-वर्णन के अनुकरण के अतिरिक्त उस युग का स्पष्ट प्रतिबिम्बन भी हुआ है। रंगो की छटा और मोहक माधुरी के अनेक चित्र "सतसई" में अंकित हुए है जो तत्कालीन राजन्य एवं सामन्ती वर्गों की रुचि पर आलोक डालते हैं। राजप्रासाद और धनिको के सदन फानूस के दीपक की ज्योति से जगमगाते रहते थे। उसी दृश्य से, अनेक स्त्रियो के बीच में बैठी हुई अपनी नायिका की रूपकांति को फानूसो से घिरे हुए दीपक की प्रभा से तुलना देने की प्रेरणा बिहारी को मिली है।[४६] श्रीमानो के उद्यानो मे किसी ऊँचे स्थान से जल का झरना तथा विस्तृत प्रवाह गिराया जाता था जिसे "जलचादर" कहते थे। इस "जलचादर" के पृष्ठ मे कभी-कभी गवाक्ष बने होते थे जिनमे रात्रि के समय दीपको की पंक्ति जला दी जाती थी। इस रमणीय दृश्य से प्रेरणा ग्रहण कर, बिहारी ने सहज-श्वेत पँच तोलिया साडी के भीतर से अपनी कोमलांगी नायिका की तनद्युति के जगमगाने का मोहक चित्र अंकित किया है।[४७] सम्भ्रान्त परिवारों मे चित्रशाला होती थी जिसमे नाना-प्रकार के चित्र टंगे होते थे।[४८] उशीर की रावटियाँ बनी होती थी। जिसमे ग्रीष्म के उत्ताप से ऐश्वर्यवान् लोग शरण लेते थे।[४९] नल के सहारे फौव्वारो का जल ऊपर की ओर गिराया जाना भी धनिको का एक प्रमुख विलास-उपकरण था।[५०] नृत्य, संगीत, कवित्व, एवं सरस रतिरंग का निर्बाध सेवन एक साथ चला करता था। बिहारी ने जो तन्त्रीनाद कवित्त रस इत्यादि में आपाद मस्तक एव आप्राण डुबकी लगाने की बात कही है, वह उनके युग की रसिक व्यसनशीलता पर ही प्रकाश डालती है।[५१] ऐसा विश्वास करना असंगत नही होगा कि जिन प्रवीनराय चातुरी का हृदयावर्जक नृत्य बिहारी ने केशवदास के साथ लड़कपन में देखा था, उन नृत्य बालाओ की गति एवं व्यवसाय मे उन्नति एवं उपचय ही सम्पन्न हुआ था। सतसई की नायिकाएँ मुँह धोकर, गुडहर भिगोकर, घुटनों पर बैठ कर, मस्तक ऊँचा किए हुए, जिन सरोवरों मे स्नान करती हैं तथा एक मेडक भंगी के साथ कुच आचर-बिचवाँहँ किए तट पर, चली जाती हैं, वे क्रीडा तडाग उस युग की रंगीनी एवं वैभव-प्रियता की स्पष्ट व्यंजना करते है।[५२] मलार गाना तथा झूला झूलना नारियो के मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। गुड्डी उड़ाना, गिरहबाज, कबूतर उडाना, बाजों की सहायता से पक्षियो का शिकार करना, हिरनों का आखेट करना तथा घोडों पर चढ़ कर चौगान खेलना—ये तत्कालीन मनोविनोद के प्रिय उपकरण थे।[५३] नटों के रस्सी पर दौड़ने तथा चकई को डोरी में बाँध कर नचाने का भी उल्लेख "सतसई" में हुआ है।[५४]

परिधान, प्रसाधन तथा अलंकार :

"सतसई" के शृंगार-लोक में नवल नागरियों का ही साम्राज्य है। बिहारी की रसलिप्सु चेतना ने ग्रामीण "गदरानी गोरटियो" की ओर भी अपनी दृष्टि दौडाई है। अतएव नारी-वेशभूषा की प्रचुर सामग्रियां "सतसई" में संकलित हो गई हैं।

उच्चवर्गीय नारियो की शृङ्गार-सज्जा के उपादान बहुमूल्य एवं नफासत से परिपूर्ण हैं। वे प्रायः नीले रंग की अत्यन्त महीन साडी पहनती हैं। जिसके झीने आवरण में से उनके सुन्दर शरीर तथा अवयव मधुर, मादक झलमलाहट छोड़ते हैं।[५५] ये साडियाँ कभी-कभी वजन मे पांच तोले की होती है। (मैनूची ने लिखा है कि शाहजादियाँ और बेगमे झीना मलमल पसन्द करती थी तथा प्रत्येक वस्त्र की तौल एक औंस से अधिक नहीं होती थी। साडियो की कोर जरीदार होती है। "चिनौटिया चीर" अथवा चूनरी विशेष प्रिय परिधान है जिसमे पाच रगों की बुदकियाँ चित्रित रहती है।[५६] नवयौवनाएँ धूप-छाँही रंग के वस्त्र पहनती है जो उनकी प्रभा के साथ मोहक स्पर्धा करता है।[५७] मध्य भाग मे सदली अंगिया तथा कुसुम के रंग मे रँगी हुई लाल कंचुकी पहनी जाती है।[५८]

मुख पर सतसई की नारियाँ काजल का टीका लगाती है जो अलंकरण की वस्तु होने के साथ की कुदृष्टि के प्रभाव का बाधक भी है। अरुण, पीत एवं श्याम रंगों की बेंदिया का अधिक प्रचलन है।[५९] हीरे के नग से जडी हुई बेंदिया उच्च परिवारो मे प्रयुक्त होती थी।[६०] टिकुली पहनने की भी प्रथा थी।[६१] कभी-कभी लाल बिन्दी तथा केसर की पीली आढ साथ-साथ धारण की जाती थी।[६२] बिहारी ने चावल-हल्दी से बनाए अवलेपन या ऐपन की बिन्दयों तथा चन्दन के तिलक का भी उल्लेख किया है।[६३] सुसंस्कृत ग्रामीण परिवारों मे अलंकरण की यह प्रथा रही होगी। निम्न स्तर की नारियाँ सनई के फूल की बेंदी तथा सुनहले पर वाले एक कोडे (स्वर्ण की टकपरो) की आड़ धारण करती थी।[६४] बिहारी ने "खौरि पनिच भृकुटी धनुषु" वाले अपने प्रसिद्ध दोहे मे ललाट पर लगे आड़े तिलक के अतिरिक्त, नाक पर लगाए जाने वाले उस पतले, लम्बे तिलक का भी उल्लेख किया है जो भाले की आकृति का होता है। आज भी कुछ प्राचीन परिपाटी की शृङ्गार-प्रिय ग्रामीण नारियाँ नाक पर ऐसे लम्बे, नुकीले तिलक धारण करती देखी जाती हैं। ऐसे चित्रों से बिहारी के रंगीन अन्वेक्षण की सचाई की विज्ञप्ति होती है। ललाट पर जड़ाऊ टीका तथा कान में खुभी और तरौना अथच, नाक में नथ-बेसर, लवंग-फूल तथा सींके पहने जाने का उल्लेख कतिपय दोहों में प्राप्त होता है। उच्चवर्गीय नारियों की नथों एवं बेसरो में मोती झूलते रहते थे तथा सींकें नीलम से जड़ी होती

थीं।[६४] ऐसी ही नीलमणि-जटित मींक की जगमगाहट से मुग्ध होकर, बिहारी ने चंपक-कली पर भ्रमर को निशक रसपानार्थ बैठा दिया है।[६५] केश-रचना के अलंकरणों का कोई उल्लेख "सतसई" में प्राप्त नही है।

वक्षोपदेश को सुशोभित करने वाला प्रमुख अलंकार हार प्रतीत होता है। बिहारी ने माणिक्य की उरबसी, मोतियों के हार, मोतियो की लड़ी, पोत के हार, मौलसिरी की माला, गुजा या चिहुटिनी की माला तथा सीपियों के हार का उल्लेख किया है। मौक्तिक-माणिक्य का हार पहनने वाली नायिकाएँ, उच्च, सामती कक्षाओ का प्रतिनिधित्व करती है। गुजो तथा पोत का हार पहनने वाली नायिकाएँ ग्राम्य कुटुम्बो की ओर सकेत करती हैं जिनका आर्थिक धरातल ऊँचा नहीं है तथा जो प्रकृति के साहचर्य में जीवन व्यतीत करती और फूलो एवं लताओ के बीजो से अपने लिए अलंकार रचना का विधान कर लेती हैं। सीपियो का हार निश्चय ही वे स्त्रियाँ पहनती थी जिनका आर्थिक-स्तर अत्यन्त आदिकालीन था, तथा जो इस समय भी पाषाणयुगीन सभ्यता के अचल में लिपटी हुई थी। गले के अन्य आभूषणो का कोई उल्लेख "सतसई" में उपलब्ध नही है। इसी प्रकार हाथ की कलाई के लिए भी अलंकरण का निर्देश नही है।

करांगुलियो मे मुदरी अथवा छल्ला पहने जाने की चर्चा हुई है। स्त्रियाँ वैसी अँगूठी पहनती थी, जिसमे शीशा जड़ा होता था तथा उस आरसी मे वे अपनी तथा कभी-कभी अपने प्रिय-पात्र की प्रतिच्छाया देखा करती थी।[६६] तुलसी ने भी सीता की ऐसी अँगूठी का कथन किया है तथा मैतूची ने भी ऐसी मुदरियो की बात कही है। कटि मे किंकिनी और पैरों मे नूपुर, पायल तथा चूड़ा पहने जाने की प्रथा की विज्ञप्ति होती है। पाँव के अँगूठे मे अनवट तथा अँगुलियो के बिछिया पहनी जाती थी।

शृङ्गार प्रसाधनों मे काजल, अंजन, चदन, मेंहदी, तथा महावर का प्रयोग प्रचलित ज्ञात पड़ता है। धनिक परिवारो की रमणियाँ कपूर, अंगराग, अरगजे तथा गुलाब जल का प्रयोग करती चित्रित हुई हैं। "सतसई" में किसी निश्चित शृङ्गार-विधि का निदर्शन अथवा निरूपण नही हुआ है। इस विषय पर विस्तृत प्रकाश, मैंने सन् १९५५ ई० के फरवरी मास की अंवतिका में :

पाइ महावरु दैंन कौं नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि, जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाइ॥

दोहे के भयोन्मिलन के प्रसंग मे डालने का प्रयत्न किया है। स्नानोपरान्त नायिका के "सहज शृङ्गार" का बिहारी ने अवश्य यों चित्रण किया है।

बेंदी भाल, तंबोल मुह, सीस सिलसिले बार।
दृग आँजे, राजै खरी एई सहज सिंगार॥

भाल पर बेंदी, मुख में ताबूल, तथा नेत्रो में अंजन यही तत्सामयिक शिष्ट, सम्भ्रान्त रमणियों का स्वाभाविक श्रृङ्गार प्रतीत होता है ।

पुरुष रूप अथवा पुरुष वेशभूषा का कोई उल्लेख "सतसई" में उपलब्ध नही है । जहाँ-तहाँ पीतांबरधारी, मुरलीमनोहर, श्यामल सलोने श्री कृष्ण का उल्लेख हुआ है तथा उनकी वेशभूषा उसी परम्परानुमोदित "क्लासिकल" साँचे में ढली हुई है । तथापि, इतना स्पष्ट है कि उच्चवर्गीय व्यक्ति अँगुली में अँगूठी तथा कानो मे लाल मणि अथवा कुंडल पहनते थे ।[६८]

संदर्भ-संकेत

(१) बिहारी रत्नाकर २३५, ४८१, ६६१ (२) वही, २९५ (३) ३४५ बिहारी रत्नाकर (४) बिहारी रत्नाकर, २६४ । (५) वही, ५७५ । (६) वही, ४७० (७) वही, ३४८ । (८) वही, २४६, ६०२, ६५० । (९) वही, १३५ । (१०) वही, १९ । (११) वही, ३४८ । (१२)वही ५९५ । (१३)वही, १४६ । (१४) वही, ७१, ६२० । (१५) वही, ५८१ । (१६) वही, ४२८ । (१७) वही, १४२ । (१८) वही, ३५४ । (१९) वही, २३० । (२०) वही, ६९०, ७०७ । (२१) वही, ३६१, ३७१ । (२२) वही, २६८, २६९ । (२३) वही, ३१५, ४७० । (२४) वही, २८८ । (२५) वही, २०७, ५२४ । (२६) वही, २५९ । (२७) वही, ४८३ । (२८) वही, ७१२ । (२९) वही, ४३४ । (३०) वही, १७१ । "रीति काव्य की भूमिका", पृष्ठ १८० (३१) वही ३५७, (३२) वही, ४३९ । (३३) वही, ४३७ । (३४) वही, ४३९, ४३६ । (३५) वही, ४३८ । (३६) वही, ६४७ । (३७) वही, २६२, ५७१ । (३८) वही,७०३ । (३९) वही, १७, ४७५ । (४०) वही, ६८ । (४१) वही, ४३५ । (४२) वही, ३८०, २३६ । (४३) वही, ४३७ । (४४) वही, २५५, ६२४ । (४५) वही, ४२८, २७६ । (४६) वही, ६०३ । (४७) वही, ३४० । (४८) वही, २९४ । (४९) वही, २४४ । (५०) वही, ३४१ । (५१) वही, ९४ । (५२) वही, ६६६, ६९३ । (५३) वही, ३६३, ३७४, १७८, ४५, ३०० । (५४) वही, ९४, १९३, २०६ । (५५) वही, ४३८ (५६) वही, ४३० । (५७) वही, ६२६ । (५८) वही, ७० । (५९) वही, १८९ १९० । (६०) वही, २७१ । (६१) वही, १३७ । (६२) वही, ४२ । (६३) वही, ९३, १८० । (६४) वही ३०६, ६८५ । (६५) वही, १४३ । (६६) वही, ६११ । (६७) वही, २०९ । (६८) वही, १२३, १३६, ११३, १९९ ।

बिहारी की काव्य-कला

● डा० विजयेन्द्र स्नातक

रीति कालीन श्रृंगार रस के मुक्तक ग्रंथों मे 'बिहारी सतसई' से अधिक प्रचार और किसी ग्रंथ का नहीं हुआ। सात सौ दोहों के आधार पर इतनी ख्याति अर्जित करने वाला दूसरा कोई और कवि हिन्दी-साहित्य मे नही है। 'बिहारी सतसई' रीतिबद्ध लक्षण ग्रंथ नहीं है, किन्तु रीति परम्परा का ज्ञानार्जन करने के लिए जितना उपयोग इस ग्रन्थ का हुआ उतना रीति ग्रन्थो का भी नही हुआ। सतसई की हिन्दी, संस्कृत, फारसी, गुजराती, उर्दू आदि अनेक भाषाओं में जितनी टीकाएँ लिखी गई उतनी किसी और काव्य-ग्रन्थ की नही लिखी गईं। लगभग ५० से ऊपर टीकाओ का उल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थो मे मिलता है। इन टीकाओ का क्रम बिहारी के समय से ही प्रारम्भ हो गया था। बिहारी के प्रथम टीकाकार कृष्ण कवि उनके पुत्र कहे जाते है। रत्नाकर जी ने कृष्ण कवि को बिहारी का पुत्र ही माना है। इस टीका में रचनाकाल संवत् १७१९ दिया हुआ है, किन्तु शोध से इसका निर्माण काल १७८० के आस-पास स्थिर होता है। टीका लिखने के लिए टीकाकारों ने गद्य का माध्यम ही स्वीकृत नही किया वरन् पद्यात्मक टीकाएँ भी प्रचुर मात्रा मे लिखी गईं। दोहा, सवैया, कवित्त, कुडलिया आदि छंदो मे भी अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं।

बिहारी की शास्त्रीय दृष्टि :

बिहारी ने स्वतंत्र रूप से काव्य-शास्त्र संबंधी लक्षण ग्रन्थ नही लिखा; सतसई उनका लक्ष्य ग्रंथ है। इस लक्ष्य ग्रंथ के पर्यवेक्षण से ही उनकी शास्त्रीय दृष्टि का बोध हो सकता है। बिहारी ने रीति काव्यों का विधिवत् परिशीलन करके सतसई का निर्माण किया था, अत: लक्ष्य ग्रन्थ होने पर भी कवि अन्तर्मन में लक्षणो के अनुरूप दोहे रचने की भावना सतत बनी रही है। दूसरे शब्दों में, लक्षणो के अनुरूप लक्ष्य प्रस्तुत करना ही सतसई का ध्येय था। जिस काल मे बिहारी ने सतसई लिखी, वह संस्कृत और हिन्दी काव्य साहित्य में लक्षण-ग्रन्थों के उत्कर्ष का समय था। हिन्दी मे कृपाराम, केशव, चिन्तामणि आदि लक्षण ग्रन्थकार हो चुके थे और संस्कृत की विशाल परम्परा के रससिद्ध कवि और आचार्य, पंडितराज जगन्नाथ भी उसी काल मे शास्त्र लिखने में व्यस्त थे। पंडितराज जगन्नाथ से बिहारी का व्यक्तिगत परिचय था; अत: उनसे भी रीति-बद्ध काव्य रचना की दिशा में बिहारी ने अवश्य प्रेरणा

ग्रहण की होगी। बिहारी सतसई का समस्त रचना विधान रीतियुक्त न होकर आद्योपान्त रीतिबद्ध है। रीति की आत्मा ग्रंथ में इस तरह अनुस्यूत है कि बिहारी को रीति कवियो मे प्रमुख स्थान मिला है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी आधार पर बिहारी को प्रधान रीति कवियो में रखा है। अलंकार सम्प्रदाय का प्रारम्भ संस्कृत साहित्य मे व्यापक अर्थ मे हुआ, किन्तु परवर्ती काल में अलंकार का क्षेत्र सीमित होता गया और तथा ध्वनि विषयक तत्वो को अलंकार से पृथक् करके देखा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि अलंकार का काव्य में वही स्थान रह गया, जो शरीर के भूषण ककरण-कुडल आदि का है। इसी कारण मम्मट ने अलंकारो को काव्य का अनिवार्य तत्व नही माना। अलंकारो की दृष्टि से बिहारी सतसई पर विचार करे तो यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि बिहारी जैसे काव्य शिल्पी कवि की कविता निरलंकृत तो नही हो सकती, किन्तु अलंकारों का वर्णन उनका प्रधान ध्येय न होने से उसमे सभी प्रमुख अलकारों का भेद-प्रभेद पूर्वक वर्णन नही मिलता। अलकारो के सबध मे उन्होंने अपना शास्त्रीय मत भी सतसई में स्पष्ट व्यक्त किया है।

करत मलिन आछी छबिहिं, हरतु जु सहजु बिकासु।
अंगरागु अगनु लगै ज्यो आरसी उसासु ।।

स्वाभाविक सौन्दर्य को ऊपर के लादे हुए प्रसाधनो से कभी-कभी गहरी ठेस पहुँचती है। आभूषण सहज भूषण न रहकर अरुचिकर भी प्रतीत होने लगते है :

पहिरि न भूषन कनक के,कहि आवत इहिं हेत।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत ।।

अलंकार का प्रयोजन यही है कि वह प्रतीपमान अर्थ में सौन्दर्य का आधान करे। यदि अलंकार अर्थ-सौष्ठव या अर्थ-गौरव के सहायक नहीं तो उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है।

डीठि न परतु समान-दुति कनकु कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत परसि पिछाने जात ।।

उपर्युक्त दोहो में कवि का आशय स्पष्ट है कि अलंकारो को वहीं तक उपयोगी मानता है जहाँ तक वे प्रतीपमान् अर्थ (रस-ध्वनि मे) विशेषता सम्पादन करते है। अलंकारवादियों के समान ऊपर से लादे हुए अलंकार व्यर्थ हैं। अत: बिहारी का दृष्टिकोण अलंकार सम्प्रदाय के मेल में नहीं बैठता और वे भी इस सम्प्रदाय से बाहर हो जाते है।

बिहारी को रसवादी स्वीकार करने वाले विद्वान सतसई के दोहों में रस योजना पर विशेष बल देते हैं और सतसई के अंतिम दोहो में 'करी बिहारी सतसई,

भरी अनेक सवाद' में सवाद शब्द रसास्वादन अर्थ करके यह सिद्ध करना चाहते हैं कि बिहारी रसास्वादन कराने के निमित्त ही सतसई की रचना में लीन हुए थे। 'तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति-रंग' में भी रस के प्राधान्य की ओर इंगित करके बिहारी को रस-सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न हुआ है। यदि रस ध्वनि को काव्य की आत्मा मान कर बिहारी के काव्य मे रस ध्वनि संधान ही मुख्य माना जाय तो ध्वनि के माध्यम से बिहारी रस-सम्प्रदाय का स्पर्श अवश्य करते हैं; परन्तु उनका इष्ट रस-सम्प्रदाय नही है। यदि उनके लक्ष्य की परीक्षा की जाय तो यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जायगा कि रस ध्वनि के उदाहरणो की भरमार होने पर भी वे रस सम्प्रदाय के पोषक होकर ध्वनि-सम्प्रदाय के ही अनुगामी हैं। रस-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि, और वस्तु-ध्वनि को ग्रहण करके बिहारी ने साकेतिक अर्थ को ही प्रधानता दी है; अतः उनकी अभिरुचि ध्वनि सम्प्रदाय के प्रति ही है।

ध्वनि सम्प्रदाय के सिद्धांतो की कसौटी पर सतसई के दोहो को कसने से यह बात सिद्ध हो जाती है कि बिहारी के शृङ्गार विषयक दोहों में भी ध्वन्यात्मकता ही प्रधान है, अलंकार या रस प्रतिपादन उनका अन्तिम ध्येय नही है। ध्वनि के भेदो मे अविवक्षित वाच्य ध्वनि प्रथम है। अभिधेयार्थ जान लेने पर भी तात्पर्यानुपयुक्ति होने पर शब्द से सम्बन्ध जिस दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है। वह लक्ष्यार्थ कहलाता है अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना वृत्ति के अधार पर होती है। जब व्यंजना वृत्ति मे प्रतीति होने वाले अर्थ मे सौन्दर्य का पर्यवसान हो उसे अविवक्षित वाच्य ध्वनि के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके प्रमुख चार भेद हैं। बिहारी ने अविवक्षित वाच्य ध्वनि के सभी भेदों के सुन्दर उदाहरण सतसई में प्रस्तुत किए हैं '

होमति सुखु, करि कामना तुमहिं मिलन की, लाल।
ज्वालामुखी सी जरति लखि लगनि-अगनि की ज्वाल।।

इस दोहे मे 'सुख का होमना' अपने वाच्यार्थ मे बाधित है। लक्ष्यार्थ हुआ कि नायिका,नायक के विरह में दुखी रहती है, उसका सुख समाप्त हो गया है; व्यंग्यार्थ हुआ कि नायिका के सुख उसी प्रकार भस्म हो गए हैं, जैसे अग्नि मे पडने पर आहुति भस्म हो जाती है। यहाँ शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। इसके पचासो उदाहरण सतसई में भरे पडे हैं। बिहारी का प्रसिद्ध दोहा :

तंत्रीनाद कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूडे बूडे, तरे जे बूडे सब अंग।।

ध्वनि का बहुत सुन्दर उदाहरण है। डूबना और तरना जलाशय आदि मे ही सम्भव है, कवित्त रस या तंत्रीनाद जैसे अमूर्त्त तत्त्व मे नही। अतः इनका अर्थ

बाधित होकर रसास्वादन का बोध कराता है। वाच्यार्थ के अत्यंत तिरस्कृत होने वाली ध्वनि भी बिहारी मे अत्यधिक मात्रा मे दृष्टिगत होती है :

बेसरि-मोती, धनि तुही, को बूझै कुल, जाति।
पीबौ करि तिय-ओठ कौ रसु निधरक दिन राति।।

यहाँ मानवगत गुण, कर्म स्वभाव का अचेतन वस्तु (बेसरि मोती) के सम्बन्ध में वर्णन करके अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

ध्वनि का दूसरा प्रमुख भेद है विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। इसके रस, ध्वनि और अलंकार, तीन भेद होते हैं। अलक्ष्य क्रम और असंलक्ष्य क्रम भेद से इनके आधार भेदो का शास्त्रों मे परिगणन किया गया है। इस ध्वनि भेद का बिहारी ने पूर्ण चमत्कार के साथ प्रयोग किया है। ऊहात्मक शैली से नायिका की विरहजन्य दशा वर्णन में यह ध्वनि अपने विविध भेद-प्रभेद सहित सतसई मे छाई हुई है। नायिका की कायिक चेष्टाओ से नायक को अर्थ बोध कराने वाला ध्वन्यात्मक दोहा देखिए :

हरषि न बोली, लखि ललनु, निरखि अमिलु संग साथु।
आँखिनु ही मैं हँसि, धर्‌यौ सीस हियै धरि हाथु।।

यहाँ नायिका की कायिक अभिव्यक्तियों से गूढ़ाशय का संकेत है, आँखो मे हँस कर व्यक्त किया कि तुम मेरे हृदय मे आसीन हो, सिर पर हाथ रखने का अभिप्राय है कि मुझे तुम्हारी कामना शिरोधार्य है; किन्तु उसकी पूर्ति भाग्याधीन है। इन आंगिक चेष्टाओ मे ध्वनि मूलक व्यंजना ही रस बोध कराती है। जब तक ध्वन्यात्मक आशय समझ मे नही आएगा, रस प्रतीति का प्रश्न ही नही उठता।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य या रस ध्वनि की दृष्टि से भी बिहारी सतसई की सफलता असंदिग्ध है। ध्वनि के जितने प्रौढ, परिष्कृत और प्रांजल उदाहरण बिहारी के काव्य मे हैं, हिन्दी के किसी अन्य कवि में नही है। यथार्थ मे बिहारी का काव्य मूलतः ध्वनि काव्य ही है।

भाव पक्ष :

बिहारी के काव्य की आत्मा शृंगार है। शृंगार की व्यंजना ध्वनि के माध्यम से हुई है। शृंगार वर्णन के लिए संयोग तथा विप्रलंभ, दोनों पक्ष बिहारी ने स्वीकार किए हैं। संयोग पक्ष के चित्रण मे बिहारी ने अपनी मौलिक उद्‌भावनाओं का प्रयोग कर संयोग को आनंद की परम स्थिति पर पहुँचा दिया है। कुछ उदाहरणों में बिहारी का यह कौशल देखा जा सकता है :

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनु हँसै, दैन कहै, नटि जाइ ।।

नायिका ने नायक से सम्भाषण करने के लोभ में उसकी मुरली छिपा ली। नायक के पूछने पर शपथ खाकर मना करती है, किन्तु भौहो में हँसती है। इस हँसी में शरारत है, प्रणय-छल है। नायक समझ जाता है तो कहती है कि अच्छा, मैं वापस कर दूंगी, लेकिन फिर सहसा देने से मुकर जाती है बतरस का लोभ जो है। अभी इस बहाने बाते करनी है, प्रेमालाप करना है :

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अंगना अंगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह ।।

नायिका को नायक की पतग की छाया-प्रतिबिम्ब से भी प्रेम है, उसी को जमीन पर छूकर प्रेम का आनन्द प्राप्त करती है। भाव विधान की यह निपुणता बिहारी में ही है :

प्रीतम-दृग-मिचहत प्रिया, पानि-परस-सुख पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं, नैकु न होति जनाइ ।।

आँख मिचौनी खेल मे नायक द्वारा आँखे बंद करने पर नायिका पहचानने से इन्कार करती है क्योंकि अभी उसे नायक के कर स्पर्श कर सुख जो मिल रहा है।

बिहारी वर्णन मे तो ऊहात्मक शैली के आतिशय्य ने बिहारी की विरह व्यंजनाओं को कही-कही औचित्य की सीमा से बाहर कर दिया है। विरह संतप्त नायिका की दशा देखिए :

इत आवति चलि, जाति उत चली,छ सातक हाथ।
चढी हिंडोरैं सै रहै लगी उसासनु साथ ।।
सीरैं जतननु सिसिर-रितु सहि-बिरहिनि तन-तापु।
बसिबै कौ ग्रीषम-दिननु पर्‌यो परोसिनि पापु ।।

बिहारी रीति-परम्परा का निर्वाह करने का ध्यान रखते थे, अत परम्परा में स्वीकृत गूढ़ाशय को अन्तर्मन में रख कर उसी पृष्ठभूमि पर दोहा रचा गया है। जब तक परम्परा का पूरा बोध न हो, दोहे का अर्थ अवगत नही हो सकता :

ढीठि परोसिनि ईठि ह्वै कहे जु गहे सयानु।
सबै संदेसे कहि कह्यौ मुसकाहट मैं मानु ।।

धृष्ट पड़ौसिन के सन्देश को नायक तक पहुँचाने वाली नायिका का भाव वर्णन रीति परम्परा शृंखला को अवगत किए बिना नहीं समझा जा सकता। बिहारी पर रीति परम्परा का इतना गहरा प्रभाव था कि प्रेम की सहज व्यंजना करने वाले

अकृत्रिम भावों को भी उन्होंने ऊहा और अतिशयोक्ति से आवृत कर दिया है, प्रेम का स्वाभाविक रूप ऊहात्मक शैली में सामने नहीं आने पाया।

श्रृंगार रस के अतिरिक्त अन्य भावों को भी बिहारी ने अपनाया है। यों तो संचारी अथवा सात्विक भावों की दृष्टि से प्रायः सभी के उदाहरण मिल सकते हैं किन्तु यहाँ प्रमुख भावों की ओर ही संकेत करना पर्याप्त होगा।

बिहारी भक्त नहीं थे। भक्ति भाव का उनके जीवन से रसात्मक तादात्म्य रहा हो, इसमें भी सन्देह है। किन्तु निर्वेद और शान्तरस का वर्णन सतसई में उन्होंने किया है। भक्ति को सामान्य रूप में ही बिहारी ने स्वीकार किया है, किसी दार्शनिक मतवाद या साम्प्रदायिक आधार पर ग्रहण नहीं किया। बिहारी जैसे सांसारिक कवि के काव्य को साम्प्रदायिक दृष्टि से किसी मतवाद में बाँधना कवि के साथ अन्याय करना है। बिहारी तत्वज्ञानी या दार्शनिक न होने पर भी तत्वज्ञान की बात कर सकते है। उसी तत्व ज्ञान में निर्वेद समाया रहता है :

भजन कह्यौ, तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ, गँवार॥

वैराग्य भावना का द्योतक, स्त्री-रूप के आकर्षण से दूर हटाने वाला बिहारी का प्रसिद्ध दोहा है :

या भव-पारावार कौ उलँघि पार को जाइ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी ग्रहै बीचही आइ॥

बिहारी की अन्योक्तियों और सूक्तियों में जीवन के अनुभूत सत्यों का बड़ी सजीव भाषा में वर्णन हुआ है। कवि ने अन्योक्ति के व्याज से कृपण, मूर्ख, अविवेकी, स्वार्थी, कपटी और दम्भी व्यक्तियों को प्रबोधा है तो दूसरी ओर विद्वान, धैर्यशील, चतुर प्रेमी और दुर्भाग्य पीड़ित व्यक्तियों को समझा कर शांत रहने का उपदेश दिया है। बिहारी की अन्योक्तियाँ हिन्दी साहित्य में सबसे अधिक टकसाली रही हैं। उनकी मार्मिकता काव्यत्व के कारण बढ़ गई है, वे भाव व्यंजक होने के साथ गहरा प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हैं।

बिहारी की भाषा :

बिहारी ने रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त भाषा का प्रयोग करके रीति कालीन कवियों में भाषा विषयक व्यवस्था का सूत्रपात किया था। उनसे पहले किसी कवि की भाषा में ऐसा परिमार्जन दृष्टिगत नहीं होता। कारण यह है कि पहले के कवि एक ही शब्द को एक ही विभक्ति में अनेक रूपों में लिखने में कोई दोष नहीं मानते थे। अन्त्यानुप्रास के लिए शब्द को यथारुचि ह्रस्व या दीर्घ कर लेना तो जैसे नियम मान लिया गया था। बिहारी ने सबसे पहले शब्दों की

एक रूपता और प्रांजलता पर ध्यान दिया। इसके फलस्वरूप परवर्ती कवियों की भाषा में परिष्कार का मार्ग प्रशस्त हो सका।

बिहारी सतसई की भाषा ब्रज है। ब्रजभाषा का काव्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। ब्रज प्रदेश के अतिरिक्त, राजपूताना, बुन्देलखंड, अवध, मध्य भारत, बिहार, गुजरात और महाराष्ट्र तक इस भाषा का काव्यभाषा के रूप मे प्रचार था। ब्रजभाषा मे पांडित्य प्राप्त करने के लिए ब्रज मे निवास आवश्यक नहीं था। बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ, अत. बुन्देलखंडी भाषा के जन्मजात संस्कार उनके पास थे। यौवन मथुरा मे व्यतीत हुआ। फलतः ब्रजभाषा से साक्षात् संबंध होने के कारण उनका ध्यान काव्य रचना करते समय भाषा की मूल प्रकृति की ओर बना रहा और वे उन त्रुटियों से बचे रहे जो अवध या बुन्देलखंड के कवि प्राय: करते थे। शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग करने वाले बहुत कम कवि हुए हैं। बिहारी की भाषा को हम अपेक्षाकृत शुद्ध ब्रजभाषा कह सकते है—साहित्यिक ब्रजभाषा का रूप आपकी ही भाषा मे सबसे पहले इतने निखार को प्राप्त हुआ। आपके बाद घनानन्द और पद्माकर ने उसे और अधिक परिष्कृत किया। बिहारी की भाषा मे बुन्देलखंडी और पूर्वी का प्रभाव है, घनानंद पूर्वी प्रभाव से मुक्त है। बिहारी ने पूर्वी के प्रयोग कही तुक के आग्रह से और कही प्रयोग बाहुल्य के कारण स्वीकार किए है किन्तु बुन्देली के प्रयोग तो सहज रूप में शैशव के अभ्यास के कारण आए है। संग या साथ के लिए 'स्यौ' लखबी, करबौ, पायबी आदि अनेक शब्द है।

बिहारी की भाषा के शब्दकोश का आनुपातिक विवरण तैयार किया जाय तो सबसे अधिक सख्या संस्कृत के तत्सम परिनिष्ठित शब्दों की होगी। बिहारी समास पद्धति मे संस्कृत पदावली के कारण ही सफल हुए हे। संस्कृत के अतिरिक्त अरबी-फारसी के इज़ाफा, ताफ़्ता, बिलनबी, कुतुबनुमा, रोज़ इत्यादि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

बिहारी ने भाषा को प्रवाहपूर्ण तथा प्रेषणीय बनाने के लिए लोकोक्ति एवं मुहावरो का भी प्रयोग किया है। एक ही दोहे में मुहावरो की बंदिश देखिए :

मूड चढाऐंऊ रहै पर्‌यौ पीठि कच-भारु।
रहै गरै परि, राखिबौ तऊ हियै पर हारु॥

चलते हुए मुहावरो का प्रयोग द्रष्टव्य है :

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक-कलीन रली करै अली, अली, जिय जानि॥
कहि पठई जिय भावती पिय आवन की बात।
फूली आँगन मे फिरै आँगन आँग समात॥

भाषा की रमणीयता का बिहारी ने अत्यधिक ध्यान रखा है। माधुर्य गुण के अनुरूप वृत्तियो का विन्यास, शब्दो का चयन, अनुप्रास का विधान, बिहारी सतसई की विशेषता है। शब्दो की विकृति से भी बिहारी ने अर्थ की रमणीयता पर गघात नही आने दिया है। शब्द सौन्दर्य अपनी सीमाओ मे रहता हुआ अर्थ सौन्दर्य को दीप्त करे तभी प्रयोग की सफलता समझी जाती है। एक दोहा देखिए :

रनित भृङ्ग-घटावली, झरित दान मधु नीरु।
मन्द मन्द आवतु चल्यौ, कुंजरु कुंज-समीरु॥

वायु के संचरित होने की ध्वनि कुंजर के आगमन के समान प्रतीत हो रही है। दूसरा उदाहरण है :

रस-सिंगार-मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हू बिना खंजनु गजनु नैन॥

माधुर्य की प्रतीति प्रत्येक शब्द से पृथक्-पृथक् भी होती है और समूचे अर्थ मे भी रमणीयता भरी हुई है। वर्णों का यथोचित प्रयोग करने में बिहारी सिद्ध-हस्त है :

झीनै पट मै झुलमुली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिन्धु मे लसति सपल्लव डार॥

भाषा के प्रसाधन के लिए यमक, अनुप्रास, वीप्सा आदि शब्दालकारो का कविगण प्रयोग करते है। शब्दालंकार केवल शब्दो के चमत्कार के लिए ही नही—अर्थ की रमणीयता के लिए भी होते हैं, यह बिहारी के काव्य से विदित होता है। पद्माकर आदि ने तो अनुप्रास के मोह मे पड़कर काव्य की हानि तक कर ली है। किन्तु बिहारी इस दोष से सर्वथा दूर रहे है—अनुप्रास का उदाहरण देखिए :

नभ-लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रति पाली, आली, अनत, आए बनमाली न॥

अनुप्रास के लिए एक साथ छह शब्दो का आडम्बर होने पर भी नायिका की विरह वेदना की विवृति मे कोई बाधा नही पहुँचती। यमक का उदाहरण देखिए :

तो पर वारौ उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी ह्वै उरबसी-समान॥

बिहारी ने शब्दो को तोड़ा-मरोड़ा अवश्य है, किन्तु छन्दानुरोध से या ब्रजभाषा की सहज प्रकृति के अनुरोध से ऐसा किया है। स्मर के लिए समर, ज्यों-ज्यों के लिए जर्ज्यों और त्यों-त्यो के लिए तत्यो के के के स्थान पर 'क कै' आदि

प्रयोग मिलते हैं जो उचित नहीं हैं किन्तु सात सौ दोहों में दस-पाँच शब्दो के कारण उनके भाषा-प्रयोग पर दोषारोपण नहीं किया जा सकता।

बिहारी ने समास-पद्धति को स्वीकार करके ब्रजभाषा को जैसा परिष्कृत रूप दिया वह व्याकरण की दृष्टि से सुगठित, मुहावरों के प्रयोग से प्रेषणीय और समर्थ पदावली के समन्वय से शोभन बन पड़ा है। भाषा पर सच्चा अधिकार रखने वाला कवि ही ऐसी प्रौढ़- प्रांजल भाषा का प्रयोग कर सकता है।

बिहारी के काव्य और कृतित्व पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि बिहारी नागरिकता और नागरिक जीवन के प्रबल समर्थक थे। उनके काव्य में आद्योपान्त नागरिक भावनाओं, कामनाओ और लालसाओ का वर्णन है। उनकी मान्यता के गुणों का विकास सदा नागरिकों मे ही होता है अपनी अन्योक्तियो में इस बात का उन्होने विविध रूप मे सकेत किया है। इसका एक कारण तो यह है कि उनका अधिकांश जीवन राजा-महाराजाओं के निकट सम्पर्क में व्यतीत हुआ था। वे चाहते थे कि समाज मे असंस्कृत या ग्राम्य व्यक्ति न रहें। उन्होंने बार-बार कहा है कि अपने वर्ग में ही रहना चाहिए और अपने वर्ग का अभ्युत्थान करना चाहिए। सम्पत्तिशाली व्यक्ति यदि कृपण हो तो वह नागरिकता से शून्य है और उससे सम्बन्ध न रखना ही ठीक है।

सतसई रचना मे बिहारी का उद्देश्य कवि-शिक्षक बनना नहीं था। शृंगार-भावना को काव्य के चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने की अभिलाषा से उन्होने सतसई का प्रणयन किया और उसमें सफलता पाई। शास्त्रीय परम्परा और मुक्तक परम्परा का सुन्दर समन्वय सतसई में हुआ है। व्यंग्य, अलकार, नायिका भेद, नखशिख, षट्ऋतु वर्णन आदि सभी विषयो को स्वतंत्र रूप से बिहारी ने सतसई मे स्थान दिया, किंतु लक्षण ग्रंथ लिखने के पचडे में वे नहीं पडे। लक्ष्य ग्रंथ के रूप में सतसई का निर्माण किया गया, किन्तु उसका प्रचार लक्षण ग्रंथों एवं पाठ्य ग्रथों से भी कहीं अधिक हुआ। टीकाकारों ने तो बिहारी को शृंगार का अधिष्ठाता ही बना दिया है।

सतसई लिखने की परम्परा को हिन्दी में बिहारी ने बद्धमूल किया। रसिक और कविगण सतसई को आराध्य ग्रंथ मानकर इसका अनुसरण और अनुकरण करने लगे। अनेक कवियो के लिये तो अनजाने ही बिहारी सतसई उपजीव्य ग्रंथ बनकर ग्राह्य हुई। कुछ कवियों ने तो बिहारी के भाव और भाषा तक पर हाथ साफ किया और कवि-कीर्ति प्राप्त करनी चाही। मुक्तक काव्य के बिहारी चक्रवर्ती सम्राट बने। मुक्तक रचना में जितनी विशेषताएँ हैं वे सब बिहारी सतसई में होती हैं

यही कारण है कि बिहारी के आगे किसी अन्य कवि का मुक्तक काव्य जँचता नहीं हिन्दी मुक्तक रचना में बिहारी का समास कौशल मूर्धन्य पर है।

हिन्दी रीति परम्परा मे बिहारी ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थकों में प्रमुख हैं। तुलसी के रामचरित मानस के बाद सतसई ही अपनी रसात्मकता, कलात्मकता, लाक्षणिकता और वचन-विदग्धता के कारण रसिकों का सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ हुई। बिहारी अपने युग मे रीति-शृंगार के क्षेत्र मे प्रवर्तक के रूप में अवतरित हुए थे। उन्होंने ध्वनि काव्य को स्वीकार कर रस और अलंकार का पूर्ण निर्वाह करते हुए शृंगार को अत्यन्त परिष्कृत भूमि पर अवस्थित किया और रीतिबद्ध काव्य के कवियो को आचार्यों के समान गौरवपूर्ण स्थान दिलाया।

बिहारी के काव्य पर चाहे ध्वनि काव्य की दृष्टि से विचार करें, चाहें रस परिपाक की दृष्टि से उसे परखे, चाहे उनकी अलंकार-योजना को लें, चाहे नायिका-भेद या नखशिख पर दृष्टिपात करे और चाहे अन्योक्ति-सूक्ति का अवगाहन करें, बिहारी का काव्य सभी दृष्टियों से अनुपम प्रतीत होता है। बिहारी प्रतिभाशाली कवि थे, परन्तु उन्होंने प्रतिभा को काव्य रचना का एक मात्र कारण नही बनाया था। काव्याभ्यास के बाद ही उन्होने कविता रचने की ओर ध्यान दिया था। इसलिए उनके काव्य मे शक्ति और निपुणता का चरम विकास सम्भव हुआ।

बिहारी सतसई में काव्य रूढ़ियाँ एवं प्रयोग वैचित्र्य

● योगेन्द्र सिंह

भारतीय काव्य के अन्तर्गत काव्य-रूढ़ियों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मुक्तकों से रहा है। एक श्लोकबद्ध मुक्तक, विशिष्ट अलंकारो, नायक-नायिका भेदों, हाव-भाव चेष्टाओं, कथन वक्रताओ एवं विशिष्ट कथात्मक सन्दर्भो से पूर्ण सहृदयों में चमत्कृति एवं विस्तृति का भाव उत्पन्न करते रहे है। मुक्तकों के रचना स्रोत चाहे जो हो, किन्तु इतना स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास के मध्यकालीन सामन्ती वातावरण में रसज्ञता एवं चमत्कृति को अधिक प्रश्रय मिलने के कारण एक निश्चित अवधि मे समाप्त हो जाने वाली छोटी-छोटी रचनाओं, कौतूहल मिश्रित छन्दो, गेय पदावलियों, सुभाषितो एवं सूक्तियो और व्यंग्य परिहास पूर्ण काव्यो को अधिक महत्व मिला था। इस सन्दर्भ मे आने वाले सम्पूर्ण रचना रूपो की प्रकृति मुक्तक के ठीक अनुरूप मिलती है। इस परम्परा मे काव्य-शास्त्रीय परम्पराओ एवं तत्सम्बन्धित प्रयोग वैचित्र्यों के प्रयोग की प्रवृति सर्वत्र दिखाई देती है। अलंकार एवं भाव वैचित्र्य तो इनके प्रधान साधक ही रहे है। वक्र गर्भिता एवं ध्वननशीलता इनकी आत्मा से सम्बद्ध थी। इस प्रकार आगे चलकर सामान्य परम्पराओ एवं रूढियों में भी प्रयोग वैचित्र्य परिलक्षित होने लगा। धीरे-धीरे मुक्तक-काव्य की परम्परा के विकास के साथ-साथ एक ही काव्य प्रौढ़ि अनेक अर्थ भंगिमाओं को स्पष्ट करने लगी। यह अर्थ व्यंजना की प्रक्रिया संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी साहित्य में अनवरत रूप मे चलती रही। बिहारी को भी यह इसी परम्परा मे प्राप्त हुई है। इन रूढ़ियो के समुचित उपयोग की प्रवृत्ति हिन्दी के मुक्तककारों मे सबसे अधिक बिहारी मे ही दिखाई पड़ती है। सतसई के भक्ति, नीति, राजनीतिक, आश्रयण विषयक कतिपय दोहों को छोड़कर अधिकाशतः इन्ही रूढ़वक्रताओं से गर्भित है। इसके मूल में निहित चमत्कार वक्रता के नियोजन में काव्य रूढ़ियों का बहुत बड़ा हाथ है। ये रूढियाँ कवि की कलात्मक अभिरुचि से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध उसके ऊहात्मक एवं वैचित्र्य पूर्ण रचना पद्धति की ओर संकेत करती है। इस दृष्टि से, बिहारी हिन्दी साहित्य के सबसे अधिक प्रौढ़ कवि ठहरते हैं।

सम्पूर्ण रूप से सतसई में प्रयुक्त काव्य-रूढ़ियाँ ५ भागों में विभक्त की जा सकती है :

१—काव्य शास्त्रीय रूढियाँ।

२—प्रसंगात्मक काव्य-रूढ़ियाँ

३—शब्द प्रौढ़ि।

४—कथन सम्बन्धी रूढियाँ।

५—गूढोक्तियाँ।

बिहारी के दोहो का मूलाधार वस्तुतः काव्य-शास्त्रीय रूढ़ियाँ ही हैं। इनसे तात्पर्य काव्य-शास्त्रीय परम्परा में स्वीकृत ध्वनि व्यापार के लिये प्रयुक्त पारिभाषिक नामावलियो,से है,जिनका प्रयोग सचेष्ट भाव से कवि अपने काव्य में करता है। सतसई में प्रयुक्त होने वाली एतद् सम्बन्धी रूढ़ियों का सम्बन्ध निम्न विषयों से हैं :

(अ) नायक-नायिका भेद।

(आ) काव्यरस, हाव, भाव, एवं अन्य आंगिक चेष्टाओ के प्रयोग।

(इ) अलंकार विधान की सचेष्टता।

(ई) कवि विश्वासों का प्रयोग।

सतसई के अधिकांश दोहो का आधार नायक-नायिका भेद है। नायक-नायिका भेद से सम्बन्धित ये दोहे शास्त्र नियोजन पद्धति से चालित नही है। यह अनुमान कि सतसई नायिका भेद का उदाहरण ग्रन्थ है, पूर्ण रूपेण भ्रान्त है। बिहारी ने शास्त्रीय मान्यता को वर्णन-आधार न बनाकर परम्परा से चली आती हुई मुक्तक काव्य विधा के अन्तर्गत प्रयुक्त नायक-नायिका विषयक प्रौढ़ियों को प्रधान आधार बनाया है। यही कारण है कि रसात्मकता एवं श्रृंगार भाव-बोध से प्रत्यक्ष सम्बद्ध नायिकाओं एवं नायको का वर्णन यहाँ अधिकता से प्राप्त होता है। इस संदर्भ में उन्हे नवयौवना, मुग्धा, मिलनोत्कंठिता, अभिसारिका, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका और अन्यसंभोग दुखिता तथा नायको में दक्षिण एवं धृष्ट ही अधिक प्रिय हैं। अन्य प्रौढ़िवान नायिकाओं में ग्राम्या, स्वइच्छतिनी, मध्या, पूर्वानुरागिनी एव नायको में शठ के भी यथास्थान उदाहरण प्राप्त होते हैं।

बिहारी ने मानमोचन, मिलन एवं अभिसार, परसार स्नेह, अकुरण के संदर्भ में दूतिकाओं का प्रयोग किया हैं। ये दूतिकाएँ नायक-नायिका दोनों से सम्बद्ध हैं। नायक के प्रणय व्यापार मे सहायक सखाओं का उल्लेख कवि यहाँ नही करता।

रस की दृष्टि से कवि की दृष्टि एक मात्र श्रृंगार पर ही केन्द्रित है। यहाँ कवि ने मुक्तक काव्यो में स्वीकृत श्रृंगार रस विषयक समस्त प्रौढ़ियों का प्रयोग किया है। संयोग की समस्त अवस्थाओ, सुरतेच्छा, सुरति, सुरत्यंत, विपरीत रति, रत्याभास (गर्भिणी आदि के सन्दर्भ में) मान, प्रवास मानमोचन तथा वियोग-शृङ्गार की सम्पूर्ण स्थितियों का प्रयोग यहाँ मिलता है ये वर्णन क्रम प्रायः परम्पराबद्ध ही हैं।

श्रृंगार रस के सन्दर्भ में कवि ने विलासवर्धक समस्त चेष्टाओं का प्रयोग

किया है। यहाँ जड़ता, आलस्य, गर्व, स्वेद, कंप, अश्रु, ईर्ष्या, मोह, चपलता, भय, शंका, स्तम्भ, पुलक, मद, ताप, तपुता, आदि अनेक भावो से सम्बद्ध चमत्कृति प्राय: परम्पराबद्ध ही है। सतसई मे बार-बार इन भावों की आवृत्ति मिलती है। कहीं-कही उसमें अनेक भावों को दुहराकर भाववैचित्र्य उत्पन्न किया गया है। इस दृष्टि से कवि अपने पूर्ववर्ती शृंगार-काव्य के प्रयोगों एवं प्रौढ़ियो पर ही अधिक बल देता है।

अलंकार विधान के सन्दर्भ में कवि ने अधिकांश रूप मे काव्य-प्रौढ़ियो का ही प्रयोग किया है। अलंकार रूप मे प्राप्त शृंगार भाव के उद्दीपक अंग, प्रत्यंग, वयक्रम, अलंकरण एवं चेष्टाओं आदि को उसने कवि परम्परा से ही प्राप्त किया है। अंग वर्णन में नेत्र, भौं, वाणी, चिबुक, गाल, गाल के गड्ढे, तिल, नासिक, माँग, टेढ़ी गर्दन, उरोज, कटि, नितम्ब, जाँघ, उंगली एवं चेष्टाओ मे स्मिति, हास, कटाक्ष, नेत्रों को विशेष भंगिमा मे मोडना आदि सूक्ष्म कामोद्दीपक चेष्टाओं की ओर बिहारी की दृष्टि अत्यधिक रही है। अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत कवि ने प्राय. परम्परागत उपमानों को ही ग्रहण किया है। इस सन्दर्भ में खंजन, मीन, मृग, चकोर, शशि, कमल आदि अनेक बार आए हैं।

मुक्तक काव्य की प्रक्रिया के अन्तर्गत कवि समयो एवं विश्वासो का प्रयोग अधिकाश रूप मे मिलता है। बिहारी की भी दृष्टि इन कवि-समयों से प्रत्यक्ष सम्बद्ध है। कविवर ने प्रेम-व्यंजना को स्पष्ट करने के लिए प्रतीक के रूप मे प्रयुक्त होने वाले कवि-समयों का अधिक प्रयोग किया है। नीति-भक्ति एवं राजनीतिक भावो के सम्बन्ध मे भी कवि ने इन कवि-समयो का प्रयोग किया है किन्तु वे अपेक्षाकृत कम है।

सतसई में अनेक स्थलों पर प्रसंगात्मक काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग मिलता है। शृंगार भाव से सम्बन्धित चमत्कृति उत्पन्न करने वाली ऊहात्मक कथा ध्वनियाँ यहाँ प्राप्त होती हैं। दुर्योधन की मृत्यु का श्राप, उसकी जलस्तभ विधि, परस्त्री दोष गमन एवं पौराणिक जी, नपुंसक वैद्य का संतानोत्पत्ति के लिए नुस्खा बताने पर उसकी पत्नी का परिहास, उपपति ज्योतिषी द्वारा पुत्र का पितापा तक एवं जारज योग बताना, तोते के द्वारा बिरहिणी के बचन का कथन, दु:शासन का चीर खींचना आदि अनेक कथन कथात्मक रूढ़ियों से ही यहाँ सम्बद्ध हैं।

इसके अतिरिक्त बिहारी सतसई में शब्द प्रौढि कथन सम्बन्धी रूढियाँ एवं गूढ़ोक्तियाँ पर्याप्त मात्रा मे मिलती हैं। शब्द प्रौढ़ि के माध्यम से कवि ने अलंकार एवं चमत्कार वृत्ति को ही पुष्ट किया है। इस प्रकार की रूढ़ियो की विस्तृत सूची बिहारी सतसई के आधार पर बनाई जा सकती है। ये इस प्रकार हैं दिठौना

लगाना, कुच का गिरि होना, नेत्रों से बात करना, विरहाग्नि एव विरह की लपटें, अली का कली में बँधना, आँख का स्वत कोन देखना, एडी की लालिमा में महावर का भ्रम, मृगनयन, खंजन नयन, भौंहों से सौंह खाना, हृदय से हृदय की बातें समझना, अंग का लगना, आँख की किरकिरी होना, दीपशिखा सी देह, नचौहैं नैन, कली की चटकाहट, विरह ताप, दृगो का बार करना, विरह में झुलसना, बधिक आँखे, बिरह ब्दार, लडैते दृग, नैन पपीहा, नैन नट, नारी का नागिन की भाँति डँसना, लोचन सिंधु, स्पर्श से पहचान, गंध से पहचान, गुलाब की पंखरी से खंरोच, कुटिल भौंहैं, दृग उरझना, बेणी का बाँह मे लिपट कर चिह्न छोड़ जाना, बिज्जु छटा सी नारि, चष तृषा, चकई-चकवे से रात्रि का ज्ञान, वियोग ताप से लू का चलना, बिना अंकों का पत्र आदि। ये प्रौढ़ियाँ परम्पराबद्ध एवं शृंगार की भाव व्यंजना उत्पन्न करने के लिए विशेष-विशेषण भाव से अधिकांशतः सम्बद्ध हैं।

शब्द-प्रौढ़ियों से अधिक सतसई में कथन प्रौढ़ियो का प्रयोग मिलता है। ये कथन की भंगिमा, तत्सम्बन्धी कार्य-व्यापार एवं भाव-बोध से सम्बन्धित हैं। सतसई मे ये इस प्रकार है—यौवन के आगमन से स्तन, मन, नैन, एवं नितम्ब में विशेष वृद्धि, कामदेव का मकरध्वज होना, खंडिता के सन्दर्भ में पलको पे पीक, अधरों पर अंजन एवं मस्तक पर महावर का लगना, लाज, गर्व, आलस्य एवं उमंग के समय नेत्रों में विशेष वर्ण परिवर्तन, रति की बात का संकेत समझ कर नायिका के साथ की अन्य सखियो का खिसकना, भरे भवन में नेत्रो से बात करना, गुरुजनो के बीच सांकेतिक प्रणय भाव प्रकट करने के लिए नायक-नायिका का परस्पर पगड़ी छूना तथा प्रतिबिम्ब को नायक के सम्मुख करके हृदय लगाना, हृदय से हृदय की बातें समझना, वय सन्धि पर शिशुता एवं नवयौवन का संयोग, कली की चटकाहट से प्रातः का अनुभव, स्तनों के बढ़ने से उसमे कठोरता का आना, नायिका की आवेशपूर्ण वाणी में प्रेम की मिठास, परदेश जाते समय मल्हार का गाना, शिशिर शीत मे गर्मी का भाग कर स्त्रियो के स्तन मे छिपना, मुक्ता का कपूर मणि मे परिणत हो जाना, विरह में पलकों का न लगना, मेघ झड़ी का अग्नि के समान लगना, गर्दन की कोमल त्वचा में पीक का रंग उतर आना, नायक द्वारा नायिका की चोटी का गुहा जाना, सौत के पाँव का बिथुरा हुआ महावर देखकर उसाँस भरना, नायक की वस्तुओ के स्पर्श मात्र से स्वेद या कंप का आ जाना, नायक को देखकर कँपना, नायक के शब्द को सुनकर स्वर-भंग हो जाना, नायक द्वारा स्तम्भ जन्य कंप से टेढे तिलक के हो जाने से नायिका का इतराना, विरह को दूर करने के लिए गुलाब, घनसार आदि का प्रयोग, कृष्णाभिसारिका को अभिसार के लिए जाते समय हँसा-हँसाकर मार्ग बताना, सुरति के पूर्व नाही करना, नायक द्वारा भेजे गए पंखे की वायु से नायिका

के स्वेद का आ जाना, हाथ की मुदरी का आरसी में नायक का प्रतिबिम्ब देखना, युवावस्था मे कुच एव नितम्ब की प्रतिद्वन्द्विता, शरीर की परछाई का चन्द्रमा में मिल जाना, बेंदी के बहाने प्रणाम करना आदि।

इन सम्पूर्ण कथन सम्बन्धी प्रौढ़ियों की परम्परा दीर्घकाल से भारतीय-काव्य परम्परा में भारतीय काव्यों एवं शास्त्र ग्रंथो में स्वीकृत होती चली आई है। कवि ने कथन सम्बन्धी प्रौढ़ियों के साथ गूढोक्तियो का भी प्रयोग सतसई मे किया है किन्तु उनकी संख्या कम है।

बिहारी सतसई की अर्थ-व्यंजना का प्रत्यक्ष सम्बन्ध इन काव्य-रूढ़ियो से है जो कि परवर्ती रीतिकाल की महत्वपूर्ण प्रकृति है, इन रूढ़ियो का बासापन, मूलत: काव्य प्रौढ़ि का ज्यो का त्यो प्रयोग ग्रहण कर काव्य मे विशिष्टता या विचित्रता नही उत्पन्न करता। मात्र रूढ़ियों का कथन ही काव्य का शैथिल्य दोष कहा जा सकता है। रूढियो के माध्यम से व्यंजना शक्ति को तीव्र बनाने एवं अर्थ-वक्र के सन्दर्भ को पुष्ट करने पर ही इस दृष्टि से कोई महत्व का अधिकारी हो सकता है। निश्चित रूप से, बिहारी की सबसे बडी विशेषता प्रौढ़ि प्रयोग की ही है। कवि का कल्पनात्मक आश्रय एवं वक्रगर्भिता इस प्रयोग के सन्दर्भ मे सदैव सचेष्ट मिलती है। इस अर्थ व्यंजना के सन्दर्भ मे कवि रूढ़ियो के प्रयोग का अध्ययन बिहारी-सतसई के वास्तविक मूल्यांकन में सहायक होगा। इनकी स्थिति यहा इस प्रकार है।

ऊहात्मकता आभास :

कवि ने अधिकाश स्थलों पर काव्य-रूढ़ियो के माध्यम से ऊहात्मकता को पुष्ट करना चाहा है। इस सदर्भ मे प्राय: सभी रूढ़ि भेदो को कवि ने आधार बनाया है। विरह वर्णन के सन्दर्भ मे प्रयुक्त काव्य रूढ़ियाँ अधिकाशत: उसकी ऊहात्मकता से ही सम्बन्धित है। उदाहरण के रूप मे उसके कई दोहे इस सन्दर्भ में रखे जा सकते हैं :

औंधाई सीसी, सु लखि बिरह-बरनि बिललात।
बिच ही सूखि गुलाबु गौ, छीटौ छुई न गात।।
नाहिं न ए पावक-प्रबल, लुवैं चलैं चहु पास।
मानहु बिरह बसत कैं ग्रीषम लेत-उसास।।

विरह से संतप्त शरीर तक पहुँचने के पहले उष्मा से गुलाब के छीटे का सूख जाना, उसासों का लू के रूप में बहना आदि उक्तियाँ अतिरंजित कथन के अतिरिक्त और क्या हो सकती हैं। किन्तु इन्ही उक्तियों को यदि विशिष्ट प्रसंगात्मकता दे दी जाय तो इनसे समस्त ऊहापोह की स्थिति समाज-सी दीख पडेगी। प्रथम प्रसंग मान-मोचन के सन्दर्भ में हैं। "बिरह बरनि बिललात" के माध्यम से दूतिका नायक को उसकी

प्रेयसी के कण्ठों की ओर संकेत करके उससे शीघ्रातिशीघ्र मिलने का आग्रह करती है। दूसरे दोहे में प्राकृतिक मानवीकरण के माध्यम से आत्मगत विरह की बात कही गई है। सखियाँ कहती हैं कि लू बसंत से वियुक्त ग्रीष्म की उसासें हैं, जिसका ध्वन्यार्थ उनके विरह पर चरितार्थ होता है। बिहारी के अधिकांश ऊहात्मक कथनों में प्रसग कल्पना कर लेने पर यहाँ उनकी ऊहात्मकता समाप्त हो जाती है। अंग-प्रत्यंग वर्णन के सन्दर्भ के अधिकांश प्रौढ़िगत ऊहात्मक कथन प्रसग कल्पना के बाद सामान्य कथन बन जाते हैं इसके लिए और भी उदाहरण देखे जा सकते हैं :

मानहु बिधि तन-अच्छछबि स्वच्छ राखिबै काज।
दृग-पग-पोछन कौ करे भूषन पायदाज।।
रहि न सकी सब जगत मैं सिसिर-सीत कैं त्रास।
गरम भाजि गढ़वै भई तिय-कुच अचल मवास।।

यदि दोनों कथनों मे वस्तु को "अच्छ छबि" एवं "तिय कुच में स्थित गर्मी" मान लें तो ऊहात्मकता की गति समाप्त हो जाती है। स्वाभाविक रूप से व्यक्ति की दृष्टि सर्वप्रथम अलंकरण की चकाचौंध पर पड़ती है तथा द्वितीय सन्दर्भ मे स्वाभाविक रूप से स्त्रियों के स्तनों के पास शिशिर मे गर्मी भी रहती है। इन स्वाभाविक तथ्यों को प्रगट करने के लिए कवि उत्प्रेक्षा एवं अतिशयोक्ति की भी योजना करता है।

किन्तु कही-कही रूढ़ि पर आश्रित उसके ऊहापोह मूलक कथन आधारहीन से प्रतीत होते हैं। वस्तु के रूप में इनमे इतनी सामर्थ्य नही है कि तत्सम्बन्धी अप्रस्तुत योजना से अपना सामंजस्य बैठा सके, किन्तु ऐसे रूढि-प्रयोगों की संख्या कम है।

चमत्कृति :

प्रौढ़ि-प्रयोग का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष "अर्थ चमत्कार परम्परा से चला आ रहा है। बिहारी सतसई मे प्रयुक्त चमत्कृति की प्रवृत्ति रूढ़ियों के सन्दर्भ में अनेक रूपों मिलती है। संक्षेप में उन पर विचार कर लेना अनपेक्षित नही होगा।

प्रचलित सामान्य रूढ़ियाँ :

प्रचलित रूढ़ि से वस्तु के रूप, गुण एवं स्वभाव की अधिकता दिखाकर कवि ने चमत्कार-वृत्ति के पोषण की ओर सचेष्टता दिखाई है। इस दृष्टि से राहु द्वारा चन्द्रमा का ग्रसा जाना, शशि-मुखी होना, दृग को अलि, खंजन, मीन, बताना आदि रूढियो को वस्तु की तुलना में कवि किस प्रकार संकुचित कर देता है—यह द्रष्टव्य है :

अरुनसरोरुह-कर-चरन, दृग-खंजन, मुख-चंद।
समै आइ सुन्दरि सरद काहि न करति अनन्द।।

सामान्य रूप से हाथ एवं पाँव को कमल दृग को खंजन एवं मुख को चन्द

बताना सामान्य काव्य-प्रौढ़ि कथन मात्र है, किन्तु शरद से सम्बन्धित कर देने से वस्तुवैशिष्ट्य में जो विस्तार होता है, वह यहाँ सुस्पष्ट है।

सकै सताइ न तमु बिरहु निसि दिन सरस, सनेहु।
रहै बहै लागी दृगनु दीपसिखा सी देह।।

"दीप सिखा सी देह" एक सामान्य रूढ़ि है, जिसके कथन में कोई वैचित्र्य नहीं है, तम-विरह से न सताया जाना एवं "नित्यप्रति सरस स्नेह" से पूर्ण रहना वस्तु के स्वभाव का सूचक है। इसी प्रकार अनेक सामान्य रूढ़ियों को लेकर कवि ने सतसई में इस प्रकार की प्रवृत्ति का पोषण किया है। इस प्रयोग से सामान्य सी काव्य रूढ़ियाँ वक्रार्थ सूचक बन जाती हैं।

रूढ़ि एवं शब्द-विरोध :

कवि ने वस्तु की संगति को ध्यान में रखकर रूढ़ियो मे शब्द-विरोध की प्रवृत्ति से चमत्कृति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। इस स्थिति में विरोधाभास, कवि का मूल प्रतिपादन हो रहा है और इसके माध्यम से वह चमत्कार का ही अन्त तक पोषण करता है :

ज्यों-ज्यों बूड़े स्याम रंग त्यो-त्यो उज्जल होय।
गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूडे जहाँ हजारु।।
अन बूडे बूडे तिरे जे बूड़े सब अग।
बसत सु चित अंतक, तऊ प्रतिबिंबितु जग होइ।।

कथनो को क्रमश. कृष्ण-भक्ति की पवित्रता, रसिकों के मन की विशालता, काव्य-मर्मज्ञता, ईश्वर की सर्वव्याप्ति के प्रसंगो को स्पष्ट कर देने पर विरोध के स्थान पर चमत्कृति ही परिलक्षित होती है।

भावात्मक चमत्कृति :

काव्य-प्रौढ़ि के प्रयोग में भावात्मक चमत्कृति सम्भवतः इस कवि को सबसे अधिक प्रिय है। वह परम्परागत इसके विभिन्न भावों, आंगिक चेष्टाओ, नायक-नायिका के स्वभावो आदि को माध्यम बनाकर भाव-बोध को चमत्कृत करने का सर्वत्र प्रयास करता है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव को काव्य-प्रौढ़ि का अंग बनाकर रखता है। भाव-बोध एवं चमत्कृति का ऐसा संयोग अन्यत्र दुर्लभ है :

कहि,लहि कौनु सकै दुरी सौनजाइ मैं जाइ।
तन की सहज सुबास बन देती जौ न बताइ।।
कुंज-भवन तजि भवन कौं चलियै नंदकिसोर।
फूलति कली गुलाब की,चटकाहट चहुँ ओर।।

मिलि परछाहीं जोन्ह सौं रहे दुहुनु के गात ।
हरि राधा इक संग ही चले गली महिं जात ।।
छिपैं छिपाकर छिति छुवैं तम ससिहरि न सभारि ।
हँसति हँसति चलि, ससिमुखी मुख, तैं आँचरु टारि ।।

प्रस्तुत प्रसंगो में क्रमश: पद्मिनि नायिका के शरीर से सोनजुही की गध से पृथक पद्मिनी की गध, गुलाब की चटकाहट से प्रात: का बोध, श्याम परिछाई, एवं श्वेत-चन्द्र प्रकाश मे कृष्ण तथा राधा का परस्पर छिप जाना, रात्रि में शशि मुखी का आँचल हटा कर हँसने का प्रकाश प्रौढ़ि कथन है। कवि इन्हें आधार बनाकर चमत्कृति उत्पन्न करने का उपक्रम करता है। सतसई में इस प्रकार की रूढ़ियाँ भरी पडी हैं। इन प्रयोगो से रस एवं भाव ध्वनि को अधिकाधिक पुष्टि मिली है।

व्यंग्य और चमत्कृति :

परिहास एवं व्यंग्य के स्थलों पर कवि अधिकांशत: काव्य-रूढ़ियो का आश्रय ग्रहण करता है। परिहास एवं व्यंग्य न केवल शब्दशक्ति को ही व्यंजित करते हैं अपितु उनमें भाव-बोध को भी पुष्टि मिली है। सतसई में इस प्रकार की प्रौढियाँ अधिक मात्रा मे हैं। देवर की करतूतें, खण्डिता-नायिका की उक्तियाँ, मानिनी के व्यंग्य बचन, पौराणिक एवं नपुसक वैद्य जी के प्रसंग इसी प्रकार की रूढ़ियों से सम्बद्ध हैं। उदाहरणार्थ एक-दो दोहे देखे जा सकते हैं :

पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल ।
आजु मिले, सु भली करी, भले बने हौ लाल ।।
देवर-फूल-हने जु, सु सु उठे हरषि अंग फूलि ।
हँसी करति औषधि सखिनु देह-ददोरनु भूलि ।।

ये समस्त कथन निश्चित रूप से परिहास की कोटि में आते हैं। कवि सचेष्ट भाव से इनका माध्यम काव्य-रूढ़ि ही बनाता है।

क्लिष्ट कल्पना :

बिहारी ने वस्तु के स्वभाव नियोजन तथा कल्पनागत क्लिष्ट भाव-बोध के संदर्भ में अनेक स्थलों पर रूढ़ियो का प्रयोग किया है। इस प्रकार की क्लिष्ट कल्पनाएँ प्राय: ऊहा की ही भाँति है। काव्य-रूढ़ियो की परम्परा में इस प्रकार के प्रयोगों की एक विशिष्ट पद्धति संस्कृत के ललित साहित्य मे मिलती है। इस संदर्भ में कवि ने वस्तु के गुणों, स्वभावों, व्यवहारों, का बोध कराना चाहा है। कही-कही कूटों का भी प्रयोग उसने इसी क्लिष्ट कल्पना को ही पुष्ट करने के लिए किया है :

बुधि अनुमान, प्रमान श्रुति किऐ नीठि ठहराइ ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख लखी नहिं जाइ ।।

छुवति जौन्ह मैं मिलि गई, नैंक न होति लखाइ।
सौंधे के डोरैं लगी अली चली सँग जाइ ॥
पत्रा ही तिथि पाइयै वा घर कै चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै, आनन-ओप-उजास ॥

सूक्ष्म-कटि की परम-ब्रह्म की भाँति अपश्यता, शुक्लाभिसारिका का जौन्ह में मिल जाना, शरीर से निकलने वाली गंध से पहचाना जाना तथा नायिका के पास-पड़ोस में पत्रा से ही तिथि का ज्ञान, क्लिष्ट कल्पनाएँ या ऊहापोहमूलक कथन हैं। जो सामान्य रूढ़ियों—कटि की सूक्ष्मता, शुक्लवर्णा पद्मिनी नायिका के शरीर से गंध का निकलना एवं नायिका का शशि मुखी होना, सम्बन्धित हैं। किन्तु इन सामान्य रूढ़ियो में क्लिष्ट कल्पना के माध्यम से कवि ने जो अर्थ विस्तार दिया है वह अतिरंजना की सीमा तक पहुँच जाता है।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि बिहारी सतसई में प्रयुक्त काव्य-रूढ़ियाँ मुक्तक काव्य-परम्परा एवं काव्य शास्त्रीय मान्यताओं से पूर्ण रूपेण शासित है। कवि चमत्कारिक कला-कौशल के सामान्य परिवर्तन से उनमे विशिष्ट प्रकार का अर्थ-बोध उत्पन्न कर देता है। सतसई का यही अर्थ विधान काव्य-रूढ़ियो की परम्परा में जकड़े हुए अनेक रीतिकारो एव कवियों की श्रेणी से उठाकर इन्हे किंचित् भिन्न रख देता है।

———

बिहारी की वाग्विभूति

● डा० राकेश गुप्त

बिहारी का प्रादुर्भाव हिन्दी साहित्य के उस 'अभिशप्त' युग मे हुआ, जिसके ऊपर इतिहास-लेखकों द्वारा अनेक लाछन लगाए गए हैं तथा जो इसी कारण साधारण पाठको द्वारा अत्यत हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है। अतएव बिहारी के काव्योपवन में प्रवेश करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम उन पर तथा उनके समयुगीन अन्य कवियो पर लगाए इन गंभीर आरोपो के तथ्यातथ्य पर विचार कर लें।

रीति काल पर सबसे बडा अभियोग यह है कि तत्कालीन राजनीतिक शांति के कारण तथा मुसलमान बादशाह और नवाबो की विलास-प्रियता के प्रभाव-स्वरूप उस युग के हिन्दू राजाओं के दरबार तथा समाज सभी विलासिता के रंग मे रँग गए। दूसरा अभियोग उस काल के कवियों पर है, और वह यह है कि वे लोग दरबारी कवि थे, और इस नाते अपने आश्रयदाताओं की विलास-प्रियता को उत्तेजना देने के लिए उन्होंने अत्यन्त वासनापूर्ण शृंगार-रस की कविता की सृष्टि की।

प्रथम आरोप का आधार ढूंढने के लिए प्रवृत्त होने पर हमारे सामने इस आश्चर्यपूर्ण रहस्य का उद्घाटन होता है कि इस आरोप को लगाने वाले विद्वानों ने अपने कथन की पुष्टि के लिए किसी ऐसे ग्रंथ से प्रमाण देना आवश्यक नही समझा, जिसमें उस युग की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति का वर्णन हो। उस युग की शृंगार-रस-प्रधान कविता को देख कर वे सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच गए कि अवश्य ही उस युग का वातावरण विलासिता की दुर्गंध से परिपूर्ण रहा होगा। 'साहित्य' समाज का दर्पण है, इस भ्रांति पूर्ण सिद्धात पर विश्वास करने के कारण हमारे साहित्य के इतिहास लेखको ने यह भूल केवल रीति-काल के संबंध मे ही नही, साहित्य के अन्य सभी कालो के सबंध मे भी की है। यहाँ पर इतना अवकाश नहीं है कि हम साहित्य और समाज के संबंध को पूर्णतया स्पष्ट कर सके। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि यद्यपि साहित्य का समाज पर और समाज का साहित्य पर कुछ न कुछ प्रभाव प्रायः पड़ता है, पर फिर भी न तो यही आवश्यक है कि समाज की प्रत्येक विचार-धारा का प्रतिबिंब हमें साहित्य मे मिल ही जाय, और न यही अनिवार्य है कि साहित्य में जिन भावनाओं की अभिव्यक्ति की गई है, वे समाज मे भी व्याप्त हो। रीति काल के संबंध मे हमें कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध नही है,

जिसके आधार पर हम यह विश्वास कर सकें कि उस युग के समाज में अथवा दरबारों में अन्य युगो की अपेक्षा विलासिता का अधिक प्राधान्य था।

दूसरे आरोप मे यह ध्वनि निकलती है कि शृंगार रस की कविता करना एक अत्यन्त घृणित कार्य और दरबारी कवि होना एक अक्षम्य अपराध है। पर ऐसा आक्षेप वे ही लोग कर सकते हैं, जो हमारी प्राचीन काव्य-परम्परा से परिचित नही हैं, या जो जानबूझ कर उस परिचय को भुलाना चाहते हैं जिन्होंने रघुवंश के उन्नीसवे सर्ग मे राजा अग्निवर्ण के विलास का वर्णन पढ़ा है, जो कुमार-संभव के शिव-पार्वती-शृंगार वर्णन से अपरचित नहीं है तथा जिनके सामने श्रीमद् भागवत् एवं ब्रह्मवैवर्त पुराणो के कृष्ण-क्रीडा वर्णन है, वे रीतिकाल के शृंगार वर्णन को देख कर कभी भी नाक-भौं नहीं सिकोड़ सकते और संस्कृत के कवियों को जाने दीजिए, हिन्दी मे ही विद्यापति एवं सूरदास ने जिस सीमा तक शृंगार का वर्णन किया है, रीतिकाल का कौन सा कवि उसके आगे बढ सका है। सच तो यह है कि हिंदी के भक्त कवियो ने कृष्ण, राधा एवं गोपियों के शृंगार-वर्णन को लेकर जिस परम्परा का आरम्भ किया, वही साहित्य-शास्त्र के संयोग के साथ रीतिकाल में पल्लवित एवं पुष्पित हुई। इस संबंध मे यह कल्पना करना नितांत भ्रामक है कि शृंगार-पूर्ण रचना का उद्देश्य आश्रयदाताओं की वासना को उत्तेजित करना था, क्यो कि शृंगार की भावना राजा से लेकर रंक तक सभी मे समान रूप से व्याप्त है। यदि प्रमाण की आवश्यकता हो तो किसी भी देश अथवा किसी भी जाति के लोक-गीतों को उठाकर देख लीजिए। रीतिकाल के कवियो को उनके दरबारी होने के कारण हेय दृष्टि से देखने वाले कदाचित् इस बात को भूल जाते हैं कि कालीदास और बाण भी दरबारी कवि थे। वास्तव में उस युग की परिस्थिति के अनुसार, जब कि पुस्तकें मुद्रित नही होती थीं, किसी भी कवि के लिए, यदि वह विरक्त अथवा स्वयं श्रीमान् नहीं होता था, तो यह स्वाभाविक ही नही वरन् अनिवार्य था कि वह किसी न किसी श्रीमान् को अपने आश्रयदाता के रूप में ग्रहण करे।

बिहारी के काव्योद्यान में प्रवेश करते ही हमे मंगलाचरण के रूप मे जिस प्रथम पुष्प के दर्शन होते हैं, उसमें भक्ति भावना की सुगंध, शृंगार भावना की कोमलता एव सरसता तथा काव्य के कला-पक्ष की कारीगरी, ये तीनो गुण एक ही स्थान पर एकत्र मिलते है। इस रूप में यह दोहा सतसई की तीन प्रधान विशेषताओ का प्रतिनिधित्व करता है। कवि ने लिखा है :

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झांईं परै, स्यामु हरित-दुति होइ॥

(हे चतुर राधा, मेरे जन्म-मरण-संबंधी अथवा सांसारिक दु खों को दूर करो। तुम्हारे शरीर की आभा के आगे कृष्ण का सौन्दर्य भी फीका पड जाता है, अथवा तुम्हारी छाया मात्र को देखने से श्रीकृष्ण जी आनंद-मग्न हो जाते हैं, अथवा तुम्हारे शरीर के पीत वर्ण की आभा पड़ने से नील वर्ण वाले श्रीकृष्ण हरित वर्ण के हो जाते हैं।)

कवि की कला-प्रियता और भक्ति-भावना तो इस दोहे से प्रकट है ही, श्री कृष्ण और राधा के प्रेम-संबंध के उल्लेख से इसकी शृंगार-प्रियता भी स्पष्ट रूप से ध्वनित है। साहित्य-रसिको द्वारा इसके अनगिनतो अर्थ किए गए है, पर यह सोचना कठिन है कि उनमे से कितनों की कल्पना स्वयं बिहारी ने भी की थी। एक अर्थ के अनुसार तो यह दोहा मंगलाचरण न रह कर वैद्यक का एक नुस्खा बन जाता है।

सतसई के शृंगार-रस-प्रधान होते हुए भी इसमें अनेक ऐसे दोहे बिखरे पडे हैं, जिनमें उक्ति-वैचित्र्य, वाग्विदग्धता तथा अपने पापो के संबंध में स्वीकारोक्ति के सहारे अनन्य भक्ति संबंधी भावो की उत्कृष्ट व्यंजना की गई है। बिहारी के इस श्रेणी के दोहे श्रेष्ठ भक्त कवियो के समान रचनाओ से किसी भी प्रकार हीन नही हैं। निम्नांकित दोहे मे कवि कृष्ण की आधुनिक दानियों से तुलना करता हुआ उन्हे कितना मधुर, पर तीक्ष्ण उपालंभ देता है।

थोरै ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह, मनौ भए, आजकाल्हि के दानि ॥

और इस दोहे में श्रीकृष्ण की पापियो को तारने की शक्ति को चुनौती है, अथवा उसके प्रति कवि का अटल विश्वास :

मोहि तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै, जदुराज।
अपनै अपनै बिरद की, दुहूँ निबाहन लाज ॥

कवि का विश्वास भगवान् के प्रति सच्चे अनुराग मे है, जप,माला और तिलक आदि बाहरी आडंबर में नही। उसने कहा है :

जपमाला छापैं, तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन-काँचे नाचै बृथा, साँचै राँचै रामु ॥

सतसई के शृंगार-वर्णन की ओर उन्मुख होने पर हमारा साक्षात् सबसे पहले उसके रूप-वर्णन से होता है। नेत्रों के सौन्दर्य की व्यंजना कवि उसके प्रभाव-वर्णन द्वारा रूपक एवं श्लेष अलंकारों की सहायता से अत्यंत चमत्कारपूर्ण शैली मे करता है:

खेलन सिखए, अलि भलैं, चतुर अहेरी मार।
कानन चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार

नेत्र रूपी मृगों को चतुर नागरिकों का शिकार करने वाला बना कर लेखक एक ने अद्भुत सौन्दर्य की सृष्टि की है, और काननचारी (अर्थात् कानों तक पहुँचने वाले दीर्घ नेत्र अथवा बन मे विहार करने वाले मृग) को श्लेष के आधार पर नेत्र और मृग दोनों का समान रूप से विशेषण बना कर उसने एक अनूठे कौशल का परिचय दिया है। नेत्रों के इस वर्णन मे चमत्कार प्रदर्शन के साथ यथार्थता का भी योग है। पर कवि की कल्पना कभी-कभी यथार्थता की भूमि पर अपने विहार के लिए समुचित स्थान न पाकर वहाँ से बहुत ऊपर भी उठ गई है। मुख के सौन्दर्य-वर्णन के संबंध में उसकी एक उक्ति देखिए :

पत्रा ही तिथि पाइयै, वा घर कै चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै आनन-ओप-उजास ।।

चंद्रमा तो मुख का चिर-परिचित उपमान रहा ही है, पर इसी आधार पर उस चंद्रवदनी नायिका के घर के चारो ओर और नित्य प्रति पूर्णिमा का रहना तथा प्रकृत चद्रमा का मलिन हो कर अदृश्य हो जाना, जिससे तिथि केवल पत्रा को देख कर ही विदित हो सके, बिहारी ही की सूझ है और पाठक अथवा श्रोता के लिए इस अनूठी सूझ पर वाह-वाह न कर उठना अत्यंत कठिन है·

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियै, दई नई यह रीति ।।

इस दोहे में केवल असंगति का ही व्यवहार नहीं, वरन् प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन भी गागर में सागर के समान है। प्रेम का आरंभ नेत्रों के मिलने से होता है। परिणामस्वरूप नायक और नायिका को अपने-अपने घर से संबंध विच्छेद करना पड़ता है। इससे उन दोनो का प्रेम-संबंध तो दृढ हो जाता है, पर साथ ही दूसरों का सुख न देख सकने वाले दुष्ट लोग उनके प्रेम-संबंध को देख कर ईर्ष्या की अग्नि मे जलने लगते हैं।

संयोग शृंगार के वर्णन में कवि ने उन सब परिस्थितियों का चित्रण किया है जिनका नायिका भेद में निर्देश रहता है। इनमें से कुछ वर्णन तो केवल परंपरा-पालन की दृष्टि से ही किए गए हैं, पर कुछ में स्वाभाविकता का सरल सौन्दर्य है। विशेष सफलता कवि को उन स्थलों पर मिली है, जहाँ उसने किसी चित्र को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए श्री कृष्ण के साथ चिरकाल तक बातें करने का आनन्द प्राप्त करने की इच्छुक एक चतुर गोपी का चित्र देखिए :

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं, भौहनु हँसै, दैन कहैं, नटि जाइ ।।

अनुभावों की सहायता से किए गए इस प्रकार के सुन्दर चित्रण हमको

सतसई के अनेक दोहो मे मिलते हैं। निम्नांकित पंक्ति के थोड़े से शब्दों में ही एक बड़े चित्र को अपनी पूर्णता मे प्रकट करने की जो अद्भुत क्षमता है, वह बिहारी के अतिरिक्त और किसी कवि की रचना में सरलता से नही ढूंढी जा सकती :

करत कुलाहल किंकनी, मौन गह्यौ मंजीर।

अर्थात् कमर की किंकिनी कोलाहल कर रही है और पैरो के नूपुर मौन धारण किए हुए है।

बिहारी के विरह-वर्णन को देख कर हमे सचमुच बड़ी निराशा होती है। वास्तविकता से दूर, विरहावस्था की सहज करुण भावनाओ की अभिव्यक्ति से विहीन यह वर्णन असम्भव कल्पनाओ एवं ऊहात्मक उक्तियो का एक बड़ा सा जाल है। बिहारी की नायिका की विरहाग्नि इतने जोरो से प्रज्वलित हो रही है कि उसकी सखियाँ, जिन्हे स्नेहवश उसके पास जाना ही है, जाडे की रात में भी गीले वस्त्रों की ओट करके उसके पास जाने का साहस करती हैं :

आडे दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति॥

और इतना ही नहीं, उसकी विरह-ज्वाला के कारण तो गाँव भर में माघ मास की रात्रि में भी लू चलती रहती है और पथिक से यही समाचार सुन कर नायक अपनी प्रेमिका के जीवित रहने के विषय मे आश्वस्त हो जाता है'

सुनत पथिक-मुँह माह-निसि चलति लुवैं उहि गाम।
बिन बूझै, बिन ही कहे, जियति बिचारि बाम॥

इसके साथ ही विरह जनित कृशता का वर्णन देखिए :

करी बिरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनै हूं चसमा चखनु, चाहै लहै न मीचु॥

यह नायिका मृत्यु से अपनी कृशता के कारण ही बची हुई है, क्योंकि आँखों पर चश्मा लगाकर भी वह इसे ढूढ़ नहीं पाती।

इस प्रकार के वर्णन से हमारा थोडा सा मनोरंजन भले ही हो जाय, पर ये पाठक तक अपनी वर्ण्य भावना को पहुँचाने मे सर्वथा अक्षम हैं।

बिहारी सतसई में कुछ नीति-संबंधी दोहे भी उपलब्ध है। इनका आधार दृष्टांत अथवा अन्य कोई अलंकार है। इन दृष्टातों से कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय मिलता है। उनके कुछ दोहे आध्यात्मिक भावनाओ की भी अभिव्यक्ति करते हैं, पर काव्य की दृष्टि से उनका विशेष महत्व नही है। हाँ बिहारी की अन्योक्तियाँ अवश्य प्रभावपूर्ण एवं हृदयस्पर्शी हैं। उनमें से कुछ का तो राजनीतिक एवं ऐतिहासिक महत्व भी है। बिहारी की सबसे प्रसिद्ध अन्योक्ति यह है -

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहिं काल ।
अली कली ही सौं बँध्यौ, आगै कौन हवाल ।।

कहते है कि इसी दोहे को देख कर बिहारी के आश्रयदाता मिर्जा राजा जयशाह अपनी नव-यौवना रानी के मोह को छोड़ कर राजकाज देखने लगे थे ।

बिहारी अपने समय के प्रवाह के कारण प्रधानतया श्रृंगार रस के कवि होते हुए भी व्यावहारिक जीवन मे संतोष सदाचरण एवं एक पत्नीव्रत के पक्षपाती थे। उनके मत का स्पष्ट निर्देश उनकी निम्नांकित अन्योक्ति मे मिलता है :

पट्ु पाँखै, भखु कांकरै, सपर परेई सग ।
सुखी, परेवा, पुहुमि मैं, एकै तुँही बिहंग ।।

बिहारी की रचनाओं का पूर्ण दिग्दर्शन इस छोटे निबध में संभव नही है । फिर भी जो कुछ कहा गया, उससे बिहारी की मूल प्रवृत्तियों को समझने में अवश्य कुछ न कुछ सहायता मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है । बिहारी की रचना मे वास्तव मे कलापक्ष की प्रधानता है । उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कार उसके प्राण हैं । इस प्रकार की रचना को पढ अथवा सुन कर कोई भी व्यक्ति वाह-वाह तो अवश्य करेगा, पर उसके हृदय मे रस का उद्रेक होना अत्यंत कठिन है । वास्तव में रस की, यास्मीय उपकरणो के सयोजन मात्र से कोई भी कविता उस समय तक रसपूर्ण नही कही जा सकती, जब तक उसमें पाठक को वर्ण्य भावना से प्रभावित करके उसमे निमग्न कर देने की भी शक्ति न हो और मुक्तक रचनाओं में परिस्थितियों के पूर्ण एवं स्वाभाविक विकास का अभाव रहने के कारण ऐसा होना अत्यन्त कठिन है । फिर भी इस प्रकार की रचनाओं मे जिनकी सृष्टि करने में कुछ प्रतिभावान कवि ही समर्थ हो सकते हैं, एक अपना सौन्दर्य है, एक अपना रस है, एक अपना आनन्द है । इस श्रेणी की रचना का काव्य, के क्षेत्र से बहिष्कृत करने का प्रयत्न उतना ही गलत है, जितना केवल इसी प्रकार की रचना को काव्य समझना ।

बिहारी की वाग्विभूति और बहुज्ञता

● प्रो० अम्बा प्रसाद 'सुमन'

कविता कवि के हृदय का मंजुल मुकुर है। कवि का हृदय एक अनुपम भावना जगत् है जिसमें परमात्मा-प्रकृति तथा मानवों की लीलाएँ होती रहती हैं। यद्यपि कवि अपने अन्तर्जगत का सृष्टा है तथापि उसके अन्तर्जगत् की सर्जना उसकी इच्छा-नुसार ही होती है और वह इच्छा उसकी वंश-परम्परा एवं वातावरण से पूर्णतः अभिभूत होती है। ऐसा हो नही सकता कि कवि के भावुक हृदय पर तत्कालीन सास्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो का प्रभाव न पडे। कवि वाह्य जगत् मे जो कुछ देखता है और जो कुछ पढ़ता है, वह सब उसके हृदय रूपी कैमरे में 'फोकस' के प्रतिबिम्ब रूप आता रहता है और फिर उसकी सहायता से वह अनेक पूर्ण एवं परिष्कृत चित्र (से तात्पर्य यह है कि कवि संसार के चित्रो तथा दृश्यो को अपनी कविता द्वारा ज्यों का त्यो ही चित्रित नही करता वरन् अपनी प्रतिभा के बल से उन चित्रों मे निखार भी ले आता है जिससे उसकी कृति प्रेय और श्रेय दोनों बन जाती है। उसमे यथार्थ के साथ-साथ आदर्श भी रहता है) चित्रित करता है। यही कारण है कि पृथ्वीराज के शासन-काल ने 'चन्दवरदाई' और शाहजहाँ के समय ने रसिकेन्द्र 'बिहारी' को जन्म दिया। देश की तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों ने ही चन्दवरदाई को 'वीरगाथा' और बिहारी को 'श्रृंगार-काव्य' लिखने के लिए उत्तेजित किया। रीतिकाल में जिस मांसल झंकार का रूप हमें दृष्टिगत होता है उसका बीज तो विद्यापति और सूरदास भक्ति के क्षेत्र में बो चुके थे। उसी बीज का अंकुर मुगलो की विलासिता का जल पाकर यौवन की रंगीनी के साथ पल्लवित और पुष्पित हुआ। सूरसागर के दशम स्कन्ध में ऐसे अनेक पद हैं जिनमें गोपिकाओ की जवानी और जोबन का श्रृंगार पूरे उभार के साथ चित्रित हुआ है।

महाकवि बिहारीलाल जी की जन्मभूमि ग्वालियर थी। पिता जी के स्वर्गा-रोहण के उपरान्त बिहारी ग्वालियर छोडकर ओरछा चले गए थे। वहीं उन्होंने केशवदास जी के काव्य-ग्रन्थो का अध्ययन किया था। युवावस्था में विवाह हो जाने पर वे अपनी ससुराल मथुरा मे ही रहने लगे थे। अतः विचार किया जा सकता है कि केशवदास जी के श्रृंगार रस-पूर्ण काव्य-ग्रंथों को पढ़ने वाले और साली, सलहजों मे रंग-रेलियों-भरा जीवन बिताने वाले बिहारी किस प्रकार के कवि बन सकते थे? वातावरण एव परिस्थितियों के प्रभाव से उन्हें जैसा बनना चाहिए था वे ठीक वैसे

ही बने। ससुराल में निरन्तर पाँच-छः वर्ष रहने वाले जमाई का सम्मान, प्रतिष्ठा, तथा सत्कार बहुत कम हो जाता है, इसे कवि ने स्वयं अनुभव किया था। तभी तो शिशिर-काल के दिनमान को उन्होंने इन शब्दो मे व्यक्त किया है.

"आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु।
घरहँ जँवाई लौं घट्यौ, खरौ पूस-दिन-मानु ॥"

—बि० र० १७१

महाकवि बिहारीलाल ने अपनी आँखो से शाहजहाँ का विलासी जीवन देखा था। मुगलवंश के इस बादशाह के शासन-काल तक भारत में हिन्दू और मुसलमान सामाजिक क्षेत्र मे बहुत कुछ मिल चुके थे। शाहजहाँ का दरबार और दरबारियों की महफिले वासनात्मक शृंगार का केन्द्र बन गई थी। मुगलों के विलासी जीवन की विलासिता हिन्दुओ के घरो मे घुस गई थी और उनके दिलो में रंगीनी पैदा कर रही थी। 'यथा राजा तथा प्रजा' वाली कहावत लगभग सारे उत्तरी भारत मे चरितार्थ हो रही थी। तत्कालीन कवि भी राधा और कृष्ण के नामों की आड मे कामातुरा नायिका और कामी नायक के क्रिया-कलापो का चित्रण करते हुए घोर अश्लील शृंगार, साहित्य मे भरने लगे थे। फिर बेचारे बिहारी ही इससे कैसे बच रह सकते थे।

केशवदास आदि रीतिकालीन कवि, कविता में 'स्वान्तः सुखाय' हृदयोद्गार प्रकट न करके, 'स्वामिनः सुखाय' पद्य-रचना कर रहे थे। धन प्राप्ति एवं दान के लोभ मे साधारण पुरुषो की प्रशंसा के पुल बाँध दिए जाते थे। कविता का सरस्वती स्वरूप बनिता में परिवर्तित हो गया था और अब वह शाही-दरबारो और महलो की वारविलासिनी बन गई थी।

अपने अतीत गौरव एवं स्वातंत्र्य के पुजारी कुछ हिन्दू राजाओ ने हृदय से मुगल बादशाहों की अधीनता स्वीकार नहीं की थी। प्रजा की परिस्थिति संकटापन्न थी। उसमें अराण्ड ताण्डव का भीषण बवण्डर उठ रहा था। हिन्दू अपने ही भाइयों के साथ वैमनस्य पूर्ण कपटाचरण कर रहे थे। देश के बहुत से भागों मे दुहरा शासन प्रबन्ध था। देशी राजाओं और मुसलमान सूबेदारो की दो विशाल पाटों वाली चक्की मे जनता पीसी जा रही थी। इस 'दुराज' का दुस्सह दुःख किसी से भी नही सहा जाता था। प्रजा की यह दुःख भरी पुकार बिहारी की लेखनी द्वारा इन शब्दों में व्यक्त की गई थी:

"दुसह दुराज प्रजानु कौ, क्यौ न बढ़ै दुख-दुन्दु।
अधिक अँधेरौ जग करत, मिलि मावस रविचन्दु ॥"

—बि० र० ३५७

इन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त हमारे रीतिकालीन कवियों पर तत्कालीन संस्कृति-साहित्य का भी प्रभाव पड़ा था। विक्रम की चौदहवीं शताब्दि के आस-पास संस्कृत के कवियों को आचार्य बनने की धुन सवार थी। वे प्रायः लक्षण-ग्रन्थों का ही प्रणयन करते थे। प्रबन्ध काव्य के स्थान पर 'मुक्तक काव्य' ही लिखे जाते थे। देश के क्षुब्ध एवं अशांत वातावरण मे महाकाव्यों का लिखा जाना असम्भव-सा भी थी। इन्हीं कारणो के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन कवियों ने भी मुक्तक-काव्यो की रचना थी। मुक्तको की सफलता मानवजीवन के सरस, मृदुल, मधुर एवं आकर्षक अनुवृत्तों के वर्णन पर ही आश्रित है।

इसीलिए हिन्दी के रीतिकालीन कवियो ने सामाजिक और दरबारी जीवन मे से सरस अनुवृत्तों को ही अपनी कविताओ के लिए चुना है। राजा जयसिंह को चेतावनी देने वाला निम्नांकित दोहा उक्त कथन की पुष्टि मे प्रस्तुत किया जा सकता है :

"नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल।
अली कली ही सौ बँध्यो, आगैं कौन हवाल॥"

—बि० र० ३८

कवि की प्रतिभा एवं कवित्त शक्ति की सच्ची कसौटी तो वास्तव में मुक्तक काव्य ही है। मुक्तक रचना का अकेला छन्द ही अपने मे पूर्ण, सरस, चमत्कार पूर्ण तथा स्थिर होता है। परन्तु प्रबन्ध काव्य के छन्द एक धारा के समान गतिमान होते हैं। उसके प्रवाह में नीरस छन्द भी सरस प्रतीत होने लगते हैं। नालो का गन्दा और खारा पानी भी गंगा की धारा मे मिल कर मिठास प्राप्त कर लेता है। हमारे रसिकवर बिहारीलाल जी ने भी मुक्तक रचना ही की है। उनकी 'सतसई' एक मुक्तक काव्य है जिसका प्रत्येक दोहा अमूल्य रत्न है। 'सतसई' के प्रत्येक दोहे मे काव्य-कला-मर्मज्ञ महाकवि बिहारी की कला को देख कर कहना पड़ता है कि कवि ने कमाल कर दिया है। 'सतसई' का एक-एक दोहा सजा हुआ गुलदस्ता है। आचार्य शुक्ल ने कहा भी है कि "यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है, तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।"

अब हम भाषा, भाव, रस और अलंकार की दृष्टि से कवि की कला को परखने का प्रयत्न करेंगे।

महाकवि बिहारीलाल की भाषा के विषय में आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल का मत उद्धृत करना पाठको के लिए अनुपादेय न होगा। शुक्ल जी का कथन महाकवि बिहारी के विषय मे इस प्रकार है "बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है। शब्दो के रूपो का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात

बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रज-भाषा के कवियो में शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने की आदत बहुतो में पाई जाती है। भूषण और देव ने शब्दों का अंग-भंग किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है। कुछ स्थल ही ऐसे हैं जहाँ 'स्मर' के लिए 'समर' और 'कर्क' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेगे। जो यह भी नहीं जानते कि 'संक्रान्ति' को 'संक्रमण' (अपभ्रन्श संक्रौन) भी कहते हैं। 'अच्छ' साफ के अर्थ मे संस्कृत शब्द है। 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आस-पास बोला जाता है। कबीर-जायसी द्वारा व्यवहृत हुआ है। 'सोनजाई' शब्द 'स्वर्ण जाती' से निकाला है।—जुही से कोई मतलब नहीं। संस्कृत मे 'वारि' और 'वार' दोनों शब्द हैं। 'बारि' का अर्थ भी बादल है। 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ मे पुरानी कविता मे भरा पडा है। चलती ब्रजभाषा मे 'पिछानना' रूप ही आता है। 'खटकति' का रूप बहुवचन मे भी यही रहेगा। यदि ऐसे पचासो शब्द उनकी समझ मे न आवें तो इसमे वेचारे बिहारी का क्या दोष ?"

बिहारीलाल जी की भाषा बुन्देलखण्डी मिश्रित ब्रजभाषा है जो कि सरस, चलती तथा साहित्यिक है और जिसमें यत्र-तत्र इजाफा, पायंदाज आदि फारसी शब्दो का पुट भी है। मुगल शासकों के लोगों के सम्पर्क मे आने से ही बिहारी के काव्य की भाषा ऐसी बनी। अमीर खुसरो, कबीर, सूर और तुलसी मे भी यत्र-तत्र ऐसे शब्दो का प्रयोग मिलता है। खुसरो ने तो विशेष रूप से फारसी-हिन्दी के रूप को मिला कर लिखा है—'जे' हाल मिसकी मकुन तगाकुल दुराये नैना बनाये बतियाँ।" कवि का शैशव बुन्देलखण्ड में व्यतीत हुआ था। इसलिए उनकी कविता मे बुन्देलखण्डी के शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है। बिहारी अलंकृत भाषा लिखने मे विश्वास रखते थे। यद्यपि उनके काव्य में भाव-पक्ष और कला-पक्ष का समन्वय है परन्तु तब भी उनका झुकाव कला-पक्ष की ओर ही अधिक प्रतीत होता है।

काव्य मे कला-पक्ष का अधिकाश ही कवि-भाषा को साहित्यिक बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है। विशेषता यह है कि भाषा अलंकृत होने पर भी बनावटी तथा नीरस कहीं नही हुई। पं० पद्मसिंह शर्मा के कथनानुसार कवि की सहृदयता एवं सरसता ने भाषा को भी एक खाँड को रोटी-सा बना दिया है। जिसको जिधर से काटा जाय उधर ही मीठी मालूम पडती है।

काव्य की भाषा आकर्षक और सरस तभी बनती है जब कि वह पात्र के अनुसार ही प्रयुक्त होती है। कविवर रसिकेन्द्र बिहारी ने नायक-नायिकाओ की योग्यता के अनुसार ही भाषा का प्रयोग किया है। 'सतसई' की ग्रामीण नायिकाएँ सीधी-सादी वाक्यावली मे कवि के द्वारा वर्णित की गई है; परन्तु नागरी नायिकाओ का अंग-वर्णन शब्दो में नहीं किया गया। उनके वर्णन में कवि ने अलंकार-

रिक चमत्कार दिखाया है। एक स्थल पर कवि ने ग्रामीण नायिका के रूप और कार्य को इन शब्दो मे व्यक्त किया है :

"पहुला हारु हियैं लसै, सन की बेंदी भाल।
राखति खेत खरे खरे, खरे-उरोजनु वाल।।"

— बि० र० २४८

परन्तु नागरि नायिका के नयनो का वर्णन कवि ने श्लेष और विरोधाभास के साथ चमत्कारपूर्ण ढङ्ग मे किया है :

"खेलन सिखए अलि भलैं, चतुर अहेरी मार।
कानन-चारी नैन-मृग, नागर नरनु सिकार।।"

—बि० र० ४५

कुछ नीति एवं कुछ भक्ति के दोहो के अतिरिक्त 'सतसई' के शेष सभी दोहे शृंगार रस मे डूबे हुए है। कवि ने आलम्बन, विभाव मे नायक-नायिकाओ को रख कर उद्दीपन में नख-शिख, बसन्त, पावस और चन्द्रिका को अपनाया है। भावो के व्यक्तीकरण के लिए अनुभव, चेष्टाओ एव मुद्राओं का वर्णन बिहारी ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है। वस्तुत: कवि की भाव व्यंजना उनके हाव और अनुभाव में ही सफल रूप से अभिव्यंजित हुई है। नायिका, नायक से वार्तालाप करने का साधन ढूँढती है। विचार करने पर नायक की मुरली छिपा देनी है। नायक के पूछने पर कहती है कि "मैंने नही छिपाई।" परन्तु उसकी हँसी से प्रकट होता है कि मुरली उसके पास है। दो प्रेमी एवं विनोदशील सरस हृदयो का पारम्परिक वार्तालाप कवि ने बड़े सुन्दर शब्दो मे व्यक्त किया है। निम्न पंक्तियों मे रसिकेन्द्र बिहारी ने हाव-भाव पूर्ण चित्र खींच दिया है :

"बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहनि हँसैं, दैन कहैं नटि जाइ।।" बि० र० ४७२

दो प्रेमी हृदयो को एक दूसरे से बाँधने के लिए दृष्टि की डोरी किस तरह फेकी जाती हैं, इसे बिहारी अच्छी तरह जानते है। मुद्रा तथा अनुभावों के निरूपण मे कविवर सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापार को स्पष्टरूपेण सामने रख देते हैं। नाज भरी निगाहों से नायक के जिगर में जख्म और दिल में दर्द पैदा करने वाली नायिका अपना अंचल उलटती हुई,और तिरछी नजरों के साथ गर्दन मोड़ती हुई अन्दर चली गई और नायक देखता ही रह गया। निम्नांकित पंक्तियों में नायिका किस प्रकार अपने नेत्रो को प्रिय के नेत्रों से मिलाती हुई चली जा रही है, यह देखने योग्य है

"भौह उँचै आँचरु उलटि, मौरि मोरि मुँहु मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, दीठि-दीठि सौ जोरि।।"

—बि० र० २४२

नायिका ठिठक-ठिठक कर जबरदस्ती अन्दर जा रही है। ठिठकते हुए अन्दर जाने की अदा का नक्शा खींचने के लिए ही दोहे के तीसरे चरण में 'नीठि-नीठि का द्विरुक्ति पूर्ण प्रयोग कवि ने बडे मार्के के साथ किया है। इस 'नीठि' की द्विरुक्ति ठिठकने का चित्र उपस्थित कर रही है।

'बिहारी सतसई' का प्रधान रस श्रृंगार है। सयोग और वियोग दोनों का वर्णन बिहारी ने किया है। वियोग श्रृगार के मुख्य भेद चार हैं—(१) पूर्वानुराग, (२) मान, (३) प्रवास, (४) करुण।

इन चारो मे प्रवास ही प्रधान है। इसमें वियोग श्रृगार की सारी सामग्री का समावेश हो सकता है। वेदना की तीव्रता भी इसमे पूर्णतया प्रदर्शित की जा सकती है। बिहारी ने 'सतसई' मे पूर्वानुराग और मान मे मान का और पूर्वानुराग का वर्णन अधिक किया है। परन्तु प्रवास-वर्णन मे तो कवि ने सीमा का अतिक्रमण सा कर दिया है।

कवि का विरह-वर्णन दस-पन्द्रह स्थलो पर ही स्वाभाविक और संगत बन पडा है। अधिकाश मे तो वह अतिशयोक्ति की चरम सीमा ही पार कर गया है। विरह मे नायिका इतनी दुर्बल और क्षीणकाय हो गई है कि साँसो की वायु से ही इधर-उधर उड़ रही है। इसमें नायिका घड़ी का पेंडुलम तो बन गई है, परन्तु कवि के ऊहात्मक चमत्कार के आगे उर्दू शायरों ने मस्तक टेक दिया है। बिहारी की नायिका साँसो के झूले पर झूलती हुई दिखाई तो पडती है। परन्तु 'नासिख' के 'आशिक' तो क्षीणता की सीमा को पार कर गए है और माशूक की याद मे इंतिहाये लागरी से बिस्तर पर जूँ या खटमल ही बन गए है। बिहारी और नासिख के शब्दों में।

"इत आवति चलि जाति उत चली, छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरै सैं रहै, लगी उसासनु साथ॥"

(बिहारी)—बि० र० ३१७

"इंतिहाये लागरी से जब नजर आया न मैं।
हँस के वे कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए॥"

—नासिख

अन्य भी कई दोहो से बिहारीलाल जी ने नाजुक खयाली और ऊहात्मक मत्कारों में उर्दू शायरो को मात दी है।

नीचे उर्दू के एक शायर की दो पंक्तियाँ देखिए। माशूक की जुदाई से पैदा ई नातुवानी ने ही आशिक को मौत से बचा दिया। वर्ना मौत उन्हें जरूर तलाश र लेतीं और वे इस दुनियाँ से कूच कर जाते।

"नातुवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र में।
कोने-कोने ढूँढती फिरती कजा थी, मैं न था॥"

कला की ताशबाजी में शायर के इस नहले पर हमारे कवि ने दहला मार कर अपनी जीत रखी है। बिहारी के ऊहात्मक चमत्कार में कुछ सत्यता अवश्य है, परन्तु शायर की नाजुक खयाली सफेद झूठ तथा सारहीन गप्प बन गई है। बिहारी की क्षीणकाय नायिका से शायर साहब के आशिक की तुलना कीजिए। कवि की नायिका का शरीर इस प्रकार का हो गया है :

"करी विरह ऐसी, तऊ गैल न छाडतु नीचु।
दीनैं हूँ चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु॥"

कल्पना की उड़ान तो दोनो ने ही लम्बी भरी है, परन्तु अन्तर इतना है कि बिहारी की नायिका विरह से इतनी क्षीण तथा सूक्ष्म बन गई है कि मृत्यु चश्मा लगा कर भी उसे नहीं देख सकती, परन्तु उसके शरीर का अस्तित्व है अवश्य। इसके विपरीत शायर साहब के आशिक का तो वजूद ही नहीं। वे 'नासिख' का समर्थन कर रहे हैं। क्या मजाक हो रहा है? जब आशिक वहाँ थे ही नहीं तो कज़ा (मौत) उन्हे क्या खाक तलाश कर रही थी? पाठक गण आशिक की हालत देखकर उसके साथ समवेदना प्रकट नहीं करते और न उनका साधारणीकरण होता है। वे उल्टे उक्तियों की करामात मे फँस जाते हैं और शायर का मजाक उड़ाने लगते हैं। उर्दू शायरों की नाजुक खयाली और तखय्युल पखाजी मे हमारे कवि ने सदा ही बाजी मारी है।

अलंकारो की दृष्टि से 'बिहारी सतसई' के दोहों को देखें तो कोई दोहा ऐसा नही जो किसी शब्दालंकार या अर्थालंकार से चमत्कृत न हो। बहुत से दोहे तो दो-दो, तीन-तीन अलंकारो से सुसज्जित है। निम्नांकित दोहे मे यमकालंकार का चमत्कार देखिए :

"कनक कनक तैं सौगुनो, मादकता अधिकाइ।
उहिं खाऐ बौराइ, इहिं पाऐं ही बौराइ॥"

—बि० र० १६२

यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षाओं की भरमार तो बिहारी ने की ही है। अतिशयोक्ति मे भी कमाल ही किया है, परन्तु ध्वनिमूलक अलंकार का चमत्कार तो दो-चार स्थलों पर अपना स्वरूप खडा कर देता है। उनकी शब्द-योजना भी मार्के की हुई है। निम्नांकित दोहो मे ध्वनिमूलक अलंकार देखिए :

"रनित भृङ्ग-घण्टावली, झरित दान मधु-नीरु।
मन्द मन्द आवतु चल्यौ, कुंजरु कुंज-समीरु॥"

—बि० र० ३९८

"ज्यौं-ज्यौं आवति निकट निसि, त्यौं-त्यौं खरी उताल ।
झमकि झमकि टहलै करै, लगी रहचटै बाल ॥"

—बि० र० ५४३

"तौ लगु या मन-सदन मैं हरि आवैं किहिं बाट ।
विकट जटे जौ लगु निपट खुटै न कपट-कपाट ॥"

—बि० र० ३६१

प्रथम दोहे के शब्दों में भौरों की गुञ्जार और हाथी के घन्टों की ध्वनि साफ सुनाई पड़ रही है । दूसरे दोहे में बाला के आभूषणों की झमझमाहट निहित है । तीसरे दोहे में तो 'ट' अक्षर की अनेक बार आवृत्ति (वृत्यानुप्रास), किवाड़ो के खुलने और भिड़ने की ध्वनि को पूर्णतया प्रकट कर रही है ।

बिहारी ने प्रकृति-वर्णन उद्दीपन रूप में ही अधिक किया है, आलम्बन रूप मे तो बहुत कम । मानव-मानवी शरीर के सौन्दर्योपासक[१] इस कवि ने मानव-मन, प्रकृति और मानव-शरीर को ही सरस शब्दो में शोभनीय बनाया है । रंगो की विचित्र एवं सुभग संयोजना करने मे बिहारी कुशल कलाकार है :

"अधर धरत हरि कै परत, ओठ-डीठि-पट-जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष-रँग होति ॥"

—बि० र० ४२०

—(लाल, सफेद, पीले और हरे रंगो की सयोजना)

"तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु ।
जिहिं-ब्रज केलि निकुञ्ज-मग-पग-पग होतु प्रयागु ॥"

—बि० र० २०१

—(श्वेत, श्याम और रक्त की संयोजना)

"सोहत ओढ़ै पीतु पट्ट स्याम, सलौनै गात ।
मनौ नीलमनि-सैल पर, आतपु पर्यौ प्रभात ॥

—बि० र० ६८६

—(नीले और पीले रंग का सुयोग)

'सतसई' के मगलाचरण वाले दोहे मे कवि ने नीले और पीले रंगके संयोग से हरे रंग का निर्माण किया है :

"मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ ।
जा तन की झाँईं परैं, स्यामु हरित-दुति होइं ॥"

—बि० र० १

यदि हम 'सतसई' को गम्भीर दृष्टि से देखे तो कहना पड़ेगा 'आर्या सप्तशती' और 'गाथा-सप्तशती' के छन्दों का अनुवाद करने में भी कवि ने कमाल कर दिया

है । प्राय: यह देखा जाता है कि एक बोतल का इत्र जब दूसरी में उड़ेला जाता है तो उसकी गन्ध थोड़ी बहुत उड़ जाती है । परन्तु न मालूम कुशल कलाकार महाकवि बिहारीलाल ने शृंगार के इत्र को किस कौशल से अपनी बोतल में उड़ेला है कि गन्ध उड़ने के बजाय दूनी बढ़ गई है ।

"जावए कोस विकासं पावइ ईं सीस मालई कलिआ ।
मअरन्द-पाण-लोहिल्ल भ्रमर तावच्चिअ मलेसि ।।"

(गाथा सप्तशती)

"नहि परागु,नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल ।
अली,कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल ।।"

(बिहारी सतसई) बि० र० ३८

कवि के दोहे में 'आगै कौन हवाल' में जो ध्वनि है उसके कारण अनुवाद मूल की अपेक्षा सरस और सुन्दर हो गया है ।

" वाचया किं भण्यता, कियन्मात्रं वा लिख्यते लेखे ।
तव विरहे यद् दु:खं, तस्य त्वमेव गृहीतार्थ: ।।"

(आर्या सप्तशती)

"कागद पै लिखत न बनत, कहत सँदेसु लजात ।
कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात ।।"

(बि० स०) बि० र० ६०

"तस्य त्वमेव गृहीतार्थ:" की अपेक्षा "कहि है सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात" में सरसता, माधुर्य तथा संकोच मिश्रित प्रणय-निवेदन की कसक अधिक मिलती है । 'आर्या सप्तशती' के रचयिता से बढ़ कर बिहारी ने काव्य-कला की कलाबाजी में बाजी मार ली है । कवित्व के क्षेत्र में दोहा श्लोक से आगे निकल गया है ।

अब हम महाकवि बिहारी की बहुज्ञता पर भी विचार करें तो पता लगता है कि कवि का सांसारिक ज्ञान बहुत विस्तृत है । उसे मानव-समाज के सज्जन से सज्जन और दुर्जन से दुर्जन की पहिचान है । जहाँ वह सच्चे प्रेमी के हृदय की दशा व्यक्त करता है वहाँ लम्पट और काइयाँ नायक का मनोविज्ञान भी समझता है । मनोविज्ञान के आधार पर कौन सी बात कब कहनी चाहिए, इसे बिहारी खूब जानते थे । इशारेबाजी और चालबाजी भी कोई सीखे तो इस कवि से । जैसे :

लरिका लैबे कै मिस्नु लंगरु मो ढिग आइ ।
गयौ अचानक आँगुरी, छाती छैलु छुवाइ ।।"

बि० र० ३८६

वासना और रूप के लोभी लम्पट और चंट नायक किन-किन बहानों से

नायिकाओ के उरोजों का स्पर्श किया करते हैं, उन सब की जानकारी बिहारी को थी। विपरीति रति की बाते भी लम्पटो की घोर कामवासना की परिचायिका हैं। नायिकाओ की प्रचण्ड कामवासना का परिचय भी कवि ने अपनी कविता द्वारा कराया है।

"बिहँसि बुलाइ,बिलोकि उत, प्रौढ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति, पूत कौ पिय-चूम्यो मुँहु चूमि।।"

—बि० र० ६१७

बिहारीलाल जी ने बाजीगरों, नटों और दानियो (नट के ढोलियों) का वर्णन भी अप्रस्तुत रूप से अपने दोहो में किया है।

"थोरैं ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह मनौ भए, आजकाल्हि के दानि।।"

—बि० र० ६८

सतसई के कुछ दोहों मे सहेट आदि के सिलसिले से खेत की फसलों का विवरण भी मिलता है। अत्तार लोग अर्क किस तरह खींचते हैं, इसे भी बिहारी जानते थे। नटसाल का वर्णन भी कई दोहों में मिलता है। इस प्रकार की बातें कवि की रचना मे गौण रूप से मिलती है। इन बातों का साधारण ज्ञान कवि को अवश्य था। हम यह नही कह सकते कि वे इनमें पारंगत थे।

बिहारी में जहाँ अनेक प्रकार का ज्ञान है वहाँ बात को सूत्र रूप में कहने की चमत्कारमयी वाक्पटुता भी है। उनके दोहों मे भरी हुई व्याख्या यह सिद्ध करती है कि कविवर बिहारी ने गागर में सागर को लाकर भर दिया है। दोहा जैसे छोटे छन्द में भावों का समुद्र भरा पड़ा है। निम्नांकित दोहों की व्याख्या में पृष्ठ के पृष्ठ रंगे जा सकते हैं·

"मेरी-भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं, स्यामु हरित-दुति होइ।।

—बि० र० १

"चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यौ न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर।।

—बि० र० ६७७

बिहारी की कविता को पढने से विदित होता है कि कवि को वेदान्त-दर्शन की भी अच्छी जानकारी थी। संसार मिथ्या है। केवल एक ब्रह्म ही सत्य है। संसार उसी का रूप है।[२] इस अद्वैत वादी सिद्धान्त का प्रतिपादन कवि ने कविता के रस में डुबाकर किया है।

'मैं समुझ्यौ निरधार,यह जगु कांचो कांच सो ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ ।।'

—बि० र० १८१

'मोहन-मूरति स्याम की अति अद्‌भुत गति जोइ ।
बसतु सु चित-अन्तर, तऊ प्रतिबिम्बितु जग होइ ।।'

—बि० र० १६१

सांसारिक बंधनो को कवि ने माया का रूप बताया है और इस बन्धन से छूटना भी असम्भव सा ही माना है।

को छूट्यौ इहिं जाल परि, कत, कुरङ्ग अकुलात ।
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात ।।

—बि० र० ६७१

नीति तथा मनोविज्ञान के पंडित बिहारीलाल अच्छी तरह जानते हैं कि मित्रता किस प्रकार बनी रह सकती है । राजसी ठाट-बाट की रज (धूल) से मित्र का मन मलिन हो जाता है । समान भूमि पर खड़े होकर ही मित्रता निभाई जा सकती है ।

"जौ चाहत,चटक न घटै,मैलौ होइ न मित्त ।
रज राजसु न छुवाइ, तौ नेह चीकनौ चित्त ।।"

—बि० र० ३६६

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करके महाकवि बिहारी जान गए थे कि दुहरा शासन प्रबन्ध प्रजा को कितना दु.खदाई होता है। तभी लिखा भी है कि :

" दुसह दुराज प्रजानु कौ क्यौं न बढ़ै दुख-दंदु ।
अधिक अँधेरौ जग करत मिलि मावस रवि-चन्दु ।।"

—बि० र० ३५७

इसे हम जानते हैं कि एक बिन्दी के लगाने से कि अंक का मूल्य १० गुना हो जाता है । दो के आगे एक बिन्दी लगाने से (२०) बीस हो जायेगा । इस बीस का मूल्य दो से दस गुना है । रकम लिखने मे टेढी बकारी लगा देने से दाम रुपए बन जाते है । गणित की इन बातों को तो सभी जानते है । परन्तु काव्य के कलेवर मे कला की कुशलता के साथ उन्हे प्रदर्शित करना हमारे कवि का ही काम है । गणित भी कमनीय काव्य का सुयोग पाकर सरस बन गया है :

" कहत सबै बेदी दियैं आंकु दसगुनौ होतु ।
तिय-लिलार बेंदी दियैं अगिनितु बढ़तु उदोतु ।।"

—बि० र० ३२७

" छुटत अलक मुख परत ही, बढ़िगो इतो उदोत ;
बक बकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत ।।"

(बि० र० मे नहीं है)

ज्योतिष का यह एक सिद्धांत है कि एक राशि पर जब मंगल, चन्द्रमा और बृहस्पति आ जाते हैं तब सारी पृथ्वी वर्षा के कारण जलमयी हो जाती है। इस बात को नारी (स्त्री, नाडी या राशि) शब्द के साथ कवि ने खूब समझाया है :

" मंगल बिंदु सुरंगु, मुखु ससि,केसरि-आड़ गुरु ।
इक नारी लहि संगु,रसमय किय लोचन-जगत ।।

—बि० र० ४२

" आयुर्वेद का प्रसिद्ध सुदर्शन चूर्ण भयंकर से भयंकर ज्वर का नाश कर देता है। नायिका का भी काम-ज्वर अपने नायक के सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) के द्वारा ही विनष्ट होगा।" इसे कवि ने एक दोहे में बताया है।

क्या भक्ति क्या शृगार, क्या शिकार, क्या काइयाँपन और क्या भोग-विलास सभी कुछ बिहारी की लेखनी की नोक पर सधे हुए हैं। कविवर बिहारी अपनी 'सतसई' के दोहों में अनेक रूपो मे अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए दृष्टिगोचर होते है। उनके गागर मे भरे सागर की गहराई कितनी है और सागर के रत्नो का मूल्य क्या है यह कोई बिरला कला-मर्मज्ञ ही समझ सकता है। 'सतसई' पर हुई दर्जनो टीकाएँ भी इस महाकवि की प्रवीणता और प्रगाढ पाडित्य की परिचायिका हैं।

संदर्भ संकेत :

१—डा० रामविलास शर्मा के अनुसार बिहारी के सौन्दर्य-चित्रण मे इन्द्रिय-बोध की प्रधानता है परन्तु फिर भी उसमे भावना और विचारो का पुट है। शर्मा जी का कथन है—"रूप, भावना और विचार की एकता से ही कला की दृष्टि सम्भव है।" देखिये 'अवन्तिका' मार्च ५४।

२—एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति; ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।
जीवो ब्रह्मैव नापरः, सर्वं खल्विद ब्रह्म ।।

—अद्वैतवाद, स्वामी शंकराचार्य

कवि बिहारी की चित्रकार दृष्टि

● रामगोपाल विजयवर्गीय

कवि को कवि बनने से पहले चित्रकार बनना पड़ता है। वह चित्रकार की दृष्टि से अपने निर्धारित विषय को देखता तथा उसके सौन्दर्य को चित्र की भाँति अपने मस्तिष्क में अंकित करता है, तदुपरान्त शब्दो की खोज में निकलता है और यत्र-तत्र बिखरे हुए शब्द समूहो को भाषा के विस्तृत क्षेत्र से निकाल कर उनकी मालाएँ गूँथने लगता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सर्वप्रथम शब्दों की एक पंक्ति जिसमें शब्द स्वतः अपने-अपने स्थान पर विजडित से होते हैं, मस्तिष्क में घूमने लगती है और कवि उन शब्दों में भावो के अनुकूल दृश्यों की खोज करता है तथा सौन्दर्य निरीक्षण में तत्पर होता है। चित्रकार के सौन्दर्य बोध का कौशल कवि के लिए उतना ही वांछनीय है जितना चित्रकार के लिए।

कवि कभी-कभी तो इतना चित्रकार बन जाता है कि चित्रकार को कुछ करने देने का अवसर ही नही देता। रग-रेखा सब कुछ समाप्त करके रख देता है। सफल कवि भी वही है जो चित्रकार की दृष्टि रखता है और कवि कल्पना की ऐसी कृतियाँ जनसाधारण के अधिक निकट पहुँचती है और अधिक प्रिय भी होती हैं। कारण कि मानव बुद्धि को सूक्ष्म से स्थूल ग्रहण करने मे अधिक सुविधा जान पडती है। इस प्रकार के रूप की व्याख्या करने वाले कवियों में बिहारी का नाम उल्लेखनीय है। बिहारीजी ने कविता से अधिक चित्र ही बनाये हैं। उनके अधिकतर दोहो में एक रूपसी नायिका यौवन की प्रथम अरुणिमा से अनुरंजित दिखलाई पडती है बिहारी अपनी इन नायिकाओं को रसिकों के सम्मुख लाकर खड़ा कर देते हैं। उनके नूपुरो की झंकार और लावण्य के मनमाने रूप नेत्रो मे नाचने लगते हैं। वे चित्र इतने सजीव इतने मनमोहक और चित्रकला की दृष्टि से इतने सर्वांग सुन्दर हैं कि कोई बात कहने को बाकी नही रह जाती। कही रेखा सौन्दर्य, कही वर्ण-वैचित्र्य, कहीं आकृति विधान, कहीं रमणीयता और कमनीयता, प्रत्येक अंगों को पृथक-पृथक रूपो मे चित्रित किया गया है। उनका प्रथम दोहा जो सतसई के प्रारम्भ मे आता है वर्ण-वैचित्र्य का सुन्दर उदाहरण जान पड़ता है। दोहा :

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित-दुति होइ॥

राधा का पीत चम्पई रंग है और कृष्ण नीले हैं। नीले रंग दो प्रकार के

होते है नील और अति नील अर्थात (इण्डोगो) यही रंग श्याम मेघ का होता है । यह नील जब पीत में मिल जाता है तो गहरा हरित हो जाता है । यही हरितद्युति चित्र की पृष्ठ भूमि मे चारो ओर आभा सी बनकर छा गयी है, वैसे भी पृष्ठ भूमि में हरित रंग का होना स्वाभाविक है । कारण कि किसी घने कुंज में राधा-कृष्ण खड़े है, कुंजो के वृक्षों मे छाई हुई हरित आभा के लिए हरा रंग ही पृष्ठ भूमि मे होना यथार्थ था, यह कविका चमत्कार है कि पृष्ठ भूमि को हरित रंग को बनाने के लिए एक कारण उपस्थित कर दिया है । वैसे भी नील और पीत रंग के लिए पृष्ठ भूमि यदि हरित न हो तो आकृतियाँ प्रकाश मे न आती और अन्य रंग अनुपयुक्त सा जान पड़ता । सारा चित्र हरी झाँई मे डूबा हुआ दिखाया गया है। दर्शक के नेत्र किसी विजातीय रंग की ओर आकर्षित होकर प्रधान आकृतियो की ओर से विचलित नहीं हो सकते । आकृति विधा की दृष्टि से उनके संयोजन में कवि ने बड़ी कुशलता दिखलाई है । राधेश्याम के अतिरिक्त और कोई वस्तु विक्षेप के रूप मे सम्मुख नहीं आती । पृष्ठ भूमि का रंग भी आकृतियो को प्रकाश मे लाने का निर्देश करता है । पीत और नील दो ही रंगों की दृष्टि तल्लीन होकर रह जाती है, इसी प्रकार का कौशल निम्न दोहे में दृष्टिगत होता है ·

निसि अँधियारी नील पटु पहिरि,चली प्रिय-गेह ।
कहौ, दुराई क्यो दुरै दीप-सिखा सी देह ।

अभिसारिका नायिका अपने प्रियतम से मिलने जा रही है, उसे कोई देख न ले इसलिए नीले वस्त्र पहिने है, गहन तिमिरा रजनी की कालिमा मे नील वस्त्रो का चुनाव नायिका के चातुर्य का द्योतक है, कवि को ज्ञान है नीला रग काले में तदकार हो जायगा, अभिसारिकाओ को प्राय. इसी रंग के वस्त्र पहिने देखा गया है । क्या संस्कृत कवियो की कल्पना मे और क्या हिन्दी, मे दीपशिखा जैसी मनोहारिणी उपमा है, काले रंग में पीले रंग की प्रखरता सहसा नेत्रों को आकर्षित कर लेती है । कवि नायिका की रूप छटा दिखाने के लिए दीपशिखा की ओर सकेत करता है । अन्धेरी रात मे जलती दीपक की शिखाने भी चमत्कार उत्पन्न कर दिया है, नेत्र कुछ न देख पाएँ केवल दीपशिखा, वह दुराई दुर भी तो नहीं सकती, दीपशिखा का प्रकाश मानों आगे बढ़ता जाता है । दृष्टि के सम्मुख दीपशिखा के अतिरिक्त कोई आधार ही नही है जहाँ वह रुक सके । सारे चित्र में एक ही आकृति है, पर वह चित्र का प्राण बन गयी है यही भाव लेकर अनेको चित्रकारो ने चित्र बनाये हैं बनाये भी क्यों न ? कैसी अपूर्व सौन्दर्य छटा उपस्थित की गयी है । ऐसा ही एक दोहा है :

लै चुभकी चलि जाति जित जित जल-केलि-अधीर ।
कीजत केसरि-नीर से तित तित के सरि नीर ।

कोई किशोरी प्रथम आरूढ़ यौवना सरिता के उज्ज्वल नीर में स्नान कर रही है। उसकी क्रीडाओं से विलोडित हुए जल मे गोरा प्रतिबिम्ब कैसी अनुपम छटा दिखला रहा है, मानो सरिता के नीर में केसर घोल दी गयी है। उसकी कांति से युक्त जल में नायिका के गोरे अंगों की आभा चारो ओर बिखर गयी है,जहाँ वह जाती है जल केसरमय बन जाता है। पारदर्शक जल में प्रतिलक्षित होता हुआ कमनीय कलेवर आँखों को चित्रलिखित सा बना देता है, डुबकी लेती नायिका और केलि में रत उसका चापल्य दर्शनीय है :

रेखा सौन्दर्य का एक उदाहरण देखिए :

बढ़त निकसि कुच-कोर-रुचि, कढ़त गौर भुजमूल।
मन लुटि गौ लोटनु चढ़त, चोटत ऊँचे फूल।

एक नायिका फूल तोड़ रही है, कवि की दृष्टि कैसे यह दृश्य देखकर मौन रह जाती है ? उसके भुज-मूल तथा कुच कोर ऊँचे फूल चूटते समय दिख जाते हैं, उदर की त्रिबली पर मन लुटकर रह जाता है। आकृति मे कैसी अनुपम भगिमा, कैसा अनुपम लावण्य है। ऊँचे होकर फूल तोड़ने की क्रिया में रत होने से कैसी विलक्षण सौन्दर्य धारा बह निकली है। पीछे मुडकर देखती है एक पार्श्व से दृष्टि मे आई आकृति का रेखा सौन्दर्य किसी कुशल कलाकार का अंकन जान पड़ता है। साधारण चित्रकार इसी आकृति को बनाने मे कठिनता से सफलता प्राप्त करेगा।

एक और रेखा सौन्दर्य देखें जो बिहारी जी का प्रसिद्ध दोहा है। रूप की साधारण शब्दो में केवल रेखाएँ खीच डाली है.

सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहि बानक मो मन सदा बसौ, बिहारीलाल।

मुकुट, काछिनी, मुरली, माल सारी शोभाएँ दौडती अँगुलियों से रेखाबद्ध कर दी हैं। बानक कितना सुन्दर है। त्रिभंगीलाल कृष्ण अनोखी अदा से खड़े हैं, कवि यह बानक-बनाव देखकर मुग्ध रह जाता है, कामना करता है यही आकृति मरण-पर्यन्त सदा मेरे सम्मुख रहे । मुकुट का झुकाव मुरली को धारण किए अँगुलियाँ, पुष्पों की माला कटिपर काछिनी, कैसा-कैसा मनोहर रूप भगवान् का प्रस्तुत किया है इसमें रंग नहीं केवल रेखाएँ हैं।

रंग इसमें दिया गया है देखिये :

सोनजुही सी जगमगति अँग अँग जोबन-जोति।
सुरँग कसूँ भीँ कंचुकी दुरंग देह-दुति होति।

देह की द्युति दुरंग हुई जाती है, यौवन की प्रखर ज्योति अंग-अंग से छलकी पड़ती है, बिखरी जाती है,इसपर कञ्चुकी ने तो गजब ढा दिया है। जुहीं का पीला रंग, कंचुकी का लाल,रंग पूरा लाल भी नही कुसुम्भी। कुसुम के फूल जैसी जुही और

कुसुम्मी रंगों में अन्तर ही कितना है। पीला रंग थोड़ा भी लाल में मिश्रित होकर कुसुम बन जायगा। देह द्युति पर भी यही रंग होते हैं पीला, लाल अर्थात् सिन्दूर और घना पीला। शरीर के रग गौरिक आभा के लिए यही होते हैं। रक्ताभकांति यौवन की पूर्णता को प्रतिलक्षित करती है। चम्पई रग पर कुसुम बिखेरी गयी है, कंचुकी का रंग तो रहता ही कहां है, रंग में रंग मिल जाने से कवि को विवस्त्र नायिका के अंगो की झाँकी ही गयी है। देह की द्युति दुरंग हो गयी अर्थात् द्विगुण रंग चढ़ गया है और कुसुम मे लाल रंग अधिक होने से दो रंग बन गए हैं।

अब आकृति संयोजन का एक उदाहरण देख ले। आप विश्वास करेंगे कि कवि बिहारी, कवि से अधिक चित्रकार है। वे प्रत्येक दोहे में चित्रों के भिन्न-भिन्न गुणों को स्थान देते है। कही रेखा का चमत्कार, कही भाव का, कही रंग का, कही सयोजन का, कही पृष्ठ भूमि का कोई भेद नहीं छोड़ा है। सब पर एक और अनेक अनेक दोहो को शब्दबद्ध किया है :

पाइ महावरु दैंन कौ, नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि, जानि महावरी, एडी मीडति जाइ।

दो आकृतियों का संयोजन चित्र में है नायिका और उसकी नाइन दोनों आकृतियाँ एक दूसरे से सम्बद्ध है, यदि एक हटा दी जाय तो चित्र अपूर्ण हो जायगा। दोनो के बैठने में चित्र की पृष्ठभूमि तक परिपूर्ण हो गयी है। एक रंग संयोजन का चित्र देखिए :

चमचमात चचल नयन बिच घूंघट-पट झीन।
मानहु सुरसरिता-विमल जल उछरत जुग मीन॥

झीने घूंघट में दोनों चचल नयन चमचमा रहे है, जो ऐसे जान पड़ते हैं, मानो गंगा के निर्मल नीर में दो मछलियाँ उछल रही हो, दो उछलती मछलियों का रूपक कितना सुन्दर पड़ा है झीने पट मे नयनो की ऐसी चंचलता प्रायः ऐसा ही दृश्य उपस्थित कर देती है, मीन के अतिरिक्त उछलने के लिए और उपमा भी क्या होती। झीना पट सुर सरिता के नीर जैसा पारदर्शक और उसमें मीन समान नयनों की उछल-कूद दर्शनीय है, जिन्होने ऐसे नयन देखे है कवि के सौन्दर्य बोध की सराहना किए बिना न रहेंगे।

इस प्रकार कवि चित्रकार के लिए प्रेरणा देता है और चित्रकार कवि को प्रेरणा दिया करता है। दोनो एक दूसरे की कृतियों को ग्रहण करने में दत्तचित्त रहते है लेकिन कवि की कल्पना कभी-कभी चित्रकार की रेखाओं से इतनी दूर चली जाती है कि तूलिका को लिए देखता रह जाता है और यही कार्य बिहारी ने किया है।

बिहारी सतसई में संयोग श्रृंगार

● डा० हरीश

मध्य युग के कवियो मे प्रसिद्ध ग्रन्थ सतसई की रचना द्वारा बिहारी को शीर्षस्थ स्थान प्राप्त है। उनकी सतसई एक ओर उन्हें लक्षण ग्रन्थ रचयिता आचार्यों की गरिमा से अभिमडित करती है, तो दूसरी ओर उनमें रस-सिद्धि कवि की असाधारण क्षमता का आधान करती है। राज दरबारी कवि होने से कवि का व्यक्तिगत जीवन भी रंगीनियो से भरा पूरा था। श्रृंगार राजदरबारो के लिए काव्य का प्रधान रस माना जाता रहा। इस काल मे रति भाव की प्रमुखता एवं अतिव्याप्ति पर हमें अनेक वर्णन मिल जाते हैं और श्रृंगार की शास्त्रोक्त व्याख्या ने उसे रस-राजत्व प्रदान किया है। बिहारी ने भी अपनी कृति सतसई मे सबसे अधिक वर्णन श्रृंगार के ही किए है। उनके कृतित्व मे श्रृंगार का सागर सर्वत्र ठाठे मारता परिलक्षित होता है और उनका कवि श्रृंगार के अनूठे चित्र प्रस्तुत करने में आकंठ निमग्न है।

श्रृंगार सामान्यत दो रूपो मे प्रस्तुत किया गया है। एक संयोग पक्ष और दूसरा वियोग पक्ष। यो वियोग पक्ष को अधिकतर कवियो ने बड़े सामर्थ्य से कहने का प्रयास किया है। उस पर हरेक पारम्परिक कृतिकार का मन झूमता है। यही नही, कुछ आलोचको ने तो वियोग को इतना महत्व देने का प्रयास किया है यह कह कर कि वियोग में प्रेम का सचय होता है और सयोग में प्रेम का क्षय। परन्तु हमे यह धारणा कि सार्वभौमिक या पूर्व स्वायत्त नहीं लगती। वियोग चाहे स्वकीया का हो, चाहे परकीया का, वह संयोग के बाद ही होगा। बिना संयोग के जीवन मे आनन्द कैसा? और बिना संयोग के काव्य के प्रति व्यामोह होना भी असम्भव है। केवल दर्शन मात्र से प्रेम हो जाना और उसके बाद वियोग की स्थिति उपस्थित हो जाने में कदाचित् वह तीव्रता आना कठिन है, जो संयोग के मर्मस्पर्श के पश्चात् होने वाले वियोग में आती है। अत संयोग पक्ष की क्षमता वियोग पक्ष से अधिक होना अत्यन्त स्वाभाविक है, पर वियोग में चाहे वह प्रेमी का हो अथवा काव्य का, अधिक ऊहापोह और वर्णन चमत्कार करने का अवसर तो कवि को मिल ही जाता है। लगता है वियोग होते ही जैसे कवि का वर्णन परिसर अपेक्षाकृत संयोग के अधिक व्यापक हो जाता है। इसलिए कवि उनका परोक्ष और अपरोक्ष दोनों रूपो में खुल कर वर्णन कर लेता है। संयोग के साथ स्थिति ऐसी नहीं है। संयोग में संभोग श्रृंगार के मर्यादा पूर्ण वर्णन का प्रतिबन्ध कवि पर होता है और यदि प्रगल्भ होकर

उसने कही भी मर्यादा का अतिक्रमण किया भी तो वही संयोग उसके काव्य को निर्दोष नही रहने देता। संयोग मे अधिक उत्तानता, वर्णन की गहराई और रसोद्रेक की अभिसिद्धि कई बार कवि के लिए बाधा बन जाती है और सम्भवतः सचेतक कवि इसीलिए संयोग वर्णन में अधिक मनोयोग से रहने मे झिझक और संकोच का अनुभव करता है। पर यह सारी बात रसज्ञ कवि बिहारी के काव्य मे प्रतिकूल दिखाई पड़ती है। बिहारी सतसई मे बिहारी ने संयोग शृंगार के ऐसे अद्भुत और विदग्ध वर्णन किए हैं जिन्हें पढ़कर पाठक को विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होती है। संकोच और वर्णन में झिझक ने बिहारी का कही भी रास्ता नहीं रोका है।

सतसई के इन छोटे-छोटे दोहों में संयोग की ऐसी जीवन्त अनुभूतियाँ मिलती हैं कि पाठक बरबस उनके सौन्दर्य के अंतराल में प्रविष्ट होता जाता है। यों बिहारी को भी संम्भवतः अपने शृंगार वर्णन की तीव्रता का बोध उस समय हो गया था, जिसे वे अपनी आवाज मे—"अनबूड़े बूडे तरे जे बूड़े सब अंग" कह कर स्पष्ट करते हैं।

बिहारी का प्रेम अथवा यह रति-रंग सौन्दर्य सापेक्ष है। बिना सौन्दर्य के आदमी मे अनुराग नही उभरता। उसके आलंबन को सुन्दर होना ही चाहिए। अतः बिहारी-सौन्दर्य की मांसलता से तथा उसके बाह्य रूप-स्वरूप से ही अधिक प्रभावित थे। वे सदैव चाक्षुष-सौन्दर्य पर ही रीझते थे। सौन्दर्य के परोक्ष आलम्बन पर उन्हे शायद ही कभी विश्वास हुआ हो। उनका प्रेम सौन्दर्य-जन्य प्रेम होने से कहीं भी अलौकिकत्व का संस्पर्श नहीं कर पाता, उसका सीधा सम्बन्ध तो हमारे इन्द्रिय-जन्य विलास व्यापारों से ही रहा है। पर इतना होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि जो कुछ भी अपने आप में है, सामान्य नहीं, भव्य और भाव्य दोनों है। उनकी नायिकाओं और उनके प्रेमियों के प्रेम मे आत्म-बलिदान, त्याग और किसी भी प्रकार के जीवट को कहीं स्थान नही है। वह अपने ही ढंग से चलता है और उसके सभी पात्र, लगता है, जैसे प्रेमी की एक पद्धति विशेष मे बँधे हो और उस प्रतिबन्ध में सब अत्यन्त सन्तुष्ट हों, वस्तुतः इसीलिए उनका समस्त संयोग परम्परा भुक्त संयोग ही अधिक लगता है पर फिर भी वह अपने आपको "गिरि ते ऊँचे रसिके मन" कह कर सुख की सांस लेता है।

बिहारी सतसई के शृंगार वर्णन पर उनके व्यक्तिगत जीवन, राजदरबारी शान-शौकत और विलासिता का प्रभाव तो स्पष्ट लगता ही है परन्तु सतसई के वर्ण्य विषय (कान्टेट) पर अमरूक और हाल जैसे कृतिकारों की भी पूरी-पूरी छाप है। सतसई में सयोग के स्थूल चित्र इस कथ्य के प्रमाण हैं और उनसे यह बात बड़ी सरलता से बोध गम्य होने लगती है कि बिहारी स्वयं शृंगारिक वातावरण में आमूल-चूल डूबे रसज्ञ पुरुष थे। बिना शृंगार में आकंठ डूबे उसके मर्म को इतने

सूक्ष्म रूपों में प्रकट करना किसी साधारण प्रतिभा सम्पन्न कृतिकार के लिए सम्भव नहीं होता।

'संयोग शृंगार का प्रधान आलम्बन नारी है। उसके अंग-प्रत्यंग, उसकी शारीरिक तथा मानसिक चेष्टाएँ उसे उद्दीप्त कर रसोद्रेक के लिए पुष्ट करती हैं। इसी तरह नायक की चेष्टाएँ और कार्य-व्यापारो का भी अपना महत्व है जो नारी की समस्त उद्दीप्त भावनाओं के मूल मे प्रधान तत्वों के रूप में कार्य करते हैं। बिहारी के संयोग वर्णन मे जो अनूठे और विदग्ध-चित्र मिलते हैं उनको यहाँ प्रस्तुत कर रहे है। ये सब वर्णन नायिका और नायक के आलम्बन प्रसूत हैं। पहले किसी नायिका की कल्पना कर लीजिए जो अनिद्य सुन्दरी और अभिन्न नवयौवना हो और फिर उसके किसी असाधारण प्रेमी की बात भी सोच लीजिए तभी इस वस्तुनिष्ट सौन्दर्य की विदग्ध अभिव्यक्ति को आप हृदयगंम कर पाएँगे। इन संयोग-जन्य तत्वो में काम तत्व (रौमांटिसिज़्म), सौन्दर्य तत्व और सौन्दर्य-बोध एवं नारी का आंगिक, वाचिक और कायिक सौन्दर्य-शृंगार आदि प्रेम-तत्व ही प्रधान हैं। इन विविध चित्रो मे संयोग शृंगार अनेक कोटियो मे मुखरित हुआ है और वह सब अपने आप मे भौतिक आधार को लेकर ही चला है इन नायिकाओ मे शारीरिक आकर्षण और तज्जन्य कार्य व्यापारो के भावन-मूल्य ही देखने को मिलेंगे। बिहारी ने नायिकाओ के विविध रूपो मे संयोग के वर्णन किए हैं। चाहे वह स्वकीया मुग्धा हो, नवोढा हो, मध्या हो, प्रौढ़ा हो, धीरा हो या अधीरा। लगता है बिहारी के संयोग वर्णन के मिठलौने शिल्प मे वे सभी सराबोर हैं। परकीया के वर्णन इनमे अपना एक विशिष्ट ही रूप प्रस्तुत करते हैं, इनमें अखण्ड नवयौवना, परकीया नवोढ़ा, गुप्ता, भाव तथा सुरतगोपना, विद्ग्धा तथा विलक्षिता, मुदिता, अनुशयाना तथा कुलटा और साधारणी नायिकाएँ भी आती हैं।

स्वकीया मुग्धा में यौवन और काम के प्रथम संचार के कारण लज्जाधिक्य होता है। उसमें रति चातुर्य अत्यन्त तीव्र नही होता। यही नही उसका भोलापन उस समय मुखर होता है जब वह स्वयं नहीं जान पाती कि उसके अंगो मे यह विलक्षण परिवर्तन कैसा है। वह छिप-छिप कर एकान्त में उन्हें देखकर विस्मित होती है, किशोर और चापल्य की इस अनूठी अन्विति को कवि ने खूब खुल कर कहा है, वय- सन्धि का एक सुन्दर उदाहरण है :

छिपि छिपि देखति कुचनि-तनु कर सौ अंगिया टारि।
नैननि में निरखति रहै, भई अनोखी नारि॥

कटि में कम्प, वक्ष पर भार और चाल में एक विचित्र प्रकार का वजन यौवनारंभ की प्रतिक्रिया है। उसमें संकोच नहीं, डर नही, उसे क्या पता कि उसकी देह देहरी पर काम और यौवन के कदम पड गए हैं

बरजै दूनी हठ चढ़ै ना सकुचै, न सकाय ।
टूटति कटि दुमची-मचक, लचकिलचकि बचि जाय ।। ६८६ ।।
छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग ।
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता-रंग ।।

वय: सन्धि के परिप्रेक्ष्य में आगे कवि का सौन्दर्य चित्रण और नख-शिख वर्णन अवसर सहज ही उपलब्ध हो जाता है। नायिका की कोमलता का इन्तहा देखिए :

छाले परिबे के डरनि सकै न हाथ छुवाय ।
झझकत हियैं गुलाब के, झँवा झँवैयत पाइ ।। ४८३ ।।

यही नही, केसर का अगराग भी नायिका के रंग मे मिलकर खो जाता है :

कंचनतन धन बरन बर रह्यौ रग मिलि रंग ।
जानी जाति सुबास ही, केसरि लाई अंग ।। ३५६ ।।

इस तरह नायिका की सौन्दर्य जन्य आभा किन्ही बाह्य प्रसाधनों की अपेक्षा नहीं रखती। वह तो खरे स्वर्ण की भाँति है। बाह्य अलंकरण उसके शरीर पर सज-कर स्वयं फीके पड जाते है। पर कवि के ऐसे वर्णन केवल परम्परा भुक्त ही कहे जायेगें क्योंकि कवि नायिका का एक ओर ऐसा वर्णन करता है और दूसरी ओर परिधानों और अलंकारो से नायिका को लाद देता है। विचित्र असंगति है।

सौन्दर्य के ऐसे वर्णनो में कवि से कई बार अतिरंजनाएँ भी हुई हैं। इस अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन से पाठक का मर्म स्पर्श तो नही हो पाता, हाँ कवि उसे अपने वर्णन सामर्थ्य मे चमत्कृत अवश्य कर लेता है। उदाहरण के लिए एक-दो दोहे पर्याप्त होगे :

अंग अंग-प्रतिबिब परि दरपन से सब गात ।
दुहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात ।। ६८० ।।
खरी लसति गोरे गरे धंसति पान की पीक ।
मनो गुलूबंद-लाल की, लाल लाल दुति-लीक ।। ४४० ।।

नख-शिख वर्णन मे भी इस तरह के उदाहरण मिल जाते हैं, फिर भी कवि का सौन्दर्य वर्णन एक विशिष्ट सौन्दर्य के साथ अपना प्रभाव छोडता चलता है। नख-शिख के कुछ वर्णन यहाँ प्रस्तुत हैं :

सहज सचिक्कन स्याम रुचि सुचि सुगन्ध सुकुमार ।
गनत न मन पथ अपथ, लखि बिथुरे सुथरे बार ।।
कच समेटि कर उलटि खए सीस पट टारि ।
को की मन बाँधे न यह, जूरे बाँध न हारि ।। (केशराशि

भाल-लाल बेंदी छए छुटे बार छबि देत ।
गह्यो राहु, अति आहु करि, मनु ससि सूर-समेत ।
मिलि चन्दन-बेंदी रही गोरे मुख न लखाइ।
ज्यौं ज्यौं मद-लाली चढ़ै त्यौं त्यौं उघरति जाइ ॥
मंगलु बिन्दु सुरंग, ससि मुख केसर आड गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन-जगत ॥ (बेंदी)
रस सिंगार मंजनु किये, कंजनु भंजनु दैन।
अंजन रंजन हू बिना, खंजनु गंजन नैन ॥ ४६ ॥
खेलन सिखए, अलि भलैं, चतुर अहेरी मार ॥
कानन-चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार ॥
बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरि नीके नैनन ते हरि नीके ए नैन ॥
चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट झीन।
मानहु सुर सरता-विमल जल उछरत जुग मीन ॥ (नयन)
बरन बास सुकुमारता, सब बिधि रही समाय।
पँखुरी लगी गुलाब की, गाल न जानी जाय ॥ (कपोल)

नायिका के उरोजों का वर्णन करते समय कवि सौन्दर्य की संहारक व्यंजन... श्रय लेता है। रसिक नायक की दृष्टि ज्योंही मेरु-कुच पर पड़ती है वह ब... मल कर सदा के लिए चिबुक के गढ़े में जा गिरती है :

कुच-गिरि चढ़ि, अति थकित ह्वै, चली डीठि मुँह-चाड़।
फिरि न टरी, परियै रही, गिरी चिबुक की गाड़ ॥ २६ ॥
दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी सारी सेत।
कबि-आंकन के अर्थलौं प्रगटि दिखाई देत ॥
चलन न पावत निगम-मग जग उपजी अति त्रास।
कुच उत्तंग गिरिबर गह्यौ मैना मैंन मवास ॥ (कुच)

नख-शिख वर्णन के एक-दो उदाहरण और देकर हम संयोग शृंगार ... तत्वों पर प्रकाश डालेंगे। इनमें कटि, नितंब, जंघा, एड़ी, नाखून आदि ... हैं :

लहलहाति तन तरु नई लचि लग लौं लफि जाइ।
लगैं लाँक लौइन भरी लौइनु लेति लगाइ ॥ (कटि)
लगी अनलगी सी जु, विधि करी खरी कटि खीन।
किए मनौ वैं ही कसर कुच, नितंब अति पीन ॥ (नितंब)

जंघ जुगल लोइन निरे, करे मनौ बिधि मैन।
केलि तरुनु दुखदैन ए, केलि तरुन-सुखदैन ॥ (जाँघ)
पाइ महावरु दैन कौ, नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि, जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाइ ॥ (एड़ी)
अरुन-बरन तरुनी-चरन-अंगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरंगु रंगु सी मनौ चपि बिछियनु कै भार ॥ (पग अंगुली)
मानहु बिधि तन-अच्छछबि, स्वच्छ राखिबैं काज।
दृग-पग-पोंछन कौ करे, भूषन पायंदाज ॥ (देहद्युति)
भूषन-भारु सँभारिहै क्यौं इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परे, सोभा ही कैं भार ॥ (सुकुमारता)

नख-शिख वर्णनों मे कवि ने यद्यपि अतिरंजित शैली का ही सहारा लिया है, परन्तु फिर भी उसकी दृष्टि शास्त्रोक्त परम्परा का अनुसरण भी करती है। नख-शिख में बिहारी के उपमानों और उत्प्रेक्षाओं की मौलिकता का अपना ही महत्व है।

संयोग का दूसरा पक्ष वय:सन्धि के बाद प्रारम्भ होता है। नायिका को प्रेम का आभास होता है और वह यह अनुभव करती है कि यह क्या है जो उसके मर्म का स्पर्श करता है। बरबस उसकी आँखे कही, किसी मे उलझ जाती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी कवि ने उसकी अवस्था और सौन्दर्य बोध के मूल्य आँके हैं। नायक का साथ उसे मिलता है, संकोच दूर होने लगता है। विश्राम की वृद्धि होती है और नवोढ़ा के इसी रूप को कवि ने :

हँसि ओठनु-बिच करु उचै, कियैं निचौ हैं नैन।
खरैं अरैं प्रिय कैं प्रिया, लगी बिरी मुख दैन ॥-कहकर स्पष्ट किया है।

प्रेम को क्रीड़ा का रूप देने के लिए नवोढ़ा की स्थिति देखिए। 'चोर मिहीचनी' का खेल चल रहा है और नायिका किस व्याज से प्रिय का आलिंगन करने का अवसर निकालती है :

दोऊ चोरमिहीचनी, खेलु न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइ कै, छुवत हियैं लपटात ॥

नेत्रो का एकटक दर्शन प्रेम-क्रीडा को और अधिक तीव्रता प्रदान करने में सहायता करता है। बिहारी की वाणी-विदग्धता को, सखी की नायक को नायिका के प्रति कही उक्ति मे देखिए :

अनियारे, दीरघ दृगनु किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरे कछू, जिहि बस होत सुजान

प्रेम की यह हिचक धीरे-धीरे उसे और अधिक संकोच मुक्त कर देती है और अब वह स्वयं इस व्यापार में निस्संकोच आनन्द लेने लगती है। नायक सो रहा नायिका वहाँ पहुँच जाती है। वर्णन का यह सात्विक भाव काव्य को उदात्तता प्रदान करता है। वस्तुत: नायक सोने का व्याज किये है और नायिका उसे सोता समझ लेती है। भान उसे तब होता है, जब नायक उसे आलिगन-पाश में आबद्ध कर लेता है :

मुखु उघारि पिउ लखि रहत रह्यौ न गौ मिस-सैन।
फरके ओठ, उठे पुलक, गए उघरि जुरि नैन।।

इसमें नायक से आत्यंतिक सामीप्य के मनोभाव ने उसके आवेग को इस तरह संवेदनाशील बना दिया है कि उसके शरीर पर शृगार रस के अनेक अनुभाव उभर गए। कवि ने इसी तरह धीरे-धीरे नायिका के प्रौढ़ा, मध्या, धीरा, अधीरा आदि रूपो में संयोग वर्णन किए हैं, जिनमें उसके अनेक हाव, भाव, अनुभाव और संचारी भावों के सहज उद्रेक मिलते हैं। प्रौढ़ा को अपयश और लोकलाज की चिन्ता नही। वह क्या करे, वह तो विवश है। इन नेत्रो का वह क्या करे, जो न चाहते हुए भी उसे देखने को बरबस खिंचे चले जाते है :

लाज-लगाम न मानही, नैना मो मन नाहिं।
ए मुँहजोर तुरंग ज्यौ ऐंचत हूँ चलि जाहिं।।

प्रौढ़ा की क्रीडाएँ भी अपेक्षाकृत अधिक मुक्त और झिझकहीन होती है। अटारी पर स्थित नायिका की एक संयोग क्रीड़ा दृष्टव्य है .

छिनकु चलति, ठठुकति छिनकु, भुज प्रीतम-गल डारि।
चढी अटा देखति घटा बिज्जु-छटा सी नारि।।

इसमे "भुज प्रीतम गल डारि" की व्यंजना की मनोवैज्ञानिकता अप्रतिम है और इसी सन्दर्भ मे चुम्बन का एक दृश्य देखिए :

अगुरिनु उचि, भरु भीति दै, उलमि चितै चख लोल।
रुचि सौ दुहूँ दुहूँन के चूमे चारु कपोल।।

स्वकीया मुग्धाओं से परकीया मुग्धाओ के संयोग वर्णनो मे रसज्ञ कवि बिहारी का मन अधिक रमा है। क्योंकि उनमे उत्कंठा अपरिमित होती है। मध्या में वाणी का संयम होता है और वह प्रिय के अपराध को लाक्षणिक शब्दावली से ही प्रकट करती है :

पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आजु मिले, सुभली करी, भले बने हौ लाल।।

अब कि मध्या अधीरा अपनी वेदना को इस वाणी सयम से प्रकट करता है

नख-रेखा सौहैं नई, अलसौहैं सब गात।
सौहैं होत न नैन ए तुम सौ है कत खात ।।

एक-दो उदाहरण सुरत गोपना और क्रिया विदग्धा के भी देखिए। बिहा... ने इन उदाहरणों को अपने कर्तव्य के भारी सौष्ठव से अलंकृत किया है :

लटकि लटकि लटकतु चलतु डटतु मुकुट की छाँह।
चटक-भर्‌यौ नटु मिलि गयौ अटकभटक-बट माँह ।। (सुरत गोपना)
न्हाइ, पहिरि पटु डटि, कियौ बेंदी-मिसि परनामु।
दृग चलाइ घर कौं चली बिदा किए घनस्यामु ।। (विदग्धा)

यही नहीं, बिहारी ने इन नायिकाओ मे अनुशयाना और कुलटा आदि तक को स्थान दिया है। सयोग वर्णन में नायिकाएँ उसकी कृति का विषय क्यो नही बनती। कवि ने जैसे इनके प्रेम-क्रीडा व्यापारो मे भी वैशिष्ट्य अनुभव किया हो। इनके संकेतों का वर्णन भी उल्लेखनीय है—देवर के विवाह के बाद नायिका उसके प्रेम से वंचित हो जायेगी, उसकी वेदना देखिए :

फिरि फिरि बिलखि ह्वै लखति, फिरि फिरि लेति उसासु।
साँई ! सिर-कच-सेत लौं बीत्यौ चुनति कपासु ।। (अनुशयाना)
लखि, लौने लोइननु कैं कोइनु होइ न आजु।
कौनु गरीबु निवाजिबौ-किन तूठ्यो रतिराजु ।। (कुलटा)

इस तरह और भी अनेक नायिकाओ के सौन्दर्य और प्रेम वर्णन सतसई में मिल जाते हैं। कवि की दृष्टि जैसी किसी भी नायिका के काम और प्रेम-जन्य संवेग को छोड़ना नही चाहती और यही कारण है कि सतसई मे कवि ने सभी वरिष्ठ नायिकाओं के प्रेम सौन्दर्य को अपने संयोग वर्णन में स्थान दिया है। क्यो न हो यदि वे इनके लिए न कहते तो इनका एक कितना दर्द अनकहा और अनछुआ रह जाता।

शृंगार रस के शास्त्रीय रूप को आधार बनाकर यदि संयोग का विश्लेषण किया जाय तो भी बिहारी उसमें पूर्ण सफल कृतिकार उतरते हैं। शृंगार के संयोग पक्ष के मूलभूत शास्त्रीय तत्वों में आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव संचारी-भाव और स्थायी-भाव, आ जाते हैं। संयोग शृंगार के मूल में शारीरिक सौन्दर्य और आकर्षण चेष्टाओं और प्रेम-जन्य मनोविकारो का उत्कृष्ट वर्णन किया गया है, इनमें नायक-नायिका की संयोग-जन्य दशाओं और भंगिमाओ का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उद्दीपन विभाव की समस्त स्थितियों के मूल मे प्रेम-क्रीड़ा, ऋतु वर्णन, मद्यपान, और नायक-नायिकाओं की आँगिक चेष्टाएं आ जाती है। इन प्रेम-जन्य चेष्टाओं को कवि ने दर्शन, श्रवण, संभाषण और स्पर्श आदि के माध्यम से स्पष्ट किया है। यहाँ तक कि रति स्थायी-भाव के चरम रूप सुरत और सुरतान्त के चित्र भी बिहारी ने अत्यन्त

कुशलता से उरेहे है, । ऐसे कुछ उदाहरणों को हम आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे है, जिनसे शृंगार के सयोग पक्ष का शास्त्रीय स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा ।

ज ज्यौं उझकि झाँपति बदनु, झुकति बिहँसि सतराइ ।
तत्यौं गुलाल मुठी झुठी झझकावत प्यौ जाइ ।।

जहाँ नायक का गुलाल डालने के लिए झूठे ही मुट्ठियाँ बाँधना और नायिका का तंग करना उद्दीपन भंगिमा है ।

नाँक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल ।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरील गैल ।।

नायक और नायिका रास्ते चल रहे है । एक रास्ता साफ और दूसरा कंकरीला है । नायिका को वह अच्छे रास्ते चलाकर स्वय कंकरीले रास्ते चलता है । इससे पैर में कंकर चुभते हैं और नायिका सी-सी करती है जैसे उसे दर्द होता है । नायिका की इस सी-सी करने के व्यापार से नायक इतना उद्दीप्त होता है कि वह बार बार ऐसा चाहता है कि वह सी-सी करती रहे और वह इसीलिए फिर-फिर उसी रास्ते मे चलता है ।

अहे, दहेडी जिनि धरै, जिनि तूँ लेहि उतारि ।
नीकै व्है छीकै छुवै, ऐसे ई रहि, नारि ।।

यू नायिका तू ऐसे ही रह, न तो तू दहेडी छीके पर रख और न उसे उतार, बस तू तो छीके को छूने की इसी भंगिमा मे खडी रह । इस स्थिति मे नायिका का एक उत्तेजन भंगिमा (पोज़) बन जाता है और नायक को उसकी इस इन्द्रियोत्तेजक वक्ष उभार की आकर्षक मुद्रा को जी भर देखने का लालच है । सद्य:स्नाता का एक उदाहरण देखिए :

बिहँसति, सकुचति सी, दिए कुच-आँचर-बिच बाँह ।
भीजैं पट तट कौ चली, न्हाइ सरोवर माँह ।।

उसके अंगों की शोभा और उसका चिपके वस्त्रो मे स्तनो को बांहो से ढक कर निकलने की अवस्था नायक के प्रेमोद्दीपन का द्योतक है

संयोग सुख की अवस्था में होने वाले शारीरिक आनन्द से उत्पन्न स्वेद, रोमाच, भय, हर्ष, वैवर्ण्य आदि को सात्विक अनुभावो के अन्तर्गत लिया गया है । इन अनुभावों का उद्‌भव गुण, श्रवण, दर्शन, तथा प्रिय के स्पर्श के कारण होता है, इन सबकी प्रतिक्रिया स्वरूप हुए मनोवेगों और विकारों को ही सात्विक अनुभाव कहा जाता है । इन अनुभावो के संचारशील कार्यव्यापारों मे स्पर्शक्रिया सबसे प्रमुख होती है । नायक नायिका की वेणी गूँथ रहा है । स्पर्श मिलने से स्नान करने के बाद उसके स्वेद से केश पुन: गीले हो जाते हैं । कवि ने नायिका का सात्विक स्पष्ट किया है ·

रही, गुही बेनी, लखे, गुहिबे के त्यौनार ।
लागे नीर चुचान, जे, नीठि सुकाए बार ।।

कृष्ण उँगली पर गोर्वधन उठाये हुए थे, इतने में उन्हे राधा दिखाई पडी उन्हें कंप सात्विक हो आया। हाथ हिला, पहाड़ हिला और सारा ब्रज दुखी हुआ कृष्ण मारे लाज के पानी-पानी हो गए, —यहाँ कवि की परिकल्पना अनूठी है :

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल ।
कंपि किसोरी दरसि कै खरैं लजाने लाल ।।

इस तरह कवि इन सात्विक भावो का सफल वर्णन कर संयोग-शृंगार को पुष्ट करता है। इन वर्णनो में कुछ और श्रेष्ठ उदाहरणो का समावेश किया जा सकता है पर सभी पर लिखना यहाँ सम्भव नही है। सिर्फ़ दो उदाहरण और दिए जा रहे हैं :

मुखु उघारि पिउ लखि रहत रह्यौ न गौ मिस-सैन ।
फरके ओठ, उठे पुलक, गए उघरि जुरि नैन ।।
ऊँचै चितै सराहियनु गिरह कबूतरु लेतु ।
झलकित दृग, मुलकित बदनु तनु पुलकित किहि हेतु ।।

वियोग के चारो प्रकारों—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण आदि में खंडिता-नायिका के वर्णन मान के अंन्तर्गत ही आते हैं। प्रणय मे मान स्वाभाविक है और मनोवैज्ञानिक भी। परन्तु यह मनोवैज्ञानिक नहीं लगता कि मान को वियोग के अन्तर्गत रखा जाय। इसे तो विशुद्ध रूप से उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही रखा जाना चाहिए। हमने मान के कुछ उदाहरण नायिकाओ के प्रसंग में पहले दिए हैं। यहाँ मान का केवल एक उदाहरण पर्याप्त है :

सतर भौह, रूखे बचन, करति कठिनु मन नीठि ।
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हँसौ हीं डीठि ।।

पूर्वानुराग के भी एक दो उदाहरण देखिए :

इत तैं उत, उत तैं इतै, छिनु कहूँ ठहराति ।
जक न परति, चकरी भई फिरि आवति फिरि जाति ।।

(विकलता)

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि ।
आपु-आपु ही आरसी लखि रीझति रिझवारि ।।

(तन्मयता)

संयोग की इन स्थितियों और अनुभाव प्रेरित संचारियों के सन्दर्भ में बिहारी के हावों का वर्णन भी महत्वपूर्ण है कुछ आलोचक इसे उद्दीपन के अन्तर्गत लेते हैं

और-कुछ अनुभावों के। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में इनकी संख्या १८ मानी है। लाल चन्द्रिका के टीकाकार ने भी इनका वर्णन अनुभावो के सन्दर्भ मे ही किया है। जो हो, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि हाव नारी की संभोग-इच्छा को प्रकाश मे लाने वाले सचेष्ट व्यापार हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से आलोचक इसे "प्लेइन्स्टिंक्ट" मानते है वस्तुत. हाव चेष्टाओं का वह सूक्ष्म व्यापार है जिसे केवल प्रेमी पुरुष ही समझ पाता है। उसकी अभिव्यंजना अत्यन्त तीव्र होती है। अतः यह स्पष्ट है कि "हाव" का वर्णन केवल शृंगार रस मे ही हो सकता है अन्य रसो में इसका स्थान नगण्य है। बिहारी सतसई मे कवि का मन हावों के वर्णन में खूब रमा है तथा उन्होंने सतसई में लगभग सभी हावों का वर्णन किया है। हम यहाँ कुछ प्रमुख हावो के उदाहरण दे रहे हैं :

सुनि पग-धुनि चितई इतै न्हाति दियौ ही पीठ।
चकी, झुकी, सकुची, डरी, हँसी लजी सी दीठि॥

(किलकिंचित)

नाहिं नाहिं नाही करै नारि निहोरै लेय।
छुवत ओठ बिच अंगुरिनु बिरी बदन प्यौ देय॥

(कुट्टमित)

सकुचि सरकि पिय-निकट तैं मुलकि कछुक तनु तोरि।
कर आँचर की ओट करि, जमुहानी मुहु मोरि॥

(मोट्टायित)

उड़ति गुड़ी लखि लालन की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छांह॥

(विक्षेप)

"छुवति छबीली छाँह" मे स्पर्श सुख की जैसी प्रतीति हो और इसी भ्रम मे नायिका बावरी होकर नायक की पतंग की छाया छूने को आँगन में दौडती फिरती है।

बिधि बिधि कौन करै टरै नहीं या परै हूँ पानु।
चितै, कितै तै लै धर्यौ इतौ इतै ते, मानु॥

इन वर्णनों के अतिरिक्त रति स्थायी का भावन-करने के लिए कवि ने सुरत और सुरतान्त तक के अनूठे वर्णन किए हैं। काम-कला प्रवीण नायक नायिकाएँ प्रेम की सभी क्रीड़ाओ मे जैसे अत्यन्त प्रवीण हो और उनके इंगितो की भाषा केवल वही समझते हों पर सुरत की इच्छा और उसकी प्रतिक्रिया में उभरे संचरणशील मनोविकार भी कहीं छिप सकते हैं? बिहारी के ऐसे वर्णन उनकी विदग्ध रसज्ञता का परिचय देते हैं।

संभोगेच्छा के कुछ उदात्त चित्र जिनमें केवल इंगितों और तज्जन्य शारीरिक व्यापार ही कार्य करते हैं, दृष्टव्य है। इन चित्रों के बाद ही कवि ने नायिका के सुरत वर्णन किये हैं, जो रसोद्रेक के चरम को प्रस्तुत करते है :

लाज गहौ, बेकाज कत घेरि रहे, घर जाँहि।
गोरसु चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नाँहि।।
देख्यौ अनदेख्यौ किये, अंग अग सबै दिखाइ।
पैठति सी तन मैं सकुचि बैठी चितै लजाइ।।
भौहनु त्रासति मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु इंची आगैं आवति जाति।।
त्रिबली, नाभि दिखाइ कर सिर ढकि, सकुचि, समाहि।
गली, अली की ओट कै, चली भली बिधि चाहि।।

उक्त सभी दोहों में बिहारी की नायिका की रति-जन्य कामना स्पष्ट होती है। कितनी विलक्षणता से वह मन का भाव स्पष्ट कर निश्चित हो जाती है। वस्तुतः ये सब कार्य-व्यापार उसकी रागात्मकता, प्रेम-विदग्धता और चातुर्य को स्पष्ट करते है। ऐसे कार्य-व्यापार नगर की कला कुशल नायिकाएँ ही कर सकती हैं।

उक्त वर्णनो के परिप्रेक्ष्य मे कवि द्वारा वर्णित संयोग शृंगार की कुछ सुरतिमूलक मुद्राओ की परिचिति भी महत्वपूर्ण है। कुछ चित्र प्रस्तुत हैं :

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक झपट, लपटानि।
ए जिहि रति, सो रति मुकति, और मुकति अति हानि।।

परम आनन्द देने वाली रति-मुक्ति वही है, 'जिसमें उक्त लक्षण हो। सुरति के कुछ वर्णन देखिए :

सकुचि सुरत-आरम्भ ही बिछुरी लाज लजाइ।
ढरकि ढार, ढुरि ढिग भई ढीठि ढिठाई आइ।।

नायिका की देहद्युति रति के आनन्द को किस प्रकार और अधिक बढ़ा देती है। नायिका से रति करने के लिए नायक ने दीपक बुझा दिया पर नायिका की देह-द्युति से अँधेरा न मिटा। लाज दूर न हुई, वह और लजाकर नायक से लिपट गई :

दीप, उजेरैं हू पतिहि हरत बसनु रति-काज।
रही लपटि छबि की छटनु, नेकौ छुटी न लाज।।
अँगुरिनु उचि, भरु भीति दै, उलमि चितै चख लोल।
रुचि सौं दुहूँ दुहूँन के चूमे चारु कपोल।।

यही नहीं, कवि ने विपरीत-रति तक के वर्णन किये हैं और ये वर्णन इतने सक्षम हैं कि इनमें कवि ने कहीं नग्नता नहीं आने दी। नायिका क्रीड़ा-गर्व और

कृत्रिम झल्लाहट आदि को उभारने की ही कवि की चेष्टा रही है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सहज स्वाभाविक लगता है। कुछ उदाहरण देखिए :

पर्‌यो जोरु, विपरीत रति रुपी सुरत-रन-धीर।
करति कुलाहलु किंकिनी, गह्यौ मौनु मंजीर।।
बिनती रति विपरीत की करी परसि पिय पाइ।
हँसि, अनबोलैं ही दियौ ऊतरु दियौ बताइ।।
राधा हरि, हरि राधिका बनि आए संकेत।
दंपति रति-विपरीत-सुखु सहज सुरतहूँ लेत।।
रमन कह्यो हठि रमनि कौ रतिविपरीत-बिलास।
चितई करि लोचन सतर, सलज सरोस, सहास।।

इसके साथ ही कवि ने इसी धैर्य और शालीनता से सुरतान्त के वर्णन भी किये हैं। एक उदाहरण एतदर्थ अलम् होगा :

नीठि नीठि उठि बैठि हूँ प्यौ प्यारी परभात।
दोऊ नीद भरै खरै, गरै लागि, गिरि जात।।

इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण करने पर बिहारी का संयोग शृंगार पूर्ण सफलता की कसौटी पर उतरता है। यों आज के काम-तत्व, सौन्दर्य बोध और प्रेम को दृष्टि में रख कर भी यदि बिहारी के इस संयोग शृंगार का मूल्यांकन किया जाय तो भी उसे असफल कवि नहीं ठहराया जा सकता। आज के कवि मनोविज्ञान की आड़ में शृंगार के अन्तर्गत काम-भावना के विकृत रूप प्रस्तुत करते हैं। यह 'सेक्स' चाहे उचित हो, मर्यादा पूर्ण हो या 'परवर्टेड' उसे साहित्य के नाम पर पचा तो लिया ही जाता है। फिर बिहारी जैसे रसज्ञ और मर्मस्पर्शी कवि के इन वर्णनों को अश्लील कहकर नाक-भौं सिकोड़ने का अभिनय करने वाले आलोचकों का यह कौन सा धर्म है ? बिहारी को ही क्या समस्त रीति-काल को घोर शृंगारिक काल कहा जाता है। कहा जाय ! पर इस काल के कवियों के साथ न्याय तो हो। उनके सृजन-कर्म को इतनी सतही दृष्टि से देखा गया है, कि उसकी मर्मस्पर्शी कविता भी इन आलोचकों के हाथ पड़कर अत्यन्त सस्ते निर्णयों का शिकार बन गई है। यह सही है कि बिहारी के शृंगार वर्णन पर संस्कृत, अपभ्रंश, फारसी, लक्षण ग्रन्थों तथा राज दरबारी परम्पराओं का प्रभाव है, पर उससे कवि के वर्णन कौशल, रसोद्रेक और वस्तु विषय को मौलिकता से रहित कहकर उसके सृजन की उपेक्षा की दृष्टि से देखना कहाँ तक संगत है। हमारी पुष्ट धारणा है कि रीतिकाल के साथ न्याय होना चाहिए और इस काल के कवियों के सृजन का उचित मूल्यांकन होना चाहिए। आलोचकों ने भावोत्कर्ष की दृष्टि से उसके काव्य को अनुत्कृष्ट कहा है यह बात समझ में नहीं आती एक ओर उनके शृंगार को एक सिद्धि माना जाता है

और दूसरी ओर उसमे दोष निकालने की दृष्टि से दोष ढूढे जाते हैं। इसमें आलोचक अपनी दृष्टि को, पूर्ण निसंग हो, कहाँ तक अनामिल रख पाता है, यह सोचने की बात है।

बिहारी का एक-एक दोहा अपने आप मे प्रबन्ध है। उसके विषय-वैविध्य पर असंगति का, शृंगार वर्णन की कुत्सितता, रीति लक्षणों की पूर्ति और उपदेशक की प्रकृति एवं अलंकरण की अनावश्यकता के लाछन लगाए गए है। यह दोष दृष्टाओ की विद्वत्ता का परिचायक तो लगता है कि वे छिद्रान्वेषण मे कुशल है परन्तु साथ ही उनकी रस-दृष्टि, सौन्दर्य बोध, प्रेमजन्य विदग्धता एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि आदि के सम्बन्ध में उनके मत ही ज्ञान का बोध भी कराते है। हम अपने विश्लेषण मे पहले भी यह कह चुके है कि मध्ययुगीन दृष्टि से देखने पर तो बिहारी की काव्य-विदग्धता और वस्तु-वर्णन सौंदर्य में पर्याप्त सौष्ठव मिलेगा ही, परन्तु यदि उसे आज के चश्मे से या आधुनिक दृष्टि से देखने पर भी उनका काव्य रस की उसी रससिद्धि को प्राप्त करता हुआ खरा उतरता है। बिहारी जैसे रससिद्ध कवियो का ही नही, रीतिकाल के लगभग सभी श्रेष्ठ कवियों का एक अनाविल दृष्टि से एक बार फिर उचित ही या न्यायोचित मूल्याकन होना चाहिए, ताकि रीति काल के साहित्यिक महाप्राणत्व का सच्चा प्रतिनिधित्व हो। रीतिकाल सिद्धान्त-सापेक्ष और सिद्धान्त-निरपेक्ष दोनो प्रकार की दृष्टि लेकर रचे गए साहित्य से सम्पन्न काल है और बिहारी इसी रीतिकाल के एक रस प्रणेता सिद्धि प्राप्त कवि है।

एक बात और है, वह है बिहारी के पाठ की। उसका प्रमाणिक पाठ उपलब्ध न होने से बिहारी के सम्बन्ध में कई निर्णय ठीक से नही लिए गए। बिहारी का प्रमाणिक पाठ सम्पादन हो, इस ओर हम विद्वानो का ध्यान आकर्षित करते हैं और साथ ही यह बात भी विनम्रता से कहना चाहते हैं कि पूर्वाग्रह या किसी भी अन्य आग्रह से मुक्त हो, यदि वे बिहारी का एक बार सही मूल्याकन करने की अन्तर्दृष्टि जुटायें तभी इस कवि के काव्य का वास्तविक आनन्द ले सकेंगे और बिहारी मध्य युग के अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न रस-सिद्ध कवि थे या नहीं इस तथ्य का नीर-क्षीर विवेक हो सकेगा।

बिहारी का वियोग शृंगार

● प्रोफेसर संसार चन्द्र

बिहारी हिन्दी-जगत में शृंगार रस के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं, इस पर दो मत नहीं हो सकते। इनकी तीक्ष्ण दृष्टि ने मानव जीवन की सर्वप्रधान वृत्ति प्रेम के अन्तरतम में पैठ कर जिस प्रकार उसके कोने-कोने, अणु-अणु को आलोकित किया, उसी तरह प्रेम के आधारभूत सौन्दर्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म संकेत को, उसकी क्षण-क्षण में परिवर्तनमान छटा को भी निहारा और फिर उनके ऐसे सर्वांगपूर्ण चित्र खींचे जैसे शायद ही अन्यत्र मिले। प्रसिद्ध अंगरेज मनीषी डा० ग्रियर्सन ने—"मैंने बिहारी के जैसी कविता योरप की किसी भाषा मे नहीं देखी" कह कर उन्हे विश्व के प्रेम कवियों में जो सर्वश्रेष्ठ पद दिया है, उसमे स्वल्प मात्र भी अतिरंजना नहीं है।

बिहारी ने अपने चित्रण कौशल से शृंगार की सर्वांगीण अभिव्यक्ति की है। उनकी सारी सतसई एक विशाल चित्र वीथिका है, जिसमें विभाव, अनुभाव और संचारी-भाव की स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म दशाओं के मार्मिक,सजीव एवं स्वाभाविक चित्र हैं। विलक्षण कल्पना, प्रतिभा-पाटव तथा पैनी अन्तर्दृष्टि की तूलिका से जो फड़कता रंग-रूप इन चित्रों को प्राप्त हुआ है, वह बिहारी जैसे कुशल कलाकार का अपना चमत्कार है। शृंगार के दोनों संयोग और वियोग बिहारी की प्रत्युत्पन्न प्रतिभा के स्पर्श से सम्यक् प्रतिभा सिद्ध हुए हैं। वियोग में तो बिहारी की सर्वतोमुखी शृंगार भावना की सुन्दरी विशेष रूप से निखर आई है। वास्तव में शृंगार को "रसराज" पद देने का अधिकतर श्रेय विप्रलंभ वियोग को ही है, और यही कारण है कि सभी कलाकारों ने संयोग पक्ष की अपेक्षा वियोग पक्ष को अधिक महत्व दिया है। हम देखते हैं कि हृदय वीणा की कितनी मधुरतम तान वियोग में छिड़ती है उतनी संयोग के मधुर क्षणों में नहीं। एक अंगरेज कवि के ये शब्द "लव इज् लवलिएस्ट ह्वेन एबन्डैन्ट इन टियर्स।" अर्थात् अश्रु परिलक्षित होने पर ही प्रेम सौन्दर्य की पराकोटि में पहुँचता है,सर्वथा तथ्य पूर्ण है। सोना प्रबल अनलताप में जब खूब तप जाता है तब कहीं कुन्दन बनता है। प्रेम परीक्षा की कसौटी भी विरहानल की भट्ठी ही है।

कुछ लोग विरह में प्रेम को क्षीण प्राय समझते हैं। वे "मुँह देखे की मुहब्बत" के पक्षपाती हैं। दूसरे शब्दो मे वे "आँख की ओट, मन से बाहर" "आउट आफ साइट आउट आफ माइन्ड" वादी है। उनके कानों में कालिदास के ये शब्द

"स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनः" अर्थात् कुछ लोग विरह में प्रेम को समाप्त हुआ कहते है, अवश्य गूंजते रहते है। वास्तव में यह उनका महान् भ्रम है। केवल शरीर एव उसकी क्षण-भंगुर सौन्दर्य छटा की उपस्थिति में भडक जाना और उसके अभाव मे ठंडा पड़ जाना प्रेम नहीं होता। वह वासना होती है जिसे हम प्रेम के ऊपर चढ़ी हुई मल की परत कह सकते हैं। इस मल का तो कालिदास ने स्वतः परिशोधन किया है। मेघदूत, कुमार सम्भव और शाकुन्तल प्रायः प्रेम यज्ञ है, जिनमें क्रमशः कुबेर के शापानल, महादेव की तृतीय नेत्रार्चि और दुर्वासा की क्रोधाग्नि से यह मल सर्वथा फूंक डाला गया है। इसके अतिरिक्त यज्ञ, पार्वती और शकुन्तला तपोवन में उतर कर साधना करने के बाद ही सच्चे प्रेम के पात्र बन सके है। इस तरह प्रेम भौतिकता के ऊपर एक अध्यात्मिक वस्तु है। इसका निखार विरह मे ही हुआ करता है। कारण यह है कि अपनी मुक्त दशा में होने से संयोग में तो यह केन्द्रानुग-समस्त संसार से सिमट कर एकनिष्ठ ही रहता है, उसमे आगे नही जाता किन्तु वियोग में ऐसी बात नही। प्रेम भावना वियोग मे अपनी सीमित-परिधि से निकल कर असीम रूप मे अभिव्यक्त होने लगती है। फिर तो क्या अन्य सभी जड-चेतनो मे प्रियतम अथवा प्रियतमा के दर्शन होने लगते हैं। इस तरह प्रियतमात्मकता के अद्वैतवाद की पुनीत अनुभूति में परिनिष्ठित हुआ प्रेम विरही जन को सान्त से अनन्त की ओर ले जाता है और मर्त्य से अमर बना देता है।

वियोग-चित्रण मे बिहारी को निसदेह प्राचीन संस्कृत कलाकारों से मिली है। विरहियों की अपनी अग्नि-परीक्षा में दस दशाओं से होकर निकलने की जो प्राचीन परम्परा है, उसका बिहारी ने पूरा-पूरा उपयोग किया है। वे है "अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण कथन, उद्वेग, प्रलाप, व्याधि, जडता और मरण। सभी पर उन्होने तूलिका चलाई है। इसमे सन्देह नहीं कि व्याधि पर आपने अधिक रंग बिखेरा है। इसके अतिरिक्त स्वप्न-दर्शन, सन्देश एवं पत्रादि द्वारा मनोविनोद के भी चित्र खीचे हैं। अभिप्राय यह है कि विरह-व्यथित मानव-हृदय की जितनी दशाएं और वेदनाएं होती है, सभी का सफल अंकन किया है। दोहों का शब्द-शब्द अक्षर-अक्षर, वियोग की गहरी आहें भरता हुआ अन्तर्व्यथा की सूक्ष्म से सूक्ष्म धडकन से स्पन्दित है। यहाँ तक कि सारी वाह्य प्रकृति भी संवेदना पूर्ण हो स्वयं भी विरह की आग उगलने लगती है। इस तरह के चित्रण में बिहारी ने अवश्य यत्र-तत्र कुछ अतिशयोक्तियो और अत्युक्तियो 'का भी आश्रय लिया है किन्तु वे सब लाक्षणिक हैं, व्यथा की गहराई को हृदयंगम बनाने के लिये हैं, व्यंग्यार्थ को अधिक चुभता रूप देने के अभिप्राय मे हैं। उन्हें अपने वाक्यार्थ में लेना और कवि पर अस्वाभाविकता का दोष मढ़ना सरासर अनुचित है

वियोग पक्ष के चित्र खीचने से पूर्व बिहारी प्रारम्भ में नायिका को प्रवत्स्यत्पतिका के रूप में यों अंकित करते है :

ललन चलन सुनि चुपु रही बोली आपु न ईठि ।
राख्यो गहि गाढ़ै गरे मनो गलगली डीठि ।।

ललन-प्रियतम की चलने की बात उन्ही के मुंह से सुनकर बेचारी चुप रह गई । स्वयं ईठि-प्रेम-पूर्वक जैसे पहले बोला करती थी, वैसे आज न बोली। वह समझदार थी, देख रही थी, कि परदेश-गमन के दुख से स्वयं प्रियतम की आँखें डबडबा गई हैं । वह भी यदि अपनी वियोग-व्यथा कह देती तो बेचारे को और भी दुख होता, इसलिए दिल ममोस कर चुप खडी रही, ऐसी लगती थी कि मानो प्रियतम के आँसुओं से गीली दृष्टि ने बेचारी के गले का मार्ग रोक रखा हो। बोले तो कैसे बोले ? प्रियतम भी क्या है ? विवश था । घर बैठे भी कहीं आजीविका चलती है । अन्त में हृदय पर पत्थर रख कर परदेश चल ही पड़ा । युगल का यह जुदाई का यह क्षण कितना मर्मान्तिक हुआ करता है तभी तो कालिदास के विरही यक्ष ने मेघ के हाथों अपनी प्रियतमा को सन्देश भेज कर अन्त में कृतज्ञता के रूप में मेघ के लिये केवल यही मंगल कामना की थी

"माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोग:
उत्तर मेघ—५५

"परमात्मा करे तुम्हे क्षण भर भी अपनी "बिजली" से ऐसा वियोग न हो" । मेघ तो निमित्त मात्र है । वास्तव में कवि मेघ के व्याज से मनुष्य मात्र के लिए यह कामना करता है कि उनका अपनी प्रियतमाओं से वियोग न हो। किन्तु यहाँ तो लाचारी है । बेचारी के सिर पर वियोग का पहाड़ टूटने का पहला ही अवसर है । प्राणों पर आफत आने लगी । शैतान की आँत की तरह लम्बी वियोग की रातें काटे नही कटतीं । हृदय का दुख भरा संसार किसे दिखाए । मन किसी भी काम में तो नही लगता । मन बहलाव का साधन अपनाने पर भी उसकी बेचैनी का चित्र बिहारी ने यो खीचा है :

ह्यां तैं ह्वां ह्वां तैं इहाँ नेकौ धरति न धीर ।
निसि दिन ठाढ़ी सी फिरवि बाढ़ी गाढ़ी पीर ।।५२५

यहाँ से वहाँ जाती है और वहाँ से यहाँ आती है, परन्तु जरा भी धीरज नही धर सकती। "गाढी पीर" ऐसी अधिक बढी हुई है कि जली हुई सी रात दिन इधर-उधर फिरा करती है । जले हुए आदमी को चैन कहाँ ? तड़पता ही रहता है । वियोग भी जलाने वाली अग्नि ही तो है । चेहरे का सारा रंग जाता रहा । कुछ ही दिनो में देखिये क्या थी और क्या हो गई :

कर के मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाय।
सदा-समीपिनि सखिनि हूँ नीठि पिछानी जाय ।। ५१६

हाथ से मसले हुए फूल की तरह बेचारी ऐसी कुम्हिला गई है कि सर्वदा पास मे रहने वाली सहेलियों द्वारा भी बड़ी मुश्किल से पहचानी जा रही है। सखियाँ हैरान हैं कि उसकी फूल जैसी देह कहाँ गई। वियोग रोग होता ही ऐसा है कि मनुष्य सूखकर काँटा बन जाता है। इस पर कोई भी औषधि अपना प्रभाव नही दिखा सकती। यह सर्वथा लाइलाज है। किन्तु एक बात अवश्य अच्छी है और वह है "विरह सुकाई देह, नेहु कियौ अति डह डहौ।" देह को निःसन्देह विरह ने सुखाकर क्षीण बना दिया है, परन्तु स्नेह को हरा-भरा-लहलहाता कर किया। यह तो जवासा और जवाकुसुम की सी बात हो गई है। वर्षा ऋतु के मेघ के बरसने पर जवासा तो क्षीण हो जाता है, किन्तु जवाकुसुम नये कोपलो से सम्पन्न होकर लहलहा उठता है वास्तव में प्रेम का निष्कर्ष विरह ही होता है। क्यों न डहडहा हो। बेचारी की शरीर-क्षीणता का चित्र देखिए :

करी बिरह ऐसी तऊ गैल न छाड़त नीचु।
दीने हूँ चसमा चखनि चाहै लहै न मीचु ।। (१४०)

विरह ने ऐसा बना दिया कि मीचु (मौत) आँखों पर चश्मा लगा कर भी देखना चाहे तो भी न देख सके। देखे और ढूँढे भी कैसे ? वह तो क्षीण होकर परमाणु बनी हुई है। जहाँ आँख की गति ही नही, चश्मा क्या करेगा ? कृशता की भी हद हो गई है। इतना होने हर भी मुआ विरह उसका पीछा नही छोड़ता। आलोचक इसे अतिशयोक्ति कहेंगे, किन्तु इस वाच्यार्थ के पीछे छिपा हुआ व्यंग कितना मार्मिक एवं हृदय से सम्बद्ध है, यह सहृदय ही जानेंगे। बिहारी के इस चित्र को देख कर एक उर्दू कवि की उक्ति बरबस याद आने लगती है :

इन्तहाए लागरी से जब नज़र आया न मैं।
हँस कें वो कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए ।।

कालिदास ने भी यक्ष के मुँह से मेघ को कहलवाया था :

"जमीन पर एक करवट से पड़ी हुई मेरी प्रिया को तुम आस-पास बिखरे हुए मोतियो की लड़ियों जैसे आँसुओ से ही पहचान सकोगे। वैसे उनका पता लगाना कठिन है" :

आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां।
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ।। उत्तर मेघ—२६

बिहारी की कल्पना ने तो ऐनक धारी मृत्यु को भी पहचानने में असमर्थ ठहराकर कालिदास से टक्कर ली है

कृशता के साथ-साथ विरहिणी को जब देखो ताप भी चढ़ा रहता है। "बिरह बरनि बिललात" देखकर सखियाँ ठंडक पहुँचाने के लिए गुलाब जल लाती हैं किन्तु शरीर पर डालते-डालते वह बीच मे ही सूख जाता है। अहो! कैसा तीव्र ताप है कि एक भी बूंद गात्र तक पहुँचने नही पाती। श्री हर्ष की विरहिणी दमयती का भी ऐसा ही हाल था। सखियाँ उसके हृदय पर "सरसं सरसी रूहम्" रखना ही चाहती थी कि वह तत्काल "श्वसित निर्मित मर्मरम्"—मुख के भभके से पापड़ बन जाता था। यहाँ तो खस-खस की "राक्टी" का भी प्रबन्ध किया गया, जो जेठ की दोपहरी को भी माघ की जैसी रात बना देने के लिए प्रसिद्ध है, किन्तु क्या किया जाय, वह भी यहाँ "उबली जाती है"। पड़ोसिनें हाल पूछने के लिए आया करती हैं। शीत-ऋतु में तो उन्हे नायिका के पास बैठे रहने मे कोई असुविधा नही होती, बल्कि सुख ही पहुँचता है क्योकि हीटर जो पास ठहरा, किन्तु ग्रीष्म मे उन्हे भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि इसकी पडोसिन होना अपनी जान जोखिम मे डालना है। वास्तव मे दुगना ताप सहना कोई सरल बात नहीं है। कोटि यत्न करने पर भी बेचारी की "तन की तपनि" तब तक नही जा सकती "जौ लौ भीजै चीर लौ रहे न प्यौ लपटात" इसका ऐसा भाग्य कहाँ? "प्यौ" देवता तो सुदूर परदेश में हैं जिनका जल्दी लौट आना बड़ा कठिन है। इसे तो अपने देवता के ध्यान और चिन्तन मे तिल-तिल कर जलना ही बदा है।

हृदय का पिघल-पिघल कर आँखों से बह आने का करुण चित्र देखिए:

तच्यौ आँच अब बिरह की रह्यौ प्रेम-रस भीजि।
नैनन के मग जल बहै हियो पसीजि पसीजि॥ ३७८

अर्थात् प्रेम रूपी रस (जल) से भीगा हुआ तथा विरहाग्नि की आँच से संतप्त बेचारी का हृदय पसीज-पसीज कर नैनों के रास्ते जल के रूप में बह रहा है। यहीं बिहारी ने सारी की सारी अर्क प्रक्रिया हीं सामने रख दी है। किसी वस्तु को खूब भिगो दो और फिर नलिका यन्त्र में आग पर चढ़ा दो, अर्क निकल आयेगा। नायिका का हृदय तो प्रेमरस में भीगा हुआ हैं ही, अग्नि विरह बन गई और आँखें नालिका हैं ही। कलाकार की कूची ने समासोक्ति का कैसा बढ़िया रंग चढ़ाया है कि देखते ही बनता है। सुकवि पं० अम्बिकादत्त व्यास ने उपरोक्त दोहे पर कुण्डलियाँ बनाकर चार चाँद लगा दिए हैं।

दोहों के साथ मिला कर आगे पढ़िए:

"हियो पसीजि-पसीजि हाय दृग द्वार बहत है।
काजर नहि जरि गए अधिक रंगस्याम गहत है॥
"सुकवि" बूंद मिस टूक-टूक ह्वै निकरि चल्यौ सब।
नाय याहि में प्रीतम है यह तच्यै आँच अब।

अन्त मे अपने को जीवन से निराश अनुभव करती हुई नायिका ने पत्र में नायक जो सन्देश भेजा वह भी पढ़िए :

बिरह बिपति-दिन परतही तजे सुखनि सब अंग ।
रहि अब लौ,ब दुखौ भए चलाचली जिय संग ।। (४८५)

अर्थात् विरह विपत्ति के दिन आने पर सुखो ने तो सभी अंग छोड़ ही दिए थे। दु ख ही अब तक साथ रहे किन्तु अब वे भी प्राणों के साथ चला-चली कर रहे हैं—न जाने की ही तैयारी कर रहे है। कितनी मर्मान्तिक एवं करुण भरी पत्रिका है। पढ़ते ही सारा शृंगार करुण की सीमा पर मँडराने लगता है। उस बेचारी का भी वश नही चलता था। प्राणों का घर हृदय ही हुआ करता है और, जैसा कि ऊपर कह आये है जब वही पिघल-पिघल कर बाहर-निकलने लगे तो वह कब तक टिका रह सकता है। एकदम शरीर को मूर्छा और जडता घेरने लगी, और वह दिन भी आ पहुँचा कि रही कराहि आज मुँह "त्राहि न त्राहि" सारे मोहल्ले मे हल्ला मच गया। पडोसिने इकट्ठी हो गई जो भी हाल देखती करुणा के दो आँसू बहा देती, दारुण यंत्रणा देखकर किसी एक के मुख से तो निकल ही पड़ा—"विरह ज्वाल जरिबो लखै मरिबौं भई असीस" अर्थात् इस प्रकार जलती हुई देखने से तो इसका मर जाना एक असीस होगा, क्योकि मर जाने से बेचारी इस महान् कष्ट से तो छूट जायगी। झट उत्तर में दूसरी भी बोल उठी "मरन मिटे दुख एक को विरह दुहूँ दुख होइ"। यों एक दम सारा वातावरण करुणा से भर गया और बुरे आसार प्रकट होने लगे। सभी देखने वालो के हृदय पुकार उठे कि "अब मरी कि तब मरी", और अन्ततः ना हुई भी नहीं। "मीचु सचानु" मृत्यु रूपी जो अब तक "विरह अगिनि लपटनु" के डर से झपट न सकता था, साहस बटोर कर झपट ही पडा और देखते ही देखते बेचारी के "संसौ-हसौं" श्वास रूपी हंस को ले उडा। सबके सब अवाक रह गए। ट्रेजिडी होकर ही रही। एक देवी प्रेम बेदी पर बलि चढ़ गई और भविष्य मे प्रेम के घर मे प्रवेश करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को सदा के लिए एक ज्वलंत चेतावनी दे गई—"सीस उतारि भुइमाँ धरे तब बैठे घर माँहि।" मृता ने मनोविनोद के लिए घर में एक तोता पाल रखा था। बाद में अकेला वही जिस तरह अपनी मालकिन की करुण कहानी आने-जाने वालो को सुना-सुना कर रुलाया करता था, उसका भी चित्र बिहारी ने खींच रखा है और यह उसके वियोग पक्ष का अंतिम चित्र है :

कहे जु बचन वियोगिनी बिरह-बिकल बिललाय।
किए न को अंसुआ सहित सुवाति बोल सुनाइ।।

बिरह से विकल हुई उस वियोगिनी ने (प्राण त्यागते समय निराश हो) बिललाकर जो बचन कहे थे -- उन्हे सुना सुना कर सुग्गे ने किसको अश्रु पूर्ण नही किया ? एक स्वामीभक्त सेवक की तरह वह सुग्गा स्वयं भी जीवन पर्यन्त रोता

रहा, सुग्गा क्या रोया, बल्कि सुग्गे के रूप में स्वयं प्रकृति रोई। मृता की चितानल से जो धुआँ निकला वही बादल बन कर आज तक आँसू बहाता रहता है और वियोगिनी के प्रेम-बलिदान की करुण कहानी को सदा हरा-भरा किये रहता है।

हम पीछे कह आये है कि वियोग की अन्तिम दशा मृत्यु हुआ करती है, । किन्तु क्या संस्कृत-साहित्य और क्या हिन्दी-साहित्य कही किसी बिरले ही कलाकार ने मृत्यु का चित्र खीचा होगा। कवियों ने अधिक से अधिक मरणावस्था तक ही वियोगियो को पहुँचाया है, उसके आगे नही गए। बिहारी एक ऐसे कलाकार हुए हैं जिन्होने वास्तविक मृत्यु तक का चित्र खीचा है जो हिन्दी-साहित्य मे एक सर्वथा नवीन उद्भावना है।

यहाँ बिहारी सतसई मे बिखरे हुये वियोग के उच्छ्वासों को बटोर एवं पिरोकर एक लडी के रूप मे पाठको के सामने रखा है। यद्यपि कलाकार के एलबम में अनेक ऐसे चित्र है जिनमें वियोग अपनी चरम अवस्था को पहुँच चुका है, परन्तु यहाँ उनमे से कुछ एक का ही उपयोग किया गया है। वियोग की तरह बिहारी का संयोग पक्ष भी अत्यन्त उत्कृष्ट है। कहना न होगा कि कवि ने प्रेम के किसी भी पहलू को अछूता नही छोड़ा। यही कारण है कि शृंगार मे बिहारी से टक्कर लेने वाला अन्य कोई हिन्दी कवि नही है। हिन्दी साहित्य गगन में यदि "सूर सूर तुलसी ससी" है तो श्री राधाचरण गोस्वामी के शब्दो में "बिहारी पीयूष वर्षी मेघ हैं, जिनके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है। फिर जिसकी दृष्टि से कवि कोकिल कुहकने, मन मयूर नृत्य करने और चतुर चातक चहकने लगते हैं। फिर बीच में जो लोकेतर भावों की विद्युत चमकती है वह हृदयच्छेद कर जाती है।

———

बिहारी सतसई में नायक-नायिका भेद

● डॉ० भगवानदास तिवारी

हिन्दी-साहित्य के उत्तर मध्यकाल में रीति-परम्परा का जो चरमोत्कर्ष बिहारी सतसई में परिलक्षित होता है, उसका मूल उत्स संस्कृत-साहित्य-शास्त्र मे पाया जाता है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में नायक-नायिका-भेद-निरूपक ग्रन्थो के तीन वर्ग हैं। यथा,नाट्य-शास्त्र, काव्य-शास्त्र और काम-शास्त्र। नाट्य-शास्त्र के अंतर्गत भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र, धनंजय का दशरूपक, सागरनन्दी का नाटकलक्षणरत्न-कोष तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण उल्लेखनीय है। काव्य-शास्त्र में नायक-नायिका भेद निरूपण दो प्रकार के ग्रन्थो मे पाया जाता है। प्रथम प्रकार के वे ग्रन्थ हैं, जिनमें शृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद का विवरण मिलता है, जैसे—रुद्रट का काव्यालकार, भोज का सरस्वती कंठाभरण और शृंगार प्रकाश, आचार्य विश्वनाथ का साहित्य दर्पण आदि। शृंगार रस की चर्चा करते हुए नायक-नायिका प्रकरण लिखने वाले रुद्र भट्ट, श्रीकृष्ण कवि, वाग्भट्ट प्रथम, हेमचन्द्र, शारदा तनय, विद्यानाथ, शिंग भूपाल, वाग्भट्ट द्वितीय, केशव मिश्र आदि कवि भी इसी वर्ग मे परिगणित किए जा सकते है। दूसरे प्रकार के वे ग्रन्थ है, जिनमे केवल नायक-नायिका भेद ही निरूपित किया गया है। भानु मिश्र की रसमंजरी या अकबरशाह 'बड़े साहब' की शृंगार मंजरी इसी वर्ग की रचानाएँ है। इनमे भी भानु मिश्र की रसमंजरी बडी प्रभविष्णु रचना है, क्योकि कृपाराम कृत हित तरंगिणी, सूरदास कृत साहित्य लहरी, नन्ददास की रसमंजरी, रहीम कृत बरवै नायिका भेद और सुन्दर कवि कृत सुन्दर शृंगार आदि पर भानुमिश्र की रसमंजरी का व्यापक प्रभाव पाया जाता है। रीति-काल के आचार्य केशव की रसिक प्रिया पर रसमंजरी के अतिरिक्त, साहित्यदर्पण, रसार्णव सुधारक, सरस्वती कण्ठाभरण आदि की भी हल्की सी छाया पायी जाती है। इसी परम्परा मे काव्यशास्त्र के अन्तर्गत रीतिकाल मे अनेक नायक-नायिका भेद निरूपक ग्रन्थों की रचना हुई है।[1] नाट्य-शास्त्र और काव्य-शास्त्र के बाद काम-शास्त्र में नायक-नायिका भेद का अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तीर्ण विवरण मिलता है, इसके लिए वात्स्यायन का कामसूत्र, कक्कोक या कोका पण्डित का रति रहस्य, महाकवि कल्याण मल्ल कृत अनंग रंग एवम् ज्योतिरीश्वरी कृत पंच-सायक पठनीय ग्रन्थ हैं।

कामशास्त्र में नायक-नायिका की रतिक्रीड़ा को अत्यन्त सूक्ष्म, विशद, व्याव-हारिक एवम् वैज्ञानिक दृष्टि से शास्त्रीय अध्ययन का विषय बनाया गया है और

स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग की रचना, उनकी कामशक्ति, प्रेमप्रिया, परिस्थिति, प्रवृत्ति आदि के आधार पर उनका वर्गीकरण किया गया है। काम-शास्त्र के अनुसार स्त्रियों के चार प्रमुख भेद किए गए हैं—(१) पद्मिनी, (२) शंखिनी, (३) चित्रिणी, और (४) हस्तिनी। इनके साथ-साथ उसमे कन्याप्रकरण, पारदारिक प्रकरण, वैशिक प्रकरण, ज्येष्ठाक लिष्ठावृत्त, अनेक कान्तानुवृत्ति इत्यादि के माध्यम से स्त्री-पुरुष की कामवृत्ति का सांगोपाग विवेचन भी किया गया है।

बिहारी की समसामयिक और पूर्ववर्ती नायक-नायिका भेद निरूपक साहित्य-परम्परा के परिपार्श्व में यदि उनकी सतसई का अन्तर्मन्थन और विश्लेषण किया जाय और बिहारी सतसई में विद्यमान नायक-नायिका के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदोपभेदों को देखा जाय तो साधिकार इस तथ्य की घोषणा की जा सकती है कि बिहारी पूर्ववर्ती और युगप्रचलित नायक-नायिका भेद परम्परा के केवल ज्ञाता ही नहीं अपितु उसके निष्णात् आचार्य और प्रकाण्ड विद्वान् भी थे, इसीलिए नायिका के चक्षुग्राह्य रूपसौंदर्य, उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव एवम् क्रियाकलापो के चित्रण मे उन्होंने अद्वितीय सफलता पाई है। संक्षेप मे, बिहारी नायिका की अन्तर्वृत्ति, उसके रूप, यौवन, शृंगार, हाव भाव, कटाक्ष. बाह्य चेष्टाएँ आदि के चतुर चितेरे थे। उनकी वृत्ति नायिका के संयोग शृंगार वर्णन मे जितनी रमी है, उतनी वियोग शृंगार वर्णन में नही, इसीलिये बिहारी की नायिका के विरह वर्णन अतिरंजना से आक्रांत, अस्वाभाविक और किसी सीमा तक हास्यास्पद तक हो गये है। विरह में उनकी नायिका का साँसों के हिंडोले पर झूलना इसका अच्छा प्रमाण है।[२]

यद्यपि बिहारी सतसई में निरूपित नायक-नायिका भेद काव्यशास्त्रानुमोदित है, फिर भी यदि बिहारी की नायिका को कामशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो वह कोमलांगी, सहज सौन्दर्य सम्पन्न, साज शृंगार समलंकृता, यौवन श्री विभूषिता पद्मिनी नायिका ही प्रतीत होती है। इस मत के समर्थन में बिहारी सतसई के कुछ दोहे दिए जाते हैं :

लिखन बैठि जाकी छबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥
तन भूषन, अंजन दृगनि, पगन महावर-रंग।
नहि सोभा कौ साजियत, कहिबे ही कौं अंग॥
मानहु बिधि तन-अच्छ-छबि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग-पग पोंछन कौं किये, भूषन पायंदाज॥
पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहि हेत।
दरपन के से मोरचे देह दिखाई देत।

अंग अंग छवि की लपट, उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ, लगै भरी सी देह।।
कहा कुसुम कह कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखैं, आँख ऊजरी होति।।
बरन बास सुकुमारता, सब बिधि रही समाय।
पँखुरी लगी गुलाब की, गात न जानी जाय।।
अरुन बरन, तरुनी-चरन-अँगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरंग रंग सो मनौ, चपि बिछुवन के भार।।
भूषन-भार सँभारिहै क्यों इहि तन सुकुमार।
सूधे पाय न धर परत, सोभा ही कें भार।।
रससिंगार मंजन किये, कंजन-भंजन-देन।
अंजन-रजन हू बिना, खंजन-गंजन नैन।।
बेदी भाल, तँबोल मुह, सीस सिलसिले बार।
दृग आँजे राजै खरी, एई सहज सिंगार।।

बिहारी सतसई मे कामशास्त्र की दृष्टि से शंखिनी, चित्रिणी और हस्तिनी के वर्णन नही मिलते। अपनी नायिका की मांसलता, ऐन्द्रिकला, रूपछटा, शृंगार, भाव, गुण, लक्षण और कार्य-व्यापारों के वर्णन में बिहारी ने कहीं-कहीं मन की कुण्ठाओं और असामाजिक प्रवृत्तियों का भी परिचय दे डाला है। यथा :

सहज सचिक्कन स्याम रुचि, सुचि, सुगन्ध सुकुमार।
गनत न मन पथ अपथ लखि, बिथुरे सुथरे बार।।

नायिका के बिखरे-सुथरे बालों को देखकर नायक मन के पथ-अपथ की चिन्ता छोड़[3] एकदम नायिका की ओर खिंच जाना मर्यादा के प्रतिकूल है, किन्तु बिहारी द्वारा इस प्रकार की भाव व्यंजना तदयुगीन दरबारी साहित्य और सामन्ती भोगवादी प्रवृत्ति के उन पर पड़े हुए क्षयिष्णु प्रभाव का फल है। इसे स्वीकार करने में हमें किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिये।

नायक-नायिका भेद विषयक साहित्य की परम्परा, बिहारी की नायिका का स्वरूप, तदयुगीन दरबारी साहित्य और सामन्ती प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में बिहारी सतसई में विवेचित जो नायक-नायिका भेद पाया जाता है वह इस प्रकार है :

शास्त्रीय दृष्टि से नायिकाओं के तीन प्रमुख वर्ग किये जा सकते हैं—(१) स्वकीया, (२) परकीया, और (३) साधारणी या सामान्या नायिका। कामवासना की प्रवृत्ति और प्रिय-मिलन की उत्कण्ठा की तीव्रता के अनुसार स्वकीया में काम-रुचि और उत्कण्ठा समान रूप से पाई जाती है सामाजिक संकोच और भय से

मुक्त वातावरण में नायक उसके साथ स्वच्छन्दतापूर्वक विहार कर सकता है। काम-शास्त्र, शृंगार शास्त्र और धार्मिक मान्यता के अनुसार यह स्वकीया प्रधानरस की नायिका बनने मे सक्षम होती है, अत. नायिका के समस्त भेदोपभेदो मे स्वकीया सर्वश्रेष्ठ नायिका होती है। परकीया मे काम की प्रवृत्ति और मिलन की उत्कण्ठा तो समान रूप से पाई जाती है, किन्तु नायक सामाजिक संकोच के कारण भय-मुक्त वातावरण मे उसके साथ स्वच्छन्दतापूर्वक विहार नही कर सकता, अतः जिस नायिका के साथ विहार करने में उत्कण्ठा और सकोच मे द्वन्द्व हो, उसे परकीया नायिका कहा जाता है। परकीया के भी दो भेद होते है—(१) कन्या और (२) प्रौढा। इन दोनो मे कामवासना और उत्कठा समान रूप से हो सकती है, किन्तु कन्या सामान्यतः रतिकला से अनभिज्ञ होती है, वह कालान्तर मे विवाह की समाजिक स्वीकृति पाकर स्वकीया भी हो सकती है, परन्तु प्रौढा कामकला विशारदा होती है अतः नायक के साथ उसका प्रच्छन्न संभोग ही संभव होता है। साधारणी नायिका को सामान्या या वेश्या भी कहा जाता है। इसमें न तो मिलन की उत्कंठा होती है और न उससे मिलन में सामाजिक संकोच या भय का भाव ही रहता है। समाज और धर्म की दृष्टि से यह निकृष्ट नायिका है।

(१) स्वकीया :

वय-विचार की दृष्टि से स्वकीया नायिका के तीन भेद होते है—(१) मुग्धा, (२) मध्या और (३) प्रौढ़ा। महापात्र विश्वनाथ ने स्वकीया मुग्धा की पाँच विशेषताएँ बताई है, जिनके अनुसार उसमे यौवन का प्रथम आगमन, काम का प्रथम संचार, रति में वामाचरण, मान में मृदुता एवम् लज्जा का आधिक्य पाया जाता है। बिहारी सतसई मे स्वकीया मुग्धा की पाँचों अवस्थाएँ पाई जाती हैं :

(क) यौवनागम : नहिं पराग नहि मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सो बन्ध्यौ, आगे कौन हवाल॥
देह दुलहिया की बढे, ज्यौं ज्यौ जोबन-जोति।
त्यौ त्यौ लखि सौत्यैं सबै, बदन-मलिन दुति होति॥

यौवन के विकास के साथ ही साथ शारीरिक कान्ति वृद्धिगत होती है। वयः सन्धि भी इसी के अन्तर्गत आती है :

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौं जोबन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता-रंग॥

(ख) काम का प्रथम संचार :

काम का संचार होते ही :

औरे ओप कनीनिकनि, गनी घनी-सिरताज।
मनी धनी के नेह की बनी छनी पट-लाज

(ग) रति मे वामाचरण :

काम के प्रथम सचार के साथ ही नायिका की आँखों मे कान्ति छाना, उसक लज्जित होना, नाक मोडना, नाही करना, निहोरे लेना, प्रिय द्वारा दिये गये पान को मुख में लेने से बचने की चेष्टा करना आदि वामाचरण है :

नाक मोरि नाही करै, नारि निहोरें लेइ।
छुवत ओठ पिय आँगुरिन, बिरी बदन प्यौ देइ ।।

(घ) मान मृदुता :

मुग्धा का मान कठोर नही मृदु होता है, अत वह दीर्घजीवी नही होता :

मोहि लजावत निलज ये, हुलसि मिलत सब गात।
भानु-उदै की ओस लौं, मान न जान्यौ जात ।।

(ङ) लज्जाधिक्य :

लज्जा का आधिक्य मुग्धा का स्वभावगत गुण है, जो उत्कण्ठा और मिलन मे प्राय प्रकट होता है। यथा :

समरस-समर-सकोच-बस-बिबस न ठिक ठहराय।
फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति, दुरि दुरि उझकति जाय।

केवल शरीर विज्ञान ही नहीं, मनोविज्ञान और कामशास्त्र की दृष्टि से वयः सन्धि का काल मनुष्य के जीवन मे भाव, विचार और कार्य व्यापारो मे बड़ा संक्रमण उपस्थित करता है। जब नायिका के शरीर मे यौवनागम प्रारम्भ हो जाता है, तब उसके स्वभाव में संकोच, शीलता आदि पाये जाते हैं। मना करने पर हठ करना उसकी किशोरावस्था के चापल्य का लक्षण है और चलते समय कटि में लचक आना यौवनागम का संकेत है। बिहारी के शब्दो मे इस प्रकार की अज्ञात यौवना नायिका का रूप देखिए :

बरजैं दूनी हठ चढ़े, ना सकुचै न सकाय।
टूटति कटि दुमची मचक, लचकि लचकि बचि जाय।

यही अज्ञात यौवना नायिका यौवनागम पर एतद्व्यंजक शारीरिक परिवर्तनो से परिचित हो उन्हे एकान्त मे देखती है और आयु के साथ-साथ होने वाले शारीरिक परिवर्तन के प्रति सजग हो जाती है। तब उसे ज्ञात यौवना नायिका कहते हैं। बिहारी ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है :

छपि छपि देखति कुचनि-तन कर सो अँगिया टारि।
नैन में निरखति रहै, भई अनोखी नारि ।।

जब ज्ञात यौवना नायिका कुछ दिन नायक के साथ उसके निकट सम्पर्क में रहती है तब उसकी झिझक कुछ कम हो जाती है ऐसी स्थिति में उसे नवोढा

नायिका कहा जाता है। नवोढ़ा में विश्रम्भ का पदार्पण होते ही वह विश्रब्ध नवोढ़ कहलाती है। बिहारी सतसई मे इनके वर्णन इस प्रकार मिलते हैं :

नवोढ़ा :

मानहु मुह दिखरावनी दुहिनि करि अनुराग।
सास सदन मन लल हूँ, सौतिन दियौ सुहाग।।

विश्रब्ध नवोढ़ा :

हँसि ओठन बिच कर उचै, किये निचौहैं नैन।
खरै अरैं पिय कै प्रिया लगी बिरी मुख दैन।।

मध्या :

मुग्धा में लज्जाधिक्य के कारण उत्कण्ठा का पूर्ण प्रस्फुरण नहीं हो पाता, किन्तु यौवन के क्रमिक विकास से जब उसकी उत्कंठा और लज्जा-भावना समान स्तर पर पहुँच जाती हैं तब वह मध्या नायिका कहलाती है। मध्या नायिका अपने यौवन-जनित अंगो के विकास की पूर्णता, लावण्य की मधुरिमा और उत्कण्ठा की तीव्रता का प्रदर्शन करती है। यथा :

दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी सारी सेत।
कवि-आँकन के अर्थ लौं, प्रगट दिखाई देत।।
भई जु छबि तन बसन मिलि बरनि सकै सु न बैन।
आँग-ओप आँगी दुरी, आँगी आँग दुरै न।।
गड़ी कुटुम की भीर में रही बैठि दै पीठि।
तऊ पलक परि जात इत, सलज हँसौहीं दीठि।।

कुटुम्ब की भीड में गडी हुई और प्रिय की ओर पीठ करके बैठी हुई नायिका की उत्कंठा का अतिरेक हँसौही दीठि मे प्रकट होना और उसका नायक से दृष्टि समागम करना मध्या के सहज कार्य हैं। मुग्धा के वचन, चेष्टा, कार्यों और प्रेम-व्यंजना में ज्यों-ज्यों प्रगल्भता आती जाती हैं, वह प्रौढा होने लगती है। प्रिय के समागम की इच्छा से नीद का बहाना बनाकर सखियों को विदा करना या रतिसुख के बाद अधखुले नेत्रों से नायक के गले लगना उसके प्रौढ होने के लक्षण हैं। उदाहरणार्थ बिहारी सतसई के दो दोहे यहाँ उद्धृत किए जाते हैं।

झुकि झुकि झपकौहैं पलनु, फिरि फिरि जुरि जमुहाइ।
बीदि पियागम नींद मिस, दीं सब सखी उठाइ।।
लहि रति सुख लगियै हियै, लखी लजौंही नीठि।
खुलति न मो मन बँधि रही वहै अधखुली दीठि।।

प्रौढ़ा :

प्रौढ़ा नायिका में यौवन का चरम विकास अंगप्रत्यंग मे दिखाई देता है :

लगी अनलगी सी जु विधि, करी खरी कटि खीन ।
कए मनौ वै ही कसर, कुच नितम्ब अति पीन ।।

यौवनोन्माद मे उसके नेत्र लाज के बंधन में बँध नही पाते :

लाज लगाम न मानही, नैना मो मन नाहि ।
ये मुँह जोर तुरंग लो, ऐंचत हू चलि जाहि ।।

प्रिय मिलन की उत्कण्ठा के आधिक्य से वह लोकलाज, गुरुजनों की चिन्ता, या वक्ताव्यावक्तव्य की भी चिन्ता नही करती । बिहारी के शब्दों मे प्रौढ़ा का यह रूप इस प्रकार दिया गया है :

तजी संक, सकुचति न चित, बोलति बाक कुबाक ।
दिन छिनदा छाकी रहति, छुटतु न छिन छवि छाक ।।

प्रोढ़ा की क्रीडाएँ स्वच्छन्द और संभाषण एक दम निस्संकोच होते है। उसके कथनों में उपालम्भ, वक्रोक्ति, आदि के कारण जो वाग्वैदग्ध्य उत्पन्न होता है, उसमें विब्बोक का आधिक्य होता है । यथा :

स्वच्छंद क्रीड़ाएँ :

छिनक चलति, ठिठुकति छिनक, भुज प्रीतम गल डारि ।
चढ़ी अटा देखत घटा, बिज्जु छटा सी नारि ।।

निस्संकोच संभाषण :

मोहि दियो, मेरो भयौ, रहत जु मिलि जिय साथ ।
सो मन बाँधि न सौपिये, पिय सौतिन के हाथ ।।

वाग्दवैदग्ध्य :

नेकु उतै उठि बैठिये, कहा रहे गहि गेहु ।
छुटी जाति नहदी छिनकु, महदी सूखन देहु ।।

आयु और स्वभाव के अनुरूप प्रौढ़ा मे काम-भाव का अतिरेक पाया जाता है, जिसका वर्णन करते समय बिहारी ने विपरीत रति आदि के चित्र खींचे हैं। शालीनता के दायरे कुछ दूर होने पर भी बिहारी सतसई से इस प्रकार का एक उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं :

पर्यौ जोरु विपरीत रति, रुपी सुरत रनधीर ।
करति कुलाहल किंकिनी, गह्यो मौन मंजीर ।।

सामन्ती युगों में प्रायः सर्वत्र बहुपत्नी प्रथा, परदारागमन, वेश्यावृत्ति आदि दुर्गुण पाये जाते थे। ये दुर्गुण समाजव्यापी भोगवादी वृत्ति के प्रदेय हैं। इनका

परिणाम नायक नायिका-भेद पर भी पड़ा है। यदि नायक अन्य नायिका से संभोग करता है और उसके इस अपराध का पता मध्या या प्रौढ़ा नायिका को चलता है तो मानसिक प्रतिक्रिया के आधार पर उनके तीन तीन अवान्तर उपभेद किए गये हैं। यथा—धीरा, अधीरा धीरा अधीरा।

मध्या धीरा :

जब मध्या नायिका को अपने प्रिय के पर नारी प्रेम का पता चल जाता है, तब वह प्रिय के अपराध को जानते हुए भी लाक्षणिक उक्ति या वक्र कथनों द्वारा अपना क्रोध प्रकट करती है, इसीलिए वह धीरा है। कभी कभी वह उपहास मय वचन कहकर भी अपना उद्दिष्ट स्पष्ट कर देती है। यथा :

पलनु पीक, अंजन अधर, धरे महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हौ लाल॥

मध्या अधीरा :

प्रिय के अपराध को जानकर जब मध्या के धैर्य का बाँध टूट जाता है, तब वह मध्या अधीरा नायिका कहलाती है। वह परुष वचन द्वारा प्रिय के समक्ष अपना आक्रोश प्रकट करती है। उसकी और प्रौढ़ा की अधीरता मे अन्तर इतना ही है कि मध्या की उक्तियो में प्रौढ़ा की अपेक्षा वाणी का संयम अधिक होता है, अतः उसके बोल अधिक कटु नहीं होते। जैसे :

नखरेखा सोहैं नई, अलसौहैं सब गात।
सौहैं होत न नैन ये, तुम सौहैं कत खात॥
सदन सदन के फिरन की, सद न छुटै हरिराइ।
रुचै जितै विहरत फिरौ, कत विहरत उर आइ॥

मध्या धीरा अधीरा :

यह नायिका न तो धीरा सी गंभीर होती है, न अधीरा सी अधीर हो नायक के प्रति परुष वचन ही कहती है, न वह उसका उपहास ही करती है और न कटु शब्दों से अपना क्रोध व्यक्त करती है। यह केवल चेष्टा और मुद्रा द्वारा मान जताती है :

नहिं नचाइ चितवति दृगनु, नहिं बोलति मुसकाइ।
ज्यों ज्यो रूखी रुख करति, त्यो त्यों चित चिकनाइ॥
हौं हारी करके हहा, पायन पार्‌यौ प्यौर।
लेहु कहा अजहूँ करे, तेह तरेरे त्यौर॥

प्रौढा धीरा :

प्रौढ़ा धीरा अपनी चतुराई से नायक के प्रति अपने क्रोध भाव को छुपाकर उसके प्रति अधिक सम्मान और शिष्ट व्यवहार प्रदर्शित करती है उसके व्यवहार

... नायक के मन पर नायिका की मनोदशा का प्रभाव प्रकट करते हैं। यथा :

करै अमत इठला हठी, उर उपजावति त्रास।
दुसह संक बिस को करै, जैसे सोंठि मिठास ।।

प्रौढ़ा अधीरा :

प्रौढ़ा अधीरा क्रोधातिरेक में कटु शब्दों का प्रयोग करते समय नहीं हिचकती। बिहारी कहते हैं कि :

मार्‌यौ मनुहारिनि भरी, गार्‌यौ खरी मिठाहिं।
वाको अति अनखाइबो, मुस्काहट बिन नाहिं ।।

प्रौढ़ा धीरा अधीरा :

यह न तो मन अपना क्रोध छिपाती है न अधीरा की तरह कटु शब्द बोलती है। वह नायक पर करारे व्यंग्य कसती है और व्यंग्योक्तियों द्वारा अपना आन्तरिक क्षोभ प्रकट कर स्पष्ट शब्दों में नायक के दोषों का वर्णन करती है :

कत लपटइयतु मो गरै, सो न जुही निसि सैन।
जा चम्पक बरनी किए, गुल्लाला रंग नैन ।।
तुरत सुरत कैसे दुरत, मुरत नैन जुरि नीठि।
डौंडी दे गुन रावरे, कहति कनौडी डीठि ।।

२. परकीया

कन्या और प्रौढ़ा, परकीया नायिका के दो भेद होते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि संभावना के आधार पर कन्या स्वकीया भी हो सकती है किन्तु जब तक उसका परिणय नहीं होता तब तक गुरुजनों के आश्रित होने के कारण कन्या परकीया नायिका ही मानी जाती है। इसके साथ सामान्यतः स्वच्छन्दतापूर्वक विहार संभव नहीं होता। कन्याप्रेम धर्म द्वारा वर्जित अतः अनुचित होता है किन्तु यदि वह दाम्पत्य प्रेम में परिणत हो जाय तो उसके दोष का मार्जन हो जाता है। दुष्यन्त और शकुन्तला का गन्धर्व विवाह इसका अच्छा उदाहरण है। यों भी लरिकाई के प्रेम की जड़ें बड़ी गहरी होती हैं। बिहारी ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है :

दोऊ चोर मिहीचनी, खेल न खेलि अघात।
दुरत हिये लपटाइ कै, छुअत हिये लपटात ।।

दाम्पत्य सम्बन्ध के बिना भी कन्या को मिलन-स्पर्श आदि के सुख की रसानुभूति यौवनागम के साथ-साथ होने लगती है। सामान्य कार्यव्यापारों में भी वह हँसकर, मुस्काकर, नैन-समागम द्वारा मन मिलाने की कला में कुशल हो जाती है।

से :

सहित सनेह संकोच सुख, स्वेद कंप मुस्कानि ।
प्रान पानि कर आपने, पान धरे मो पानि ।।
उन हरकी हँसि कै इतै उन सौंपी मुस्काई ।
नैन मिले मन मिलि गये, दोऊ मिलवत गाइ ।।

नायिका के इस प्रेम प्रकरण का यह प्रभाव पड़ा कि :

चलतु घैरु घर-घर तऊ, घरनि न घर ठहराइ ।
समुझि उहीं घर कौ चले, भूलि उहीं घर जाइ ।।

परकीया प्रौढ़ा का प्रेम, लोक और शास्त्र दोनों के द्वारा वर्जित है, फिर भी साहित्य में परकीया का जितना वर्णन हुआ है, उतना स्वकीया का नहीं । कदाचित सावाध होने के कारण परकीया का प्रेम अधिक मादक और आनंदकारी होता है, इसीलिए उसकी साहित्य में अधिक चर्चा हुई है । बिहारी ने परकीया का अत्यन्त अल्प वर्णन किया है । फिर भी उनकी सतसई में इसके प्रमाण हैं ही :

अँगुरिनु ऊँचि भरु भीति दै, उरनि चितै चख लोल ।
रुचि सौं दुहूँ दुहूँन के, चूमे चारु कपोल ।।
देवर फूल हने जु सू, उठे सबे अँग फूलि ।
हँसी करत औषधि सखिनु, देह ददोरनु भूलि ।।

नायिकाएँ स्वभावत: अपने प्रेम रहस्य को गोपनीय रखने मे निपुण होती हैं । अतएव नायिका भेद-निरूपक आचार्यो ने प्रेम रहस्य के आधार पर भी नायिकाओं के अनेक भेद किये हैं । प्रस्तुत निबन्ध की सीमा मे उन समस्त भेदोपभेदों का विवेचन तो संभव नहीं है, फिर भी बिहारी-सतसई के सन्दर्भ में उनमे से प्रमुख भेदों की चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक है ।

(क) जो नायिका अपनी वाणी, चेष्टा और मुद्राओं द्वारा अपने प्रेम-व्यापार तथा तत्सम्बन्धी भाव को छुपाने का यत्न करती है, उसे गुप्ता नायिका कहा जाता है । गुप्ता नायिका के दो उपभेद होते हैं :

(१) भाव गोपना :

जो नायिका प्रेमजनित कंपादि सात्विक भावों को अन्य माध्यम से उत्पन्न बताकर मूल भाव छिपाना चाहे, उसे भाव गोपना कहते हैं । जैसे :

कारे बदन डरावने, कत आवत इहि गेह ।
कै वा लखी सखी लखैं, लगै थरथरी देह ।।

(२) सुरत गोपना :

जो नायिका बहानेबाजी से अपनी सुरति को गोपनीय बनाने का यत्न करती

है, उसे सुरत गोपना नायिका कहा जाता है। बिहारी की सुरत गोपना नायिका का उदाहरण लीजिये :

लटकि लटकि लटकत चलत, डटत मुकुट की छाँह।
चटक भर्‌यौ नट मिलि गयौ, अटक भटक बन माँह ॥

रतिव्यापार में होने वाले विलम्ब को बन में मार्ग भूलने का वहाना, करके छुपाने वाली उक्त नायिका सुरत गोपना है।

(ख) जो नायिका परिस्थितिवश नायक के प्रति अपने अनुराग का परिचय वाणी और क्रिया की सांकेतिकता के द्वारा देती है, उसे विदग्धा नायिका कहते हैं। विदग्धा नायिका कहते हैं। विदग्धा उक्ति-कौशल से या संकेत से अपना प्रेम प्रकट करती है। यथा :

घाम घरीक निवारिये, कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तटहिं तमाल तरन, मिलत मालती कुंज ॥
लखि गुरुजन बिच कमल सौं सीस छुआयो स्याम।
हरि सम्मुख कर आरसी, हियैं लगाई बाम ॥

उक्त दोहे में प्रथम दोहे मे नायिका का उक्तिकौशल से यमुना तट पर नायक से संकेत स्थल पर सुरत का अनुरोध करना तथा दूसरे दोहे मे क्रिया विदग्धा का प्रेम व्यापार द्रष्टव्य है।

(ग) विलक्षिता नायिका भरसक प्रयत्न करने पर भी अपने भाव अपने भाव या सुरत को गोपनीय नहीं रख पाती, अत: विलक्षित हो जाने के कारण वह विलक्षिता कहलाती है :

नाउँ सुनत ही ह्वै गयौ, तन औरे मन और।
दबै नही चित चढि रह्यौ, अबै चढ़ाये त्यौर ॥

(घ) अनेक पुरुषों से रति-सम्बन्ध रखने वाली अनिश्चितैककान्ता नायिका कुलटा कहलाती है। जैसे :

लखि लोने लोयननुके, कोयन होइ न आजु ॥
कौन गरीब निवाजिबौ, को तूठ्यो रति राजु ॥

उक्त दोहे में 'आजु' शब्द कुलटा की नित्य नूतन प्रेम-प्रवृत्ति का संकेत करता है, अत: उक्त दोहे में वर्णित नायिका कुलटा है।

(ङ) अनुशयाना नायिका उस नायिका को कहते हैं, जो संकेत स्थल के नष्ट होने पर, समय पर नायक से न मिल सकने पर या नायक के मिलन की संभावना की समाप्ति पर पश्चाताप करती है। देवर के विवाह मे उसके प्रेम से वंचित होने [illegible] अनुशयाना नायिका की स्थिति देखिये

और सबै हरषी हँसति, गावति भरी उछाह।
तूँ ही बधू बिलखी फिरै, क्यौं देवर के ब्याह।।

स्पष्ट है कि देवर का विवाह हो जाने पर नायिका उसके प्रेम से वंचित हो जायगी, अतः वह दुःखी है। वह अनुशयाना से बिल्कुल विपरीत स्थिति की नायिका संभोग-सुख-प्राप्ति की संभावना से जब प्रसन्न होती है, तब उसे मुदिता कहते हैं :

चलत देत आभास सुनि उहीं परोसिहि नाह।
लसी तमासे की दृगनु, हाँसी आँसुन माँह।।

३—साधारणी :

बिहारी सतसई में साधारणी नायिका या वेश्या का कोई उदाहरण हमारे देखने में नहीं आया। वेश्या का प्रेम, प्रेम के लिए नही धन के लिए होता है, उसकी उत्कंठा भावजन्य न होकर व्यवसाय प्रेरित होती है। अर्थ की काफी खींच-तान के बाद निम्नलिखित दोहा साधारणी से जोडा जा सकता है :

ज्यों ज्यों पटु झटकति हठति, हँसति नचावति नैन।
त्यों त्यों निपट उदारहू, फगुआ देन बनै न।।

साधारणतः फगुआ देने की प्रथा स्वकीया के लिए नही होती। फगुआ निश्चित रूप से परकीया के लिए दिया जाता है, किन्तु उक्त दोहे में वर्णित परकीया का वस्त्र झटकना, हँसना, नेत्र नचाना आदि कुछ कार्यव्यापार ऐसे हैं, जो साधारणी या वेश्या की क्रियाओ से मिलते-जुलते हैं। यो चंचल प्रवृत्ति की नटखट परकीया नायिका मे, उक्त दोहे मे विवेचित नायिका के गुण-धर्म मिल सकते हैं।

नायक के प्रेम के परिमाण के आधार पर भी नायिकाओ के दो भेद किये जाते हैं। जिस नायिका के प्रति नायक का अत्यन्त उत्कंठापूर्ण प्रेम होता है, उसे ज्येष्ठा और जिसके प्रति नायक का अपेक्षाकृत कम प्रेम होता है, उसे कनिष्ठा कहा जाता है। सतसई के एक ही दोहे से उक्त दोनों प्रकार की नायिकाओं के प्रमाण लीजिये :

मिस ही मिस आतप दुसह, दई सबै बहराइ।
चले ललन मन मनभावतिहि तन की छाँह छिपाइ।।

आतप के बहाने टरकाई गई सब नायिकाएँ कनिष्ठा और तन की छाँह में छिपकर चलने वाली नायिका ज्येष्ठा है।

बिहारी ने इस दिशा मे एक मौलिक उद्भावना का परिचय दिया है। उन्होने एक दोहे में दो नायिकाओ को एक ही नायक की समप्रिया होने का संकेत किया है :

आयो मीत विदेस ते, काहू कह्यो पुकारि।
सुनि पुलकीं बिहँसी हँसी, दोऊ दुहुन निहारि ।।

नायक-नायिका भेद और मानव स्वभाव के अनुसार बिहारी का उक्त वर्णन किस सीमा तक सत्य के निकट है ? इसका निर्णय हम रसिक पाठकों पर छोड देना चाहते हैं।

अवस्था-भेद के अनुसार भी नायिकाओं के नौ भेद होते है, जिन सबके उदाहरण बिहारी सतसई में बडी सतर्कता से गूँथे हुए मिलते हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

१—स्वाधीनपतिका :

जिस नायिका का पति अन्यत्र अनासक्त होकर केवल अपनी ही नायिका के अधीन रहता है, उसी के शृंगार मे रुचि लेता है तथा उसी के ही सान्निध्य मे नित्य रहना चाहता है, उसे स्वाधीनपतिका नायिका कहते हैं। बिहारी की स्वाधीनपतिका नायिका की अकड देखिए :

कियौ जु चिबुक उठाइ कै, कम्पित कर भरतार।
टेढ़ीये टेढ़ी फिरति, टेढे तिलक लिलार ।।

२—कृष्णाभिसारिका :

अँधेरे में काले वस्त्र धारण कर प्रच्छन्न रूप से प्रिय समागम के लिए संकेत-स्थल पर जाने वाली नायिका को कृष्णाभिसारिका कहते हैं :

निसि अँधियारी नील पट, पहिरि चली पिय गेह।
कहौ दुराई क्यो दुरै, दीपशिखा सी देह ।।

३—शुक्लाभिसारिका :

चाँदनी रात्रि मे शुभ्र वस्त्र धारण कर जो नायिका प्रिय से अभिसार करने के लिए जाती है, उसे शुक्लाभिसारिका नायिका कहते हैं। बिहारी ने इसके वर्णन में अतिशयोक्ति की सीमा छू ली है :

जुबति जोन्ह में मिलि गई, नैकु न होति लखाइ।
सौंधे के डोरैं लगी, अली चली सँग जाइ ।।

नायिका का चाँदनी मे अदृश्य होना बिहारी की नाजुक ख्यालों का अच्छा प्रमाण है। अभिसार के क्षेत्र मे बिहारी ने नायक-नायिका मिलन की एक नई पद्धति भी ईजाद की है। जिसके अनुसार नायक-नायिका वेष परिवर्तन कर दाम्पत्य रति का सुख लूटते हैं। इसका प्रमाण है :

राधा हरि, हरि राधिका, बनि आए संकेत ।
दम्पति रति विपरीत सुख, सहज सुरत हूँ लेत ।।

४—कलहान्तरिता :

प्रणय के समय कलह हो जाने के कारण जब नायिका रूठ जाती है और नायक से कलह करती है, तब उसे कलहान्तरिता कहते है । सखियाँ ऐसी नायिका को प्रिय से मिलाने का हर सभव उद्यम करती है । यथा :

सौंहे हू हेर्‌यौ न तैं, केती द्याई सौंह ।
ए हो क्यौं बैठी किये, ऐंठी ग्वैंठी भौंह ।।
हम हारी कै कै हहा, पायनु पार्‌यौ प्यौर ।
लेहु कहा अजहूँ किये, नेह तरेरे त्यौर ।।

५—वासक सज्जा :

प्रियतम की प्रतीक्षा मे साज-शृंगार-सुसज्जिता नायिका वासक सज्जा कहलाती है :

बेंदी भाल तँबोल मुख, सीस सिलसिले बार ।
दृग आँजे राजै खरी, एई सहज सिंगार ।।

६—विप्रलब्धा :

जब नायिका संकेत स्थान पर पहुँचने पर भी नायक को नही पाती तब उसे विप्रलब्धा कहते हैं :

साहस करि कुंजन गई, लख्यौ न नन्दकिशोर ।
दीपशिखा सी थरहरी, लगै बयार झकोर ।।

७—विरहोत्कंठिता :

रात भर प्रतीक्षा करने पर भी जब प्रातःकाल तक नायक नहीं आता और नायिका विरह वेदना से अत्यन्त उद्विग्न हो जाती है, तब उसे विरहोत्कंठिता नायिका कहते हैं :

नभ लाली चाली निशा, चटकाली धुनि कीन ।
रति पाली आली अनत, आये बनमाली न ।।

८—खंडिता :

जब कोई नायक अन्य नायिका से संभोग कर उसके संभोग-चिन्ह धारण किए हुए अपनी नायिका के पास पहुँचता है, तब उस नायिका को खंडित कहते हैं । खंडिता के वर्णन में नायक के अन्य नायिका-संभोग-चिन्हों का वर्णन भी समाविष्ट होता है । जैसे :

पावक सो नैनन लगै, जावक लग्यो जु भाल ।
मुकुर होहुगे नैकु में, मुकुर विलोकहु लाल ।।

९—प्रोषित पतिका :

प्रवासी पति की विरहिणी नायिका प्रोषित पतिका कही जाती है। इसके तीन भेद होते हैं :

(क) प्रवत्स्यत्पतिका :

जिस नायिका का पति परदेश जाने वाला है और उसके प्रवास की कल्पना से नायिका को विरह भासमान हो रहा है, उसे प्रवत्स्यत्पतिका नायिका कहते हैं :

रहि हैं चंचल प्रान ए, कहि कौन की अगोट।
ललन चलन की चित्त धरी, कल न पलनु की ओट ।।

(ख) प्रवसत्पतिका :

जब नायिका घर में और नायक परदेश मे हो तब विरहिन नायिका को प्रवसत्पतिका नायिका कहा जाता है :

कागद पै लिखत न बनै, कहत सदेस लजात।
कहिहै सब तेरो हियौ, मेरे हिय की बात ।।

प्रवसत्पतिका का विरह पाचाली के चीर सा लम्बा होता है :

रह्यौ ऐंचि अंत न लहै, अवधि दुसासन बीर।
आली बाढत विरह ज्यौं, पाचाली को चीर ।।

(ग) आगत पतिका :

जिस नायिका का पति परदेश से लौट तो आया हो किन्तु घर में आने पर भी उसका नायिका से मिलन न हुआ हो, उसे आगत पतिका नायिका कहते हैं। ऐसे अवसर पर सुदीर्घ विरह के अन्त की कामना और मिलन की अदम्य आकांक्षा के कारण आगत पतिका को एक-एक पल ब्रह्मा के एक-एक पल सा लगता है :

गहे बरोठे में मिलत, पिय प्राननु के इंसु।
आवत आवत ही भई, विधि की घरी घरी सु ।।

भानुदत्त ने रसमंजरी में नायिका की दशा-भेद के अनुसार उनके तीन भेद किए हैं : (१) अन्य संभोग दुःखिता, (२) गर्विता और (३) मानवती। बिहारी सतसई मे इन तीनों प्रकार की नायिकाओ के विधिवत् विवरण और प्रमाण उपलब्ध होते हैं :

१—अन्य संभोग दुःखिता :

जब कोई भी नायिका अपनी सखी, दूती या सपत्नी के अंगों पर सुरतचिन्ह देख उसे नायक द्वारा संभुक्त समझकर दुखी होती है तब उसे अन्य संभोग दुःखिता

कहा जाता है। यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि खंडिता में नायक के शरीर पर सुरत चिन्ह दिखाई देते हैं, जबकि अन्य संभोग दुःखिता नायिका के वर्णन में नायिका के समक्ष सुरतचिन्ह धारिणी दूती या अन्य नायिका जाती है। यथा :

खलित वचन अधखुलित दृग, ललित स्वेदकन जोति ।
अरुन बदन छबि मदन की, खरी छबीली होति ।।

उक्त दोहे में लब्ध सुरतानंदा दूती के अधखुले दृग, प्रस्वेद कण, मुख पर चुम्बन के फलस्वरूप दन्त चिन्ह देखकर तथा उसके स्खलित वचन सुनकर उपालंभ देने वाली नायिका अन्य संभोग दुःखिता है।

२—गर्विता :

जब कोई नायिका अपने प्रेम, सुरत, गुण आदि पर गर्व करती है, तब वह गर्विता कहलाती है। विस्तार भय से बिहारी सतसई से इनके कतिपय उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा :

(अ) प्रेम गर्विता :

औरे गति, औरे वचन, भयौ बदन रंग और ।
द्यौसक तैं पिय चित चढ़ी, कहैं चढ़ेऊ त्यौर ।।

(ब) सुरत गर्विता :

तीज परब सौतिनु सजे, भूषत बसन सरीर ।
सबै मरगजे मुंह करी, उहै मरगजे चीर ।।

(स) गुण गर्विता :

सुघर सौति बस नाह सुनि, दुलहिहि अधिक हुलास ।
लखी सखी तन दीठि करि, सगरब, सलज, सहास ।।

३—मानवती :

मान करने वाली नायिका मानवती कहलाती है।

गह्यौ अबोलो बोलि प्यौ, आपुहि पठे बसीठि ।
दीठि चुराई दुहुन की, लखि सकुचौंही दीठि ।।

दूती प्रकरण

दूती प्रकरण नायिका भेद का आनुषंगिक विषय है। नायक-नायिका के पारस्परिक मिलन, प्रेम के प्रसार तथा प्रेम-प्रणिय में दूती का महत्व निस्संदिग्ध है, क्योंकि यह [illegible] के अन्तर में प्रेम [illegible] उसे सुरक्षित रखती है, उनके

मिलन के लिये संकेत-स्थल का निश्चय, मिलन का आयोजन, मान की दशा में नायक नायिका मे सद्भाव और आकर्षण बढ़ाकर उनका पुनर्मिलन कराती है। नायक के समक्ष नायिका की प्रशसा कर उसके मन को नायिका की ओर आकृष्ट करती है :

बरजीते सर मैंन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनान तें, हरि नीके ये नैन ।।

और नायिका के समक्ष नायक के रूप-गुण का बखान कर उसके प्रति नायिक के मन में रुझान पैदा करती है :

मकराकृत गोपाल के, कुन्डल सोहत कान।
धस्यो मनहुँ हिय घर समर, ड्यौढ़ी लसत निसान ।।

भ्रम और मान की अवस्था मे दूती नायिका की गलतफ़हमी दूर कर उसे समझाती है :

तेह तरेर्‌यो त्यौर करि, कत करियत दृग लोल।
लीक नही यह पीक की, श्रुति मनि झलक कपोल ।।

नायिका के मान की कटुता को वह समझा-बुझाकर मृदुता में बदलने की चेष्टा करती है :

चलौ चलैं, छुटि जायगो, हठ रावरैं संकोच।
खरे चढ़ाए हेति अब, आए लोचन लोच ।।

किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी दूती नायक-नायिका के मध्य उसके प्रेम की गोपनीयता जानने के कारण वांछनीय नहीं है। दूतियो के सन्दर्भ मे साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने सखी, नटी, धायपुत्री, पड़ोसिन, सन्यासिनी, शिल्पकार की स्त्री आदि के नाम गिनाए हैं, पर इन सबकी अपेक्षा नायिका का स्वयं दूतिका होना श्रेयस्कर है। बिहारी ने नायक-नायिका के मिलन के लिए दूती का महत्व तो स्वीकार किया है, किन्तु प्रेम-सम्बन्ध होते ही वे दूती को टालना जरूरी समझते हैं :

कालबूत दूती बिना, जुरै न और उपाइ।
फिर ताकैं टारै बनैं, पाकैं प्रेम लदाइ ।।

अपनी इच्छा को स्वयं प्रेषित करने वाली नायिका स्वयं दूतिका कहलाती है। जैसे :

घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीरनि तमाल तरु, मिलत मालती कुंज ।।

उक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बिहारी

सतसई नायिका-वर्णन-प्रधान काव्य है और उसमें शास्त्र-वर्णित प्रायः सभी प्रकार की नायिकाओं के उदाहरण प्राप्त हैं। बिहारी पर यह युग प्रचलित नारी-भावना और परम्परित नायिका-भेद का प्रभाव माना जाना चाहिये।

खोज करने पर बिहारी सतसई में काव्य-शास्त्र सम्मत नायक भेद के भी उदाहरण मिल जाते हैं। काव्य-शास्त्रियो ने नायकों के चार भेद किये हैं। (१) दक्षिण, (२) अनुकूल, (३) शठ और (४) धृष्ट। बिहारी सतसई में इनका परिचय इस प्रकार मिलता है।

(१) दक्षिण नायक :

एक नायिका की अपेक्षा जो अन्य नायिकाओ से भी प्रेम सम्बन्ध रखता है, उसे दक्षिण नायक कहते है। जैसे :

आयो मीत बिदेस तैं, काहू कह्यौ पुकारि।
सुनि पुलकी बिहँसी हँसी, दोऊ दुहुन निहारि।।

दो नायिकाओ का प्रेमी दक्षिण नायक है।

(२) अनुकूल नायक :

यह केवल एक पत्नीव्रती होता है, अतः उसका अनुराग एक ही नायिका पर केन्द्रित रहता है उसकी यह विशेषता होती है कि :

राति द्यौस हौंसे रहै, मानु न ठिक ठहराइ।
जेतो औगुन ढूँढिये, गुनै हाथ परि जाइ।।

अनुकूल नायक में चरित्र और प्रेमनिष्ठा विषयक दोष खोजने पर भी नहीं मिलते।

(३) शठ नायक :

जब नायक वास्तविक अनुराग एक से और उसका दिखावा किसी अन्य नायिका के सामने करता है तब वह शठ नायक कहलाता है। बिहारी ने शठ नायक का वर्णन करते हुए लिखा है कि किसी अन्य प्रेमिका का छल्ला (अँगूठी) कनिष्ठका अँगुली में पहनकर जब शठ अपनी मानिनी नायिका को मनाने आता है, तब वह बड़ी चतुराई से कहती है कि :

आये आपु भली करी, मेटन मान मरोर।
दूरि करौ यह देखि है, छला छिगुनिया छोर।

(४) धृष्ट नायक :

जो नायक अपराध करने पर भी शंकित न हो, दोष सिद्ध होने पर भी बहाने—

बाजी करे, नायिका से गाली या मार खाने पर भी लज्जित न हो, ऐसे मानापमान से ऊपर उठे हुए 'सिद्ध पुरुष' को धृष्ट नायक कहा जाता है। यथा :

मार्‌यौ मनुहारौं भरी, गार्‌यौ खरी मिठाहिं।
वाको अति अनखाइबो, मुसुकाहट बिन नाहिं।

इस प्रकार बिहारी-सतसई मे नायक-नायिका भेद का सर्वांगीण विवेचन उपलब्ध होता है। जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है—बिहारी का नायक-नायिका-भेद विषयक ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म, व्यापक और शास्त्रीय था। उन्होंने रीति-परम्परा के ग्रन्थों का गहन अध्ययन, मनन, चिंतन और अनुशीलन किया था। इसीलिए उनके दोहों मे नायक-नायिकाओ के भेदोपभेद, उनके हावभाव, नख-शिख वर्णन, अलंकार, गुण, दोष आदि का विधिवत वर्णन मिल जाता है। दोहे जैसे अल्पाकार छंद में अनेक भाव, क्रिया, चेष्टा आदि एक साथ गुम्फित होने के कारण ही रसिकों में यह उक्ति चल पड़ी है, कि "सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर। देखन मे छोटे लगें, घाव करें गम्भीर।" जो हो इतना स्पष्ट है कि सतसई के भाव-सौन्दर्य को देखने के लिए द्रष्टा की योग्यता और ग्राहकता अनिवार्य है।

संदर्भ-संकेत

१—देखिए—चिन्तामणि कृत कवि कुल कल्पतरु, तोष कृत सुधानिधि, महाराज जसवन्त सिंह कृत भाषा भूषण, मतिराम का रसराज, कुमारमणि का रसिक रसाल, देव कृत भाव-विलास, रस विलास, भवानी विलास, सुखसागर तरंग, सोमनाथ का रसपीयूष निधि, गुलामनबी रसलीन का रस-प्रबोध, आचार्य भिखारीदास का शृंगार-निर्णय, पद्माकर का जगद्विनोद, बेनी प्रवीन कृत नवरस तरंग, प्रतापसाहि कृत व्यंग्यार्थ-कौमुदी आदि।

इनमें भी चिन्तामणि कृत कविकुल कल्पतरु, जसवन्त सिंह कृत भाषा भूषण, मतिराम कृत रसराज और कुमारमणि कृत रसिक रसाल, भानु मिश्र की रसमंजरी से प्रभावित रचनाएँ हैं।

२— इत आवति चलि जात उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरें सी रहै, लगी उसासनि साथ॥

३— मन का पथ-अपथ की चिन्ता छोड़ना, स्वकीया नायकिा के प्रसंग मे में नही, अपितु परकीया के प्रसंग में सम्भव है जो परनारी प्रेम के रूप मे एक असामाजिक भावना को जन्म देता है — लेखक

बिहारी के काव्य में प्रकृति

● शत्रुघ्न

मनुष्य सौन्दर्य प्रिय होता है। इस सौन्दर्य प्रियता के कारण वह सर्वत्र सौन्दर्य की खोज करता रहता है और सौन्दर्य सृष्टि करना चाहता है। डॉ० रघुवंश के अनुसार "प्रकृति मे विशाल व्यापक सौन्दर्य है और काव्य सौन्दर्य का क्षेत्र है।"[1] डॉ० किरण कुमारी गुप्त की दृष्टि में "प्रकृति वैज्ञानिक और कवि दोनो की आस्था है। दोनो ही उसमें निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करते है, किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है। वैज्ञानिक प्रकृति के बाह्य रूप का अवलोकन करता और सत्य की खोज मे रहता है परन्तु कवि बाह्य रूप पर मुग्ध होकर भावो का तादात्म्य स्थापित करता है।"[2] इसीलिए वैदिक काल से लेकर आज तक का कवि प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपने काव्य मे एक नये सौन्दर्यलोक की सृष्टि करता रहा है, अपनी सहज मुग्धता का व्यक्त कर रसदशा को प्राप्त हुआ है। उसमें अज्ञात सत्ता का आभास पाया है, अपने भावजगत से तादात्म्य स्थापित कर अपने हर्ष, शोक-क्रोध आदि की छाया देखी है, अपने भावो को उद्दीप्त होते देखा है और प्रकृति से अलंकारों की उपलब्धि कर उससे पात्रो को अलकृत किया है, अपनी कविता-कामिनी का शृंगार किया है, न उषा और सध्या का सौन्दर्य मलिन हुआ है और न कवि की सौन्दर्य दृष्टि समाप्त हुई है। अतः काव्य और प्रकृति का सम्बन्ध अटूट है।

हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की काव्य-परम्परा को लेकर चली है। संस्कृत-साहित्य मे प्रकृति का चित्रण आलम्बन, उद्दीपन, अप्रस्तुत विधान सभी रूप में हुआ है। परन्तु शृंगारी मुक्तको मे, जिसकी परम्परा मे बिहारी-सतसई की रचना हुई है, प्रकृति का चित्रण उद्दीपन विभाव और अप्रस्तुत विधान के रूप में ही हो सका है। अमरू-शतक, आर्या सप्तशती तथा गीतगोविन्द मे प्रकृति, मात्र रतिभाव को उद्दीप्त करने के लिए प्रयुक्त हुई है। प्राकृत काव्य मे संस्कृत की काव्यरूढ़ियों से स्वतन्त्र होने की चेष्टा की है। गाथा सप्तशती मे ग्रामीण जीवन के चित्रण के साथ प्रकृति का सहज सौन्दर्य भी चित्रित है। अपभ्रंश के अन्तिम चरण मे रचित सदेशरासक प्रकृति के उद्दीपनकारी रूप को ही प्रस्तुत करता है। हिन्दी मे चन्दबरदाई, विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास और केशवदास प्रकृति को मुख्य रूप से उद्दीपन रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति आई है। उपमानों के लिए तो प्रकृति के प्रांगण में ही चक्कर लगाया जाता है। इसके लिए भी राजशेखर ने काव्य मीमांसा में प्रकृति प्रदत्त

उपमानो को इकट्ठा कर दिया है। आगे के कवियो को विशष श्रम करने की जरूरत नही है। ऐसी स्थिति में डॉ० किरण कुमारी गुप्त के अनुसार "रीतिकाल मे प्रकृति का उपयोग उद्दीपन और अलकार रूप मे ही हुआ। स्वतन्त्र प्रकृति के चित्रण का महत्व सर्वथा विलुप्त हो गया। रीतिकाल के आदि कवि केशव ने वन, उपवन, नगर, सरिता आदि के चित्रण के नियम निर्धारित कर दिये थे, जिनके अनुसार कवि अभिलषित प्रकृति चित्रो मे निर्दिष्ट वस्तुओं का उल्लेख मात्र कर देते थे।"[3]

जब आदिकाल और भक्तिकाल में प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण नही हो सका तो रीतिकाल संस्कृत के साहित्य शास्त्र के अनुसार शृंगार को रसराज मानकर प्रकृति चित्रण को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सीमित कर संतुष्ट हो गया। आदिकाल के कवि दरबारी थे। काव्य का सम्बन्ध शृंगार और संघर्ष से था। इसलिए प्रकृति काव्य का विषय नही बन सकी। भक्तिकाल के कवि भगवान् की शरण मे मन्दिर व नदी तट पर रहते थे। लक्ष्य मानव व मानवेतर जगत के सौन्दर्य का चित्रण नही था। लक्ष्य था आराध्य के सौन्दर्य और लीला का चित्रण और उनकी भक्ति। अतः प्रकृति की उपेक्षा स्वाभाविक थी। तथापि कृष्णभक्तो को ब्रज की प्रकृति के निकट रहना था और उनके आराध्य की लीला भूमि भी प्रकृति की रसभूमि थी। इसलिए कृष्ण काव्य मे ब्रज की प्रकृति का पृष्ठभूमि और उद्दीपन रूप में चित्रण हो गया है। रीतिकाल के कवि तो दरबारी ही थे। इनका सम्बन्ध राजसभा, राजलीला और काव्य-शिक्षा से था। अतः यह दरबारी सभ्यता तथा काव्य रूढ़ियों के कवि थे। रीति-निरूपण तथा शृंगारिकता दो ही प्रमुख प्रवृत्तियाँ थी। ये प्रवृत्तियाँ प्रकृति चित्रण को सीमित कर देती हैं।.....बृहत् इतिहास में लिखा है, "रीतिकाव्यों मे, जो संस्कृत के नायिका भेद की परम्परा मे आते हैं, ऋतु वर्णन को उद्दीपन के ही भीतर रक्खा गया है। प्रसग निरपेक्ष ऋतु वर्णन मे उनमे अत्यधिक विरलता है। रीतिबद्ध कवियो ने ऋतुओ के उद्दीपन पक्ष में ही अधिक रुचि दिखाई है।"[४]

बिहारीलाल ने रीतिकाल में अवतरित होकर केशवदास, बलभद्र मिश्र पण्डितराज जगन्नाथ ऐसे आचार्यों का सम्पर्क प्राप्त किया। वैभव एवं विलास से आपूर्ण दरबारो का जीवन जीने का अवसर पाया। अध्ययन क्रम मे शृंगारिक साहित्य का प्रभाव ग्रहण किया। उनकी स्वयं की प्रवृत्ति शृंगार की थी। अतः प्रकृति को उद्दीपन और अप्रस्तुत रूप में ही प्रस्तुत कर सकते थे, यह अस्वाभाविक नही था। तथापि यह बिहारी का वैशिष्ट्य है कि उन्होंने प्रकृति को उद्दीपन रूप मे चित्रित करने के साथ ही आलम्बन रूप में भी प्रस्तुत किया है। रीतिकाल में केवल सेनापति ही प्रकृति चित्रण करने मे सफल हो सके हैं परन्तु बिहारी का प्रकृति चित्रण रूढ़ियों का पालन मात्र नही है। डा० रामसागर त्रिपाठी ने लिखा है कि "बिहारी की अपनी

यह विशेषता है कि उन्होंने प्रकृति के आलम्बन रूप का भी चित्रण किया है और उद्दीपन रूप का भी चित्रण किया है।"[५] आलम्बन रूप के चित्रण में कवि की अनुभूति की तरलता तथा कला की मधुर प्रौढता के दर्शन होते हैं। उद्दीपन रूप के वर्णन मे काव्य रूढ़ियो के प्रभाव के अतिरिक्त नई उद्भावनायें भी हैं। साथ ही फारसी काव्य के प्रभाव से ऊहात्मकता का समावेश भी हुआ है। अप्रस्तुत विधान के लिए अधिकांश उपमान प्रकृति से ही ग्रहण किये गये हैं। नख-शिख वर्णन में प्रकृति से आनीत उपमानो का अधिकाधिक प्रयोग किया गया है। यह तो स्पष्ट ही हो गया है कि भारतीय साहित्य मे नख-शिख वर्णन की परम्परा रही है और इनके उपमानो के लिए प्रकृति के विभिन्न उपकरणो की व्यवस्था कर दी गई है। उसी आधार पर कविगण उपमानो का प्रयोग करते थे। तथापि बिहारी ने उपमानों की कल्पना मे यत्र-तत्र स्वच्छन्दता से काम लिया है। कुछ नयें-नये प्रयोग मिलते हैं। ज्योतिष के ज्ञान ने भी नई उद्भावनाओं में सहायता की है। नीति के दोहो में भी कवि ने प्रकृति का उपयोग कर कुछ कहने की चेष्टा की है। परन्तु तुलसी के समान प्रकृति दर्शन से भटक कर उपदेश नही दिया है। नीति के दोहों में प्रकृति को आधार बनाया है या उपमान रूप मे रक्खा है। साथ ही अन्योक्तियो मे प्रकृति का वर्णन कर बडी प्रभावशाली अभिव्यक्ति की है। दो तीन दोहों मे मानवीकरण का सफल प्रयास है जिसकी ओर समालोचकों की दृष्टि नही गयी थी। डा० राम सागर त्रिपाठी ने पहली बार ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है, "बिहारी को प्रकृति वर्णन के क्षेत्र में सबसे अधिक सफलता मानवीकरण सम्बन्धी दोहो में मिली है। जो विद्वान हिन्दी काव्य मे प्रकृति को मानवीकरण की परम्परा का आरम्भ पाश्चात्य प्रभाव से छायावादी काव्य के उदय के साथ मानते हैं वे बिहारी के इन दोहो को देखें।"[६]

यह सत्य है कि आधुनिक युग के पहले हिन्दी के कवियो ने संस्कृत की परवर्ती काव्य-परम्परा तथा रीतिग्रन्थो के अनुसार प्रकृति का रूढ़िबद्ध वर्णन किया है। उद्दीपन विभाव के रूप मे षड् ऋतु वर्णन की परम्परा को निभाया है। लोकजीवन से प्रेरणा ग्रहण कर बारहमासा की परम्परा को प्रबन्ध-काव्यो मे प्रस्तुत किया है और नख-शिख वर्णन में प्रकृति से आनीत रूढ़ उपमानो को रक्खा है। पर यह तो मानना पडेगा कि षड् ऋतु वर्णन और उपमान सृजन भारत की प्रकृति पर ही आधारित है। अपने देश मे दो-दो मास की एक ऋतु मानी गयी है। वसन्त, ग्रीष्म, पावस, शरद, हेमन्त और शिशिर, प्रत्येक की अपनी विशेषता होती है। विभिन्न ऋतुओं में मनुष्य विशिष्ट अनुभूति से उद्वेलित होता है। मात्र सौन्दर्य की अनुभूति से उद्वेलित हो या अपनी मनः स्थिति के अनुसार, इसी तरह मानव सौन्दर्य के चित्रण में सौन्दर्य के उत्कर्ष के चन्द्र, चाँदनी, उषा, संध्या कमल, कुमुद, हरिण और खंजन को भूल नही पाता

क्योंकि वह तो इन्हीं के साहचर्य मे रहता आया है। पर कवि की निरीक्षण शक्ति स्वानुभूति और कल्पना को कुंठित कर देना ही आचार्यों का आचार्यत्व बन गया। प्रकृति चित्रण की ताजगी और नयी उद्भावना पर प्रतिबिम्ब सा लग गया। कवि समय ने कवि की प्रतिभा एवं रसदृष्टि को बाँध लिया तथापि कुछ कवियों ने परम्परा एवं रूढ़ि के साथ यत्र-तत्र नवीनता को लाने का प्रयास किया है। प्रकृति का सौन्दर्य बँधी हुई प्रणाली से चित्रित नहीं हो सकता। इसका विराट और विशाल सौन्दर्य-क्षेत्र साहित्य शास्त्र में सिमटकर नहीं आ सकता। बिहारीलाल ने अन्य कवियों के समान इस षड्ऋतु वर्णन की प्रणाली को अपनाया है। इसे आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों रूपों मे प्रस्तुत किया है। अप्रस्तुत के लिए भी अधिकांश रूढ़ उपमान ही लिये हैं तथापि कुछ नयी उद्भावनायें हैं। मुस्लिम शासन तथा वातावरण के कारण गुलाब को भी ग्रहण किया है। शृंगारिक प्रवृत्ति के कारण प्रकृति के वर्णन का अधिकांश शृंगार से ही सम्बन्धित है। यह रीतिकाल के प्रकृति चित्रण का अपरिहार्य तथ्य है। इसीलिए वसन्त, पावस और हेमन्त का अधिक वर्णन है क्योंकि ये ऋतुएँ रतिभाव को विशेष रूप से उद्दीप्त करती हैं।

कवि ने आलम्बन रूप में वसन्त, वसन्त-पवन, ग्रीष्म और हेमन्त का वर्णन किया है। दृष्टि सीमित है। षड्ऋतु वर्णन के अन्तर्गत ही प्रकृति विषय बन सकी है। इस सीमा के अन्दर ही प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मरु भूमि में स्थित क्षीण जलधारा के रूप में इस वर्णन की प्रतिष्ठा की जा सकेगी। चार-पाँच दोहों में ही कवि की दृष्टि नायिका से हटकर प्रकृति के सौन्दर्य पर टिक गयी यह कम नहीं है। बिहारी साधुवाद के पात्र हैं। सर्व प्रथम हम वसन्त-वर्णन को देखें।

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर-ठौर झूमत झपत, भौंर-भौंर मधु अंध॥

प्रस्तुत दोहे मे वसन्त का चित्रण कवि की अनुभूति तथा प्रौढ कला के अपूर्व समन्वय का प्रतीक है। आम्र वृक्ष की सुरभिमय मंजरियाँ, मधुर गन्ध से आपूर्ण माधवी लता और मकरन्द पान से मदमत्त मधुपवृन्द का झूमना ये सब मिलकर वसन्त का मादक, सजीव तथा गतिशील चित्र उपस्थित करते है। अलकृति के बोझ से बहुत कुछ मुक्त यह वसन्त वर्णन एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। अब रूपक तथा ध्वन्यात्मकता से प्रभावी बसन्त पवन को देखें

मन्द वसन्त पवन के संचरण काल में भ्रमर गुंजार करते हैं व पुष्पो का मकरन्द झरता है । कवि रूपक बाँधता है कि भ्रमरों का गुंजर घन्टानाद है और मकरन्द के झरते में गजमद का टपकना है । इस तरह हाथी रूपी वसन्त पवन मन्द-मन्द मस्त चाल से आता है, यहाँ भी पवन का मादक और गतिशील चित्रण हुआ है । रूपक से पवन का रूप दबा नही, उभरा है ।

ग्रीष्म के ऐसे तीन वर्णन है जिसमे कवि की काम-दृष्टि का अभाव है । तीनों में ग्रीष्म के भीषण ताप का चित्रण है । एक मे ताप के कारण पशुओ को पारस्परिक अविरोध से तपोवन की कल्पना की गई है । दूसरे मे छाया की आकुलता दिखाकर सूक्ष्म निरीक्षण को प्रस्तुत किया गया है । तीसरे में मरु प्रदेश के ताप का चित्रण कर कुछ और कहा गया है । पहले के सम्बन्ध मे सकेत मिलता है कि कवि ने एक चित्र को देखकर इस दोहे की रचना की है । तथापि इसमें ग्रीष्म के वन्य-जीवन का चमत्कारपूर्ण चित्रण है :

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर, मृग बाघ ।
जगत तपोबन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ।।५६५ ।।

ग्रीष्म के भीषण ताप के कारण परस्पर विरोधी सर्प-मयूर और मृगेन्द-मृग विरोध छोडकर एक स्थान पर एकत्र हो गये हैं, जिससे वह प्रदेश तपोवन बन गया है । दूसरे में छाया की भी आकुलता दिखायी गयी है ज्येष्ठ मास की दुपहर की भीषण तपन के कारण । इसमे मानवीकरण की झलक मिल जाती है ।

बैठ रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माँह ।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाँहौं चाहति छाँह ।। ५६६ ।।

वस्तुत. ज्येष्ठ मास मे दोपहर में वृक्षों की छाया ठीक उनके नीचे ही पडती है । इससे कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का पता चलता है । और तीसरे मे ग्रीष्म की प्यास के निवारण के लिये तरबूजो की खोज की बात कही है । इससे मरु प्रदेश की ग्रीष्मकालीन परिस्थिति का आभास मिल जाता है ।

हेमन्त के वर्णन में कवि ने उपमान के लिए मानव जीवन की विशिष्ट अनुभूति को प्रस्तुत किया है जो कवि के अपने जीवन की अनुभूति ही कही जा सकती है । चूँकि मुख्य वर्णन वस्तुतः प्रकृति का वर्णन है, अत. इससे प्रकृति वर्णन के अन्तर्गत ही रखेंगे । वैसे इसमें ऋतु का नहीं, पौष मास का उल्लेख है जैसे ऊपर के दोहे में ज्येष्ठ मास का परन्तु लाला भगवानदीन ने ऋतु वर्णन के अन्तर्गत ही रखा है । सचमुच बिहारी ने बारह मास वर्णन की प्रणाली को नहीं अपनाया है । मास के

उल्लेख वाले दोहों को ऋतुवर्णन के अन्तर्गत रखा जा सकता है। पौष मास में दिन का मान घट जाता है, दिन का तेज ठंडा हो जाता है। अप्रस्तुत उपमा के लिये जीवन की विशिष्ट अनुभूति पेश है :

आवत जात न जानिये, तेजहिं तजि सियराज।
घरहिं जँवाई लौं घट्यो, खरो पूस दिन मान॥

जैसे ससुराल मे रहने वाले जमाता का मान घट जाता है। (कवि स्वयं ससुराल में बहुत दिनों तक जमा हुआ था--यह ज्ञातव्य है।)

आलम्बन के बाद बिहारी के प्रकृति वर्णन की दूसरी विशेषता मानवीकरण का सफल प्रयास है। इसे पाश्चात्य अलकार माना जाता है। मान्यता है कि पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से छायावाद युग मे कवियो ने इसे अपनाया। परन्तु बिहारी मे इसका सफल प्रयोग देख कर हर्ष पूर्ण आश्चर्य होता है। आधार तो रूपक ही है पर प्रकृति में मानवीय रूप और क्रिया की अभिव्यक्ति रूपक के सामान्य स्वरूप से थोड़ी भिन्न है। ग्रीष्म, शरद और वसन्त पवन को लेकर कवि ने मानवीकरण का सफल प्रयत्न किया है। ग्रीष्म वर्णन में सापह्नवोत्प्रेक्षा के द्वारा ग्रीष्म ऋतु में विरहिणी की कल्पना की है। इस मानवीकरण में रीतिकालीन प्रभाव देखा जा सकता है। तथापि यह प्रकृति का विशुद्ध मानवीकरण है :

नाहिन ये पावक प्रबल, लुवै चलत चहुँपास।
मानहुँ विरह वसन्त के, ग्रीष्म लेत उसास॥ ५६४॥

ग्रीष्म में लू चलती है। कवि कहता है कि ग्रीष्म ऋतु वसन्त के विरह में उसाँसें ले रही है। शरद के मानवीकरण में बिहारी के दरबारी संस्कार ने मदद की है। शरद वीर सम्राट के रूप में प्रस्तुत किया गया है :

घन घेरो छुटिगो हरषि, चली चहूँ दिसि राह।
कियो सुचैनो आप जग, सरद सूर नरनाह॥

शरद सम्राट ने आकर संसार में व्यवस्था कर दी। बादलों का घेरा हट गया। वर्षा-ऋतु समाप्त हो गयी। हर्षित होकर चारो ओर के मार्ग चलने लगे। मार्गों पर पथिक चलने लगे। इस तरह सम्राट की क्रिया-व्यवस्था का सम्पूर्ण आरोपण हो गया, वसन्त पवन के बदले दक्षिण पवन : त्रिविध पवन : कहना उचित है। पथिक की सारी प्रतिक्रिया में स्पष्ट है :

चुवत सेद मकरन्द कन, तरु-तरु तर बिरमाय।
आवत दक्षिण देश ते थक्यो बटोही बाय॥

यह तो निर्विवाद सत्य है कि रीतिकाल ने प्रकृति का उपयोग उद्दीपन के रूप मे किया है। रीतिकालीन बिहारी ने षड्ऋतु-वर्णन उद्दीपन के लिए प्रस्तुत किया है। संयोग हो या वियोग दोनो ही स्थितियों में उद्दीपन की अपेक्षा है। कवि ने दोनों ही स्थितियो में षड्ऋतु का वर्णन किया है। षड्ऋतु के अतिरिक्त कुछ महीनो का भी वर्णन कर दिया है। प्रकृति के स्फुट उपकरण चन्द्र, चाँदनी, सध्या, अधेरी रात, धूप, कोयल, यमुना, मौलश्री की माला, फूल, भ्रमर इत्यादि से भी उद्दीपन को ग्रहण किया है। कदाचित् गाथा-सप्तशती के प्रभाव से ग्रामीण चित्र के रूप मे अरहर के खेत का उद्दीपक रूप उपस्थित किया है। चाँदनी और ग्रीष्म के वर्णन मे ऊहात्मकता आ गयी है। दूर की उड़ाने है जिससे भ्रांति चमत्कार उत्पन्न होता है। वन विहार भी कामोपभोग की दृष्टि से किये गये है। वैसे सम्पूर्ण वर्णन में कामोपभोग की दृष्टि है। यत्र-तत्र स्थूलता-माँसलता का निस्संकोच चित्रण है। संयोग में स्थूलता है और विरह मे ऊहात्मकता है। यह रीतिकाल की अपनी विशेषताएँ हैं। संयोग पक्ष से सम्बन्धित मान और अभिसार का वर्णन प्रमुख है। पर प्रकृति अभिसार में विशेषरूप से सहायक बनी है। इस तरह बिहारी ने उद्दीपन कारिणी प्रकृति का परम्परा मुक्त वर्णन करते हुए कुछ चमत्कार भी उत्पन्न किया है जिसमे स्वाभाविकता नहीं ऊहात्मकता है।

सर्व प्रथम हम संयोग वर्णन में प्रकृति को देखें :

तिय तरसौहैं मन किये, करि सरसौहैं नेह।
धर परसौहैं ह्वै रहे, झर बरसौहैं मेह ।।

वर्षा-ऋतु है। झड़ी बरसाने वाले मेघ पृथ्वी को स्पर्श करने वाले हो रहे हैं। इन्होने पुरुषों के हृदय मे प्रेम को बढ़ाकर मन को स्त्रियो केलिए तरसाने वाला कर दिया है। वर्षा काल में मेघ कितने उद्दीपक हैं इसे कवि ने स्पष्ट कर दिया है। अब शरद् की शक्ति को परखें :

आयो शरद राका ससी, करति न क्यों चित चेत।
मनो मदन छितिपाल को, छाँहगीर छबि देत ।। ३११ ।।

शरद्-पूर्णिमा का चाँद उग आया। मानो पृथ्वीपति कामदेव का छत्र शोभ रहा हो। ऐसे उद्दीपक वातावरण में स्मरण क्यों नहीं करती। कवि ने शरद के चाँद को मदन का छत्र बना दिया जिसकी मादक छाया सभी मे है। ऐसी हालत में वह मान क्यो कर रही है। हेमन्त तथा शिशिर का वर्णन विशुद्ध संभोग शृंगार लिए है। शिशिर का वर्णन तो अश्लीलता की सीमा है। शायद हेमन्त तथा शिशिर के अवि-राम मिलन के बाद वसन्त मे विरह हो गया। इसलिये कवि ने वसन्त का वर्णन विरह

के उद्दीपक के रूप में किया है। हेमन्त के वर्णन में कवि ने सुख-विभावरी को उपस्थित किया है जिसमे दम्पत्ति का सुख बढ़ता है और कवि समय के अनुसार चक्रवाक का शोक बढता है :

ज्यो-ज्यो बढ़ति विभावरी, त्यों-त्यों बढ़त अनंत।
ओक-ओक सब लोक सुख, कोक सोक हेमन्त ।।

और दूसरे दोहे मे बतलाया है कि अगहन मे कामदेव को विश्व-विजय के लिए धनुषबाण धारण नहीं करना पडता। सम्पूर्ण जगत को वह अनायास कामवश कर देता है। तीसरे दोहे के अनुसार हेमन्त ने सबको जुराफा बना दिया है जिससे सभी शृंगार मे निमग्न है। पर पिछडते ही जुराफा की तरह जी नही सकेगे। अर्थात् हेमन्त कामोपासना के लिए सुरक्षित है और शिशिर के सम्बन्ध में कुछ नही कहना हो सब कुछ कह देना है।

ये ऋतुएँ संयोग मे इतना सुख देती हैं तो वियोग मे उन्माद की स्थिति तक पहुँचा देती हैं। बसन्त, ग्रीष्म और पावस वियोग की व्यथा को बढ़ाने ही आते हैं। शरद, हेमन्त तथा शिशिर तो संयोग बेला है। कवि ने इन ऋतुओ को विरह की तड़पन से बचाकर मधुप मिती के लिए सुरक्षित कर लिया है। समय का विभाजन भी सुविचरित है। युग की कामदृष्टि को धन्यवाद है। वैसे वसन्त को छांट देना उचित नही कहा जायगा। लोक जोवन भी इन ऋतुओं को दाम्पत्य जीवन की मधुचर्चा के लिए उपयुक्त समझता है। अस्तु, हम वसंत के प्रभाव को देखे :

दिसि दिसि कुसुमति देखियत, उपवन विपिन समाज।
मनो वियोगिनि कौं किये, सरपंजर रतिराज ।।

सम्पूर्ण दिशाओ मे दिनो और उपवनों में फूल खिलते दिखायी पड़ रहे है। मानों कामदेव ने वियोगियों के लिए प्राणों का पिंजडा बनाया है। अर्थात् वसन्त मे कलियो के प्रस्फुटन को देखकर वियोगियों को वैसा ही कष्ट होता है जैसे सरपंजर मे पड़े योद्धा को प्रत्येक फूल वाण की नोक के समान वियोगी को दुख देगा। वसंत संयोग और वियोग दोनों ही स्थितियो मे उद्दीपन-कर्म्य करता है। कवि ने शृंगार के दोनों पक्षों में वसंत का वर्णन किया है। पर पलाश के लाल फूल तो वियोगिनी को प्रलाप के लिये बाध्य कर देते हैं। वह वियोग कथा से पीड़ित होकर पलाश के लाल फूलों को आग समझ लेती है और :

अंत मरैंगे चलि जरैं, चढ़ि पलास की डार।
फिरि न मरैं मिलिहैं अली, ये निरधूम अंगार ।।

ग्रीष्म के वर्णन मे सखी या नायिका का प्रलाप नहीं है कवि का प्रलाप है तात्पर्य यह है कि कवि की कल्पना ने धरती को छोड़ दिया है, ऊहात्मकता का विलास है। एक मे पडोसियों को विरहिणी के पडोस मे बहुत कष्ट होता है। एक विरह का ताप, ऊपर से ग्रीष्म का। शीत को सह लिया पर ग्रीष्म को सहना कठिन है दूसरे दोहे मे वियोगिनी खस की टट्टी से घिरी रावटी में है, पर ताप से संतप्त है खेद है कि वह युग विज्ञान का युग नही था। पहला उदाहरण परखे :

सौरे जतननि सिसिर रितु, महि विरहिनी तन-ताप।
बसिबे को ग्रीषम दिवनु, परो परोसिन पाप॥

वर्षा ऋतु का पहला बादल ही वियोगी को जलाने के लिए पर्याप्त है। यदि वर्षा की झडी लग जाय तो उसका क्या पूछना। वर्षा की बूँदे रस बरसाने के बदले आग बरसाने लगती हैं। वर्षा काल विरह में कितना उद्दीपक दु:खदायी होता है कि कालीदास का अंतर यक्ष बनकर मेघ से दूत बनने के लिए निवेदन करने लगता है। पर यहाँ तो केवल कथा ही बढ़ती है। बिहारी पहले बादल का वर्णन करते हैं :

धुरवा होंहि न अलि इहै, धुआ धरनि चहुँ कोद।
जारन आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद॥

नायिका सखी से कहती है कि वर्षा ऋतु के पहले दिन का बादल संसार को जलाता हुआ चला आता है। यह उसी का धुआँ पृथ्वी के चारो ओर दीख पडता है, यह मेघ नही हो सकता, और :

पावक झरहै मेह झर दाहक दुसह बिसेखि।
दहै देह वाके परस याहि दृगनु ही देखि॥

अंगारो को झड़ी से मेघ को झडी अधिक दाहक तथा दु:साध्य है। वियोग मे इसे देखते ही संताप बढ़ जाता है। इस तरह कवि ने प्रकृति का उद्दीपन रूप प्रस्तुत किया है। इस राज शृंगार की मदद के लिए प्रकृति सर झुका कर खड़ी है। संयोग में सुख देती है और वियोग मे दुख। महत्व कामोपासना का है, प्रकृति का नही। यह भी सही है कि प्रकृति का उद्दीपक रूप एक सीमा तक मान्य है। बिहारी ने प्रस्तुत विधान के लिए प्रकृति प्रागण से उपकरण ग्रहण किये हैं। अपनी नायिक के प्रत्येक अंग तथा उसकी कामचेष्टा के उपमान के लिए प्रकृति से सामग्री का चयन किया है। आलम्बन तो नायिका ही है। अत उसी को अलंकृत करना है। दो चार दोहो में कृष्ण भी वर्ण्य बन गये है। और कुछ दोहों में अन्योक्तियाँ हैं। अलंकरण सामग्री के चयन का क्षेत्र सीमित है। कारण स्पष्ट है। एक तो वर्ण्य काममूर्ति कामिनी है। दूसरे आचार्यों ने उपमानों को निर्धारित कर दिया है। उसकी एक परम्परा बन गयी थी। तीसरे बिहारी राजसभा का जीवन जीते रहे। चन्द, चादनी, सोनजुही, यमुना, चकोर आदि का स्मरण कर लिया —यह काम नहीं था।

१०

इसके बिना काव्य-रचना ही असम्भव थी। वैसे कवि का दृष्टिकोण बहुत ही ऊँचा है। उसे रूपक बाँध कर कहा है :

गिरि ते ऊँचे रसिक मन, बूडे जहाँ हजार।
वहै सदा पसु नरत कहुं, प्रेम पयोधि पगार।।

रसिक मन की तुलना गिरि से की है वह उससे भी ऊँचा है और प्रेम सागर के समान गहरा है पर उनकी रसिकता मे वह गहराई नही है। इसलिए प्रेमपात्र के चित्रण मे बन्धे-बन्धाये उपमान लाये गये हैं। कुछ नये प्रयोग हैं उनके द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया गया है। डा० नगेन्द्र के अनुसार रीतिकाल के उपमान प्रायः काम विलास के उद्दीपन अथवा उपकरण ही हैं।[1] नायिका की तुलना बेलि (२८७) और चम्पा की माला (२२३) से की गयी है। मुख चन्द्र के समान है (१०१,४२०) दिठौना युक्त मुख तो चन्द्र से भी अधिक सुन्दर है (९९)। व्यतिरेक द्वारा चन्द्र का अपकर्ष दिखाया गया है। कवि ने वय.सन्धि को सक्रान्ति पर्व के समकक्ष रखकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है (२५)। यौवन पर ज्येष्ठ मास को आरोपित किया है (१०५)। और यौवन की आभा की तुलना सोनजुही से कर स्वर्णाभा को स्पष्ट कर दिया है (११८)। नायिका के भाल पर टीका की शोभा ऐसी है मानो सूर्य शशिमण्डल में आकर उसकी छबि बढ़ा रहा है (३९)। तात्पर्य यह कि ललाट शशिमण्डल के समान है और टीका सूर्य के समान। कवि की कल्पना ने असम्भव को सम्भव कर दिया। इसी तरह की कल्पना है कि भाल पर लाल बिन्दी है और केश बिखरे हैं मानो चन्द्र और सूर्य ने मिलकर राहु को पकड लिया है (४२)। नयनो के उपमान युगो से मृग, कमल तथा खंजन रहे हैं। यहाँ कवि ने नयनो के सौन्दर्य के उत्कर्ष के लिए कमल तथा खजन को लज्जित किया है (५०)। और एक नया रूपक है :

खेलन सिखए अलि भलैं चतुर अहेरी मार।
काननचारी नैन मृग नागर नरन, सिकार।

यहाँ नैन मृग नागर नरों का शिकार करते हैं। स्थिति बदल गई है।

इस तरह कवि ने अनेक चमत्कारपूर्ण प्रयोग किये हैं। परम्परित उपमानो मे नवीनता लाई है। कवि समय को बदल दिया है। नाक में नीलम जड़ित लौंग है मानो चम्पा पर भौंरा आ गया हो (८५)। चम्पे पर भ्रमर नही बैठता, पर कवि ने बैठा दिया। और ठोढी पर गोदना है तो कवि उत्प्रेक्षा करता है कि भौंरा गुलाब के फूल मे आ गया है (९५)। सफेद साड़ी में ढंका कर्णफूल ऐसा लग रहा है मानो गंगाजल में प्रभात का सूर्य प्रतिबिम्बित हो रहा है (९२)। इसमें एक ताजगी है। नयी उद्‌भावना है। कवि उरोजों की तुलना गिरिवर से कर पुराने कवियों से काफी

आगे बढ़ गये है। (१०४) और जंघे की तुलना परम्परित रूप मे केले के खम्भ से है (१०६)। कभी सूर्य कर्णफूल से उपमित था, तो कभी पैरो की अंगूठी से (११२)। कवि सन्तुलन खो बैठा है। पर पगतल की लालिमा का वर्णन मनोहर है। जहाँ-जहाँ उसके पग पडते है कि दुपहरिया के फूल खिल जाते है (११३)। दुपहरिया का भी उद्धार हो गया है। और इस प्रकृति से उपमित नख-शिख वर्णन के बाद यदि नायिका का मिलन हो गया, मान टूट गया तो वह मान कैसा है। सूक्ष्म के लिए स्थूल उपमान एक नवीन उपमान है कि वह मान सूर्योदय के बाद की ओस की तरह चला जाता है (४५०)। परन्तु किशोरी के प्रेम मे राजा सब कुछ भूल जाते है तो कवि प्रकृति के उपकरणो से निर्मित अन्योक्ति द्वारा उनको होश मे लाता है। वह प्रसिद्ध दोहा है :

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिकाल।
> अली कली ही सौ बध्यो, आगे कौन हवाल ।।२४८

कवि ने सप्तमशतक में गुलाब को लेकर अन्योक्तियाँ प्रस्तुत की है। मुस्लिम काल में गुलाब को साहित्य मे ग्रहण किया गया। कवि ने समय के प्रभाव को ग्रहण किया। पहले दोहे मे गत यौवना की ओर संकेत गुलाब की कंटीली डार से है। दूसरे मे आशा को संचारित किया है कि इन डालो में फिर से फूल आयेगे। तीसरे मे बडों की भूल की ओर इशारा है कि ईश्वर ने गुलाब मे भी काँटे लगा दिया। चौथे-पाचवे में ग्रामीण जीवन मे गुलाब की उपेक्षा का वर्णन है। इस तरह कवि ने अलकरण के के लिए प्रकृति का उपयोग किया है। प्रायः सभी परम्परित सामग्री ही है। कृष्ण के चित्रण में गुंजा की मात्रा के सम्बन्ध में दावानल की ज्वाला की उत्प्रेक्षा की है और श्याम शरीर पर पीतपट की शोभा देखकर नीलमणि शैल पर प्रभात की धूप को देखा है। कुछ ऐसे प्रकृति चित्रण हैं जिस पर आलोचक मुग्ध होते रहे हैं।

सन्दर्भ संकेत

१—प्रकृति और काव्य : संस्कृत खण्ड : पृष्ठ—३०

२—हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण, पृष्ठ—१५

३—हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण, पृष्ठ—४७८।

४—हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, भाग १, पृष्ठ—२०५।

५—बिहारी मीमांसा, पृष्ठ २५२। (६) वही, पृष्ठ ३२४।

उपर्युक्त उद्धृत दोहों की संख्या लाला भगवानदीन द्वारा सम्पादित पुस्तक के अनुसार है।

बिहारी के भक्ति और नीति परक मुक्तक

● प० परशुराम चतुर्वेदी

अश्रृंगारी बिहारी

हिन्दी के श्रृंगारी कवियो में कविवर बिहारी लाल का स्थान बहुत ऊँचा है। यहाँ तक कि बहुत से समालोचक उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ श्रृंगारी कवि तक कहने मे संकोच न करेंगे। प्रेमी-प्रेमिकाओ के मनोगत भावो का पूर्ण अनुभव, उनका पाडित्य-पूर्ण विश्लेषण तथा एक छोटे से छोटे दोहे या सोरठे मे आ सकने वाले कतिपय वाक्याशो भरा, सुन्दर शब्द-विन्यास के बल पर उनका चमत्कारपूर्ण स्पष्टीकरण किसी साधारण श्रेणी वाले कवि का काम नही। इस कारण हिन्दी की क्या, यदि अन्य भाषाओ के श्रृंगारी कवियो के साथ भी हम बिहारीलाल की तुलना करने लगे, तो सम्भव है इनका नाम बहुत नीचे लाने की नौबत न आवेगी। इसमें सदेह नही कि शब्दो की तोड़-मरोड़, कृत्रिम कलाबाजी अथवा अत्युक्तियों की भरमार प्रभृति बहुत से दोषा के कारण इस कवि की कविता एक नही, अनेक स्थलो पर दूषित देख पड़ेगी; किन्तु कौन ऐसा कवि है, जिसकी रचना सभी प्रकार से निर्दोष हो ? बात यह है कि किसी कवि की सराहना करने बैठने पर उसकी साधारण कम-जोरियों पर ध्यान नहीं दिया जाता।

परन्तु बिहारी लाल केवल श्रृंगारी कवि ही न थे। उनकी एक मात्र उपलब्ध पुस्तक 'बिहारी-सतसई' के ही देखने से पता चलता है कि संस्कृत के पुराने कवि भर्तृहरि के समान यह नीति, वैराग्य, भक्ति आदि विषयो पर भी, श्रृंगार-रस-रचना की निपुणता के साथ ही, उत्तम कविता करना जानते थे। इन विषयो के दोहे 'सत-सई' में, बिना किसी श्रृंखला के यत्र-तत्र पड़े हुए देख पड़ते है और संख्या की दृष्टि से यद्यपि ये सब मिलकर भी श्रृंगार-रस से दोहो से कही कम हैं, तथापि काव्य की दृष्टि से, अथवा अनुभव और भावुकता के विचार से, ये उनसे किसी तरह न्यून नही। इनमें बिहारी लाल की रचना के सभी गुणों के उदाहरण मिलेंगे और यदि सच पूछिये तो, इनके यही दोहे ऐसे हैं, जिनसे हम विचार सरणियो के मेल द्वारा कवि के हृदय का सच्चा पता लगा सकते हैं। हमारे साहित्य के विशेष नियमों द्वारा जान-बूझ कर जकडी गई श्रृंगार-रस की रचना, व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप के कभी-कभी लगते रहने पर भी, कवि के के रहस्यों को व्यक्त करने में

बहुधा असमर्थ सिद्ध हो जाया करती है और किसी कवि को (As a man) अर्थात् कवि-कौशल-रहित शुद्ध मनुष्य के रूप मे देखने की इच्छा रखने वाले को हताश हो जाना पडता है। किन्तु अन्य रसो के अनुसार की गई रचनाओ मे यह अडचन कुछ न कुछ अवश्य दूर रहती है। कुछ ऐसी ही धारणा के आधार पर तथा यह सोचकर कि यद्यपि सतसैया के सागर मे बिहारीलाल की कविताएँ मुक्तको के ही रूप मे बिखरी पडी है, और उनका मर्म प्रथक्-प्रथक् ही समझना अधिक युक्ति-संगत होगा, तथापि वस्तुतः एक ही हृदय की उपज होने के कारण वे संभवतः सुसगत भी हो सकती हैं। मैने आगे की पंक्तियों मे कवि में सिद्धान्तो का पता लगाने की चेष्टा की है। आशा है पाठक इस पर और भी विचार करने की कृपा करेंगे।

भक्ति—बिहारी लाल का एक सोरठा और एक दोहा ऐसे है, जिनके आधार पर पहले-पहल कवि को निर्गुणोपासक समझने का पूरा भ्रम हो सकता है। जैसे :

मै समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचो काँच सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ॥

अर्थात् मैने तो यह निश्चय कर लिया है कि यह कच्चा अथवा झूठा ससार काँच के समान है, जहाँ एक ही ईश्वर का रूप अपार अर्थात् अनन्त रूप से भासित होता है और सभी पदार्थ उसके अनन्त रूप की केवल आभा मात्र हैं। इसका तात्पर्य है कि ईश्वर एक है, और वही सत्य है, तथा आँखो से देख पडने वाले सभी पदार्थ असत्य। इसी विचार का आश्रय लेकर लोग मायावादी, निर्गुणोपासक शंकर आदि दार्शनिको के अद्वैतवाद की छाया का भ्रम करके, इस कवि को कभी-कभी निर्गुणोपासक कह देते है। फिर :

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन-बिस्तारन-काल;
प्रगटत निर्गुन निकट ही, चग-रंग गोपाल॥

अर्थात् यदि ईश्वर को सगुण मानकर उसके अनन्त गुणो की प्रशसा की जाय और उसी के चिंतन में समय लगाया जाय, तो ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यो-ज्यो उपासक उसके गुणसागर में विलम्न होता जाता है, त्यो-त्यों उसे अपनी क्षुद्रता तथा उपास्य की महत्ता की तुलना करते-करते, एक महान् अन्तर का बोध होता जाता है। और इस बात मे सन्देह उत्पन्न होने लगता है कि हम ईश्वर द्वारा वास्तव में अपनाए जा सकते हैं कि नही। ऐसा जान पडता है कि गुणावली के साथ-साथ ईश्वर और भी दूर होता जाता है। परन्तु यदि निर्गुण के भाव की धारणा की जाय, तो वह अति निकट प्रकट-सा हो जाता है। इस बात को कवि ने गुड्डी उडाने का उदाहरण देकर समझाया है। कहा है, कि जैसे पतग की डोरी को जितना ही फैलाया जाय

उतना ही वह हमसे दूर होती जाती है, और फिर उसे समेटने के साथ ही निकट आ जाती है, उसी प्रकार गुण सम्पन्न ईश्वर की भी बात है। इस दोहे में भी ऊपर की बात को ही एक दूसरे ढंग से कहा गया है; बल्कि सगुण तथा निर्गुण ईश्वर के बीच उपासना के लिये किसी एक को पसन्द करने में यह दोहा स्पष्ट रूप से सलाह देता हुआ-सा भी जान पड़ता है। गुण-शब्द इस दोहे की जान है।

परन्तु वास्तव में यह बात नहीं। ऊपर दोहे में कवि ने ईश्वर को जान-बूझ कर 'प्रभु' और 'गोपाल' कहा है, जो अपनी थोथी गुणावली के आडम्बर से ही नहीं रिझाया जा सकता, बल्कि सारी पृथ्वी का पालन करने वाला वह एक ऐसा सर्वव्यापी स्वामी है जो इसके अन्तस्थल की बातें भली-भाँति समझता है। और जो बिना अपनी प्रशंसा कराए ही प्रत्येक हृदय के गुण तथा अवगुण को स्वयं जाँचने को तैयार रहता है। बनावटी गुण-विस्तार उसे पसन्द नहीं। गुड्डी उड़ाने वाले और गुड्डी में चाहे डोरी मात्र का सम्बन्ध हो, किन्तु मनुष्य और ईश्वर के बिना किसी गुणावली के ही सम्बन्ध स्थापित है। ये दोनों स्वभावतः स्वामी और सेवक है। यही क्यों, सोरठे का भाव भी केवल यही दिखलाता है कि सम्पूर्ण दृश्यमान जगत सिवा ईश्वर की आभा मात्र के और कुछ नहीं। सब पर उसकी मुहर है, जिसके कारण उसके प्रेम मे उन्मत्त भक्त को सारे संसार में अपना इष्ट देव ही देख पड़ेगा। दृश्यमान वस्तुओं पर से उसकी छाप हटा देने पर वास्तव में कुछ भी नहीं रह जाता, और फिर भक्त भी सब मे उसका 'रूप' ही तो देखा करता है। इसलिए वास्तव मे बिहारीलाल निर्गुणवादी दार्शनिक नहीं एक सच्चे भक्त है, जिनके उपास्यदेव श्री कृष्ण चन्द्र हैं। यह बात आगे और भी स्पष्ट हो जाएगी।

सबसे पहले कवि ने अपने इष्ट देव के स्थान पर, मंगलाचरण मे, श्री राधा से विनय की है। उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि मुझे संसार की बाधाओं से वह राधिका मुक्त करें, जिनके शरीर की आभा पड़ने अथवा जिनसे प्रभासित होने पर मेरे इष्ट देव श्याम अथवा श्री कृष्ण तक हरे अथवा प्रसन्न बदन हो जाते हैं; अर्थात् मेरे इष्ट देव पर अपना प्रभाव डालने वाली 'राधा नागरि' मेरी सहायता करें। इसे हम 'विनय पत्रिका' मे की गई गोस्वामी तुलसीदास जी की प्राथमिक विनयों के समान मान ले तो कोई अड़चन न होगी। अथवा यह भी हो सकता है कि कवि युगल-मूर्ति की उपासना पसन्द करता है, और उस दृष्टि से स्वभावत. कृष्ण से पहले राधा की वन्दना लिखना उसने आवश्यक समझा हो युगल-मूर्ति के विषय में कवि कहता है

अर्थात् एक साथ ही रहने वाले दोनों की युगल-मूर्ति, उम्र, रंग, मन इन सभी बातों में एक ही हो जाने के कारण और भी शोभा-सम्पन्न हो जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि भक्त की दो आँखें कितना ही देखती रहें, उसके हृदय को तृप्त नही कर सकती । उस अलौकिक सौन्दर्य को देखने के लिए यह अभिलाषा होती है कि यदि लोचनो के अनेक जोड मिल जायँ, तो कदाचित् उस छबि का अनुभव हो सके । परन्तु अपने उपास्यदेव श्री कृष्ण चन्द्र से कवि ने नीचे लिखे दोहे मे जो विनय की है, उससे पता चलता है कि उसे कृष्ण का कैसा स्वरूप इष्ट था :

सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल,
इहि बानक मो मन सदा बसौ बिहारी लाल ।।

अर्थात् हे आनन्द-क्रीड़ा करने वाले लाल मेरे मनो-मंदिर में तुम उस गोप वेश मे निवास करो जिसमें सिर पर मोर मुकुट, कटि में काछनी, हाथ मे मुरली तथा गले मे वनमाला पडी हो । तात्पर्य यह कि बिहारीलाल को, अपने समसामयिक कवि रसखानि की ही भाँति, निरन्तर मणि-मण्डित-किरीट धारी, पीताम्बर पहनने वाले द्वारकाधीश से कोई मतलब नही; उन्हें वृन्दावन-बिहारी की ही उपासना करनी है । रसखान का भी कहना है :

सोहत है चँदवा सिर मोर के, जैसियै सुन्दर पाग कसी है;
तैसियै गोरज भाल विराजति, जैसी हियै बनमाल लसी है ।।
"रसखानि" विलोकत बौरी भई, दृग मूँदि कै ग्वालिन पुकारि हँसी है;
खोली री घूँघट, खोलौ कहा, वह मूरति नैननि-माँझ बसी है ।।

फिर—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँपुर को तजि डारौं ।
आठहुँ सिद्धि, नवौ निधि कौ सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं ।।
"रसखानि" कबौ इन आँखिन सो ब्रज के बन-बाग तड़ाग निहारौं;
कोटिन हू कलधौत के धाम करील के कुँजन-ऊपर वारौं ।।

बिहारी लाल अपने इष्ट देव श्रीकृष्ण को ही एक मात्र और सर्वव्यापक सगुण ईश्वर समझते हैं । इसी कारण इन्हे लोगों के मतमतान्तर वाले झगड़ो से बड़ी घृणा है । उनका कहना है :

अपनैं अपनैं मत लगे, बादि मचावत सोरु;
ज्यौं-त्यौं सबकौं सेइबौ, एकै नन्दकिसोरु ।।

अर्थात् ससार भर के भिन्न-भिन्न देवोपासक चाहे वे वैष्णव शैव अथवा

शाक्त इत्यादि हों—तथा भिन्न-भिन्न मतवादी—चाहे वे द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत इत्यादि मत वाले हो--सब कोई अंधविश्वासियो की भाँति आपस मे व्यर्थ लडते अथवा वाद-विवाद किया करते है। सच्चा सिद्धान्त तो यह है कि सबको किसी न किसी प्रकार एक नन्द किशोर की ही सेवा करनी है। क्योकि अखिल ससार कृष्णमय होने के कारण किसी अन्य देव की आराधना भी कृष्ण की ही आराधना हो जाती है और सबका लड़ना-झगडना किसी काम का ही नही रह जाता। कहा भी है—"सर्व देव, नमस्कार: केशव प्रति गच्छति।" बिहारी लाल का तो यहाँ तक कहना है कि कोरी उपासना की ही दृष्टि से नही, बल्कि प्रतिदिन के सासारिक जीवन के भी विचार से सारी विपत्तियो को दूर करने वाले एक मात्र कृष्ण के सिवा किसी भी प्रकार की सपत्ति से मुझे कुछ प्रयोजन नही :

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार;
मो संपति जदुपति सदा बिपति-बिदारनहार॥

अर्थात् चाहे कोई करोड की संपत्ति इकट्ठी करे, चाहे कोई दस करोड का उपार्जन करे,मेरी संपत्ति सदा विपत्तियो के नाश करने वाले स्वयं श्री कृष्ण भगवान् हैं मुझे और किसी संपत्ति की कुछ भी आकाक्षा नहीं। यही नही, कवि को इस बात की अभिलाषा नही कि वह प्रयागादि बड़े-बडे तीर्थों मे घूम कर पुण्यार्जन करता फिरे। उसे तो राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति का दर्शन ही सभी पुण्यो से बढकर है :

तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु;
जिहि ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग पग होतु प्रयागु॥

अर्थात् हे मन तू तीर्थाटन की अभिलाषा छोडकर श्री राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति की शरीर-कांति में ही अपने को लगाए रह—उसी मे अनुरक्त रह क्योकि अन्य तीर्थों की कौन कहे, स्वयं तीर्थराज तक उस युगल मूर्ति के विहार-कुंजो के मार्ग मे केवल एक पग के ही बराबर है, अर्थात् श्री राधा-कृष्ण के ध्यान मे अनुराग करने मे ब्रज के कुंजों में चलने वाले को प्रत्येक पग पर प्रयागराज जाने का फल प्राप्त होता है अतः तीर्थाटन का श्रम भी व्यर्थ ही है। भक्त के लिए इन ऊपरी बातो की कुछ भी आवश्यकता नही। उसे तो एक सच्चा हृदय-मात्र चाहिए। इसीलिए वेशधारी साधुओं की ओर संकेत करके कवि कहता है :

जपमाला, छापैं तिलक सरै न एकौ कामु;
मन-काँचे नाँचै बृथा, साँचै राँचै रामु॥

अर्थात् तिलक, माला आदि सब वेष केवल ऊपरी दिखावे के साधन मात्र हैं। इनसे तथा सच्ची भक्ति से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। ईश्वर इन बातों की ओर न देख

कर सच्चे हृदय वाले पर ही प्रसन्न होता है। वह कपटी से बहुत अप्रसन्न रहता है, और उसे अपनी शरण मे नही लेता। सच्ची बात तो यह है कि कपटी हृदय में ईश्वर आ ही नही सकता। कपट का दृढ किवाड उसके हृदय तक पहुँचने मे रुकावट डालता है, उसे घुसने तक नही देता।

तौ लगु या मन-सदन मैं हरि आवैं किहि बाट,
बिकट जटे जौ लगु निपट खुरै न कपट-कपाट ।।

यह सब कुछ कह चुकने पर अन्त मे कवि मानो अपने को सबोधित करके कहता है—रे मन, तुझे किसी से सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता नही, और न किसी का आश्रय लेना है। तू तो केवल :

मनमोहन सौ मोहु करि, तू घनस्यामु निहारि ;
कुंज बिहारी सौ बिहरि, गिरधारी उर धारि ।।

अर्थात् "रे मन यदि किसी पर मोह करना है तो तू श्री मनमोहन से ही मोह कर, क्योंकि और जितने मोहोत्पादक पदार्थ हैं, वे सब अंत को फीके जँचते है, पर मनमोहन का मोह सदा चटकीला होता जाता है। यदि तेरी इच्छा शोभा देखने की है, तो तू श्री घनश्याम को ही देख, क्योंकि वह शोभा की अवधि हैं, और उनकी शोभा से मन कभी नही भरता। यदि तेरी लालसा विहार करने की है, तो तू कुन्जबिहारी से विहार कर, क्योंकि और विहारों से अंत मे चित्त को आराम हो जाता है। पर उनके नये विहार चित्त को सदैव उत्साहमय तथा आनन्दित बनाए रखते हैं। और यदि तेरी अभिलाषा किसी को अपने हृदय मे धारण करने की है, तो तू गिरधारी को ही उर मे धर, क्योंकि वह परम भक्त-वत्सल एव शरणागत का पालन करने वाले हैं। उन्होंने गोवर्धन धारण करके इन्द्र के कोप से ब्रजवासियों की रक्षा की थी।" (रत्नाकर)

बहुत से पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भक्त कवियों की भाँति बिहारीलाल ने भी अपने को बडा भारी पापी बतलाया है, और उसी संबन्ध से नाता जोड अपने उपास्य देव श्रीकृष्ण चन्द्र से तारने के लिये निमित्त कई प्रकार से अनुनय-विनय की है। यह कवि अपने को इतना पतित समझता है कि इसे भय है मुझे तारने के समय हिचकिचाते हुए हरि को दीनोद्धार बनाने का अपना प्रण भी तोडना पडेगा। वह कहता है—'हे मुरारे, एक साधारण गिद्ध को तारकर तुमने जो अपना यश फैला रखा था, वह मेरे जैसे परचे हुए पातकी के अवसर पर ठहर ही न सकेगा, और अब तो मुझमें और तुममें एक पूरी बहस उठ खडी हुई है। मैं पूर्ण पतित हूँ, और तुम पतित-पावन कहलाते हो इसलिए या तो मुझे तारना ही पडेगा या अपना

नाम ही छोड़ना पड़ेगा। दो में से एक निश्चित है। देखो, ऐसा प्रबन्ध करो कि मेरे गुणो अथवा अवगुणों की कोई गिनती ही न होने पावे, और मैं भी और पतितो के साथ ही झमेले से किसी प्रकार तार दिया जाऊँ। मै तो केवल यही चाहता हूँ कि जैसे और अधमों को मोक्ष मिली है, वैसे मुझे भी मिल जाय, और नही तो यदि बंधन में ही रखा जाऊँ तो फिर अपने इष्ट देव की गुणावली की ही डोर से बँधा रहूँ।" कवि अपने इष्टदेव कृष्ण को युक्तियों द्वारा भी रिझाकर अपनी ओर फेरना चाहता है। उसका कहना है—"मैने अपने हृदय रूपी हम्माम को तीनो आधि-भौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक—तापो से यह सोचकर तपा रखा है कि संभव है, यहाँ कभी आ जाने पर मेरे श्याम पुलकित होकर पसीज जाँय, अर्थात् उन्हें करुणा आ जाय" अथवा "मै इस ससार मे कुटिलता इसलिए किया करता हूँ कि मेरा हृदय सरलता के कारण सीधा न रहने पावे, नही तो मेरे त्रिभंगी अर्थात् तीन जगह मे टेढ़े लाल को ऐसे स्थान मे रहने पर कष्ट होगा।" हरि से कवि का कहना है :

> हरि, कीजति, बिनती यहै तुम सौ बार हजार।
> जिहि-तिहि भाँति डर्यौ रह्यो पर्यौ रहौ दरबार॥

अर्थात् हे हरे, देखो, और कुछ न करो, तो कम से कम मुझे अपने दरबार में ही पड़ा रहने दो। तात्पर्य यह कि मैं मुक्त होकर भी तुम्हारे दरबार से निकाल दिया जाना नही चाहता।

परन्तु भक्त विहारीलाल के उपालंभ बहुत मार्के के नहीं हैं। यह बस इतना ही कह देना बहुत समझते है कि हे भगवान जान पड़ता है, तुम्हे भी आजकल के दानी लोगो की हवा-सी लग गई है, नही तो तुम मेरी इतनी उपेक्षा क्यो करते? इन्हे अपनी करतूतो की निकृष्टता का ही इतना भय है कि वह लज्जित होने के कारण गोपाल को अपने सम्मुख आने देना तक नही चाहते, क्योंकि इससे संकोच इतना बढ जायगा कि छिपाने को भी कही स्थान नहीं मिलेगा। यह तो यहाँ तक कह डालते है :

> ज्यौं ह्वै हौ, त्यौं होउँगो, हौ, हरि, अपनी चाल;
> हठु न करौ, अति कठिनु है मो तारिबौ, गुपाल॥

अर्थात् हे हरे, मैं अपनी चाल से अपने भले-बुरे कर्मों का फल भोगता रहूँगा। तुम कहीं मेरे तारने के कठिन काम में हाथ लगाने का हठ न करना। यह दुसाध्य सा है

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाँहिं ।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाँहि ।।

अर्थात् जिस ज्ञानमय परमेश्वर के हृदयस्थ होने के कारण हम सारे संसार को जानने का दावा किया करते है, उस चित्स्वरूप अपने स्वामी का हमे कुछ भी ज्ञान नही हो पाता । जैसे आँखो से हम सब कुछ देखते है, पर अपनी (देखने वाली) आँखों को ही नही देख पाते । बात यह है कि जानने अथवा देखने की क्रिया मे जानने और देखने वाले तथा जानी जाने और देखी जाने वाली इन दो वस्तुओं का होना नितात आवश्यक है । इस कारण जब दोनो एक हो जाती है, तो वे क्रियायें हो ही नही सकतीं, अर्थात् न जाना जा सकता है और न देखा । कवि ने बड़े अच्छे उदाहरण द्वारा इस विषय को स्पष्ट किया है । फिर :

या अनुरागी चित्त की गति, समुझ सकै नहिं कोइ ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम-रंग, त्यौं-त्यौं उज्जलु होइ ।।

अर्थात् इस प्रेम में पगे चित्त की विचित्र बात समझ मे नही आती; देखो तो सही यह अनुरागी (अर्थात् लाल रग का) होकर श्यामसुन्दर के रंग-सागर मे तो डुबकी लगाता है, और वह डुबकी जितनी ही गहरी होती जाती है, उतना ही इसका रंग, कुछ और ही होने की जगह, उलटा हो निखरता जाता है । तात्पर्य इतना ही है कि श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द से अनुरक्त होने पर चित्त शुद्ध और निर्मल हो जाता है । किन्तु कवि ने इस बात को एक बडी सुन्दर उक्ति मे सन्निविष्ट करके स्पष्ट कर दिया है ।

फिर एक और उदाहरण लीजिए :

मोहन-मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ;
बसतु सु चित-अंतर, तऊ प्रतिबिंबितु जग होइ ।।

अर्थात् श्याम सुन्दर की मोहनी मूर्ति की कुछ विलक्षण शक्ति जान पडती है । क्योकि बसती तो वह भक्तो के हृदय के भीतर है, किन्तु उसका प्रतिबिम्ब सारे संसार में दीख पडने लगता है । इसमे आश्चर्य की बात यह है कि किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब तभी पड़ सकता है, जब वह किसी प्रकार के आवरण के अच्छादित न हो । किन्तु इस मूर्ति की (जो साँवली भी है) कुछ उल्टी ही चाल है । यह मनुष्य के अंधकारमय हृदय-मन्दिर के भीतर रहती हुई भी सामान्यत- प्रतिबिम्बित होने वाली वस्तुओं पर ही अपना प्रकाश नही डालती, प्रत्युत सम्पूर्ण जगत को अपने सा ही दर्शाने लगती है । तात्पर्य केवल यही है कि कवि के उपास्यदेव कृष्ण से अनुराग करने पर सारा संसार कृष्णमय ही देख पडने लगता है । किन्तु इस कवि ने इसी

साधारण भाव को लेकर एक बड़ी ही चमत्कारपूर्ण उक्ति की सृष्टि कर डाली है। यहाँ पर 'एकै वस्तु अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ" का भाव और भी स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार के दोहे कुछ और भी है, जिन्हे यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नही।

नीति :

बिहारीलाल ने अपनी सतसई में पूर्ववर्ती कवियों (तुलसी, रहीम, कबीर आदि) की पद्धति का अनुसरण करके कुछ नीति-विषयक दोहे भी कहे हैं, जो अधिकाश मे उच्च श्रेणी के ही नही, अनूठे तक कहे जा सकते हैं। इनसे पता चलता है कि यह कवि कोरे श्रृंगार में ही मग्न रहने वाला नही था, प्रत्युत देश, काल, समाज तथा दरबार आदि की गति का भी निरीक्षण करने में अपनी कुशाग्र बुद्धि का प्रयोग कर सकता था। इसके अनुभव की बातो के उदाहरण लीजिये। इसकी राय में बड़े लोगों को छोटो की अधिक प्रतिष्ठा नही करनी चाहिये, क्योंकि अन्त मे छोटे-छोटे ही है, और उनसे बड़ा काम कभी नहीं निकाला जा सकता। चूहे के चमडे से कभी बड़ा नगाडा नही मढा जा सकता, और न सोने के समान 'कनक' कहलाने के ही कारण गुणहीन धतूरा गहने गढने के काम आ सकता है, या सूर्य के समान अर्क कहलाने वाला मदार प्रकाश दे सकता है। और फिर बालो को तो आप कितना ही सिर चढाए रहिए, अन्त में बढ़ कर आपके पीछे ही पडे रहेगे। नीच आकाश तक भी ऐंठकर क्यो न पहुँचा दिए जाय, किन्तु फिर भी अपनी शक्ति के बाहर की बात उनसे नही हो सकती—कहीं फाड़-फाड़कर देखने भर से ही आँखे बडी तो नही हो जाती, और न फुहारे का पानी नल के अवलंब से ऊपर उठने के कारण चढता ही चला जा सकता है। इन दोनो को लौट कर अततोगत्वा अपने स्वभाव पर ही आ जाना पडेगा। नीचों का तो यहाँ तक स्वभाव है कि वे ऊपर से नम्र देख पडने पर भी, सुयोग पाकर, काटे के समान पैरी लगा कर भी, दुःखदायक हो जाते हैं, और यही कारण है कि उनकी बुराई दूर हो जाने पर भी उनसे बड़ा भय मालूम होता है, क्योंकि यह देखने मे आया है कि चंद्रमा को कलंक-रहित देखकर ज्योतिषी लोग किसी बड़े भारी उत्पात की संभावना किया करते हैं। इसलिये यदि किसी को कोई नीच कुछ देर के लिए अच्छा लगता सा देख पडे, तो भी यही समझना चाहिए कि वह कदाचित् "भिन्नरुचिहि लोक" की कहावत के अनुसार अपने सीधे-पन के कारण उस पर किसी प्रकार रीझ गया होगा, अन्यथा यह कौन नही जानता कि नीच का सम्मान यदि होता भी है, तो केवल घडी क्षण का ही हुआ करता है। काक पक्षी का आदर श्राद्धपक्ष के अनंतर कहीं थोडे सुना जाता है। गोवर्द्धन-गिरि तक की पूजा थोड़ी ही देर के लिए होती है और अन्त मे उसकी प्रतिभा को पशुओं

के पैरो तले ही रौंदा जाना ही नसीब होता है। नीच को सदा निरादृत करना चाहिये। इसी मे उसकी भलाई है; क्योंकि उसका तो यह स्वभाव ही है कि वह गेंद के समान, जितनी सिर पर चोट लगे, उतना ही उछल कर, अपने को धन्य समझेगा, इत्यादि।

दुष्ट प्रकृति वाले स्वामी की भलाई के निमित्त अपने ही भाई-बन्धुओं को कष्ट पहुँचाने वाले किसी उच्च कुलोत्पन्न नौकर की ओर संकेत करके कवि ने एक बडी ही मार्मिक अन्योक्ति कही है, जो उसकी प्रतिभा का उत्कृष्ट निदर्शन है। देखिए :

स्वारथु, सुकृतु न श्रमु वृथा, देखु बिहंग बिचारि;
बाज, पराएँ पानि परि, तूं पच्छीनु न मारि ॥

इसका सरल अर्थ यह है कि आकाशगामी पक्षी बाज, तू दूसरे के हाथों पड कर अपनी ही जाति वाले पक्षियों को मारने का इतना भारी अनर्थ क्यों कर रहा है ? भला विचार कर देख तो सही, इसमें न तो तेरा कोई स्वार्थ है, न कोई पुण्य; बल्कि एकदम व्यर्थ का परिश्रम ही परिश्रम है। इस दोहे में कवि ने 'विहग,' 'बिचारि' 'पराएँ पानि परि' तथा 'पच्छीनु' शब्दो अथवा वाक्यांशो के प्रयोग जान-बूझ कर किए है; क्योंकि 'विहंग' उसी को कहते है, जो स्वच्छंद 'विहायसा' (अर्थात् आकाश) में विचरण करने वाला हो, अर्थात् जिसका कुसमयानुसार दासत्व की शृंखला से जकड़ जाना उसकी उच्चकुल-सुलभ प्रतिष्ठा से नीचे गिरना है। इस कारण इस दोहे की बात उसी को लग भी सकती है। जो स्वभावत नीच प्रकृति का होगा, उस पर इसका प्रभाव नही पड़ सकता। 'बिचारि' शब्द इसलिए प्रयुक्त है कि बाज अथवा सेवक, कुछ दिनो तक दासवृत्ति मे रहने के कारण, अपनी स्वाभाविक चाल की गुरुता भूला सा गया होगा। यदि उससे सँभल कर सोच लेने के लिए न कहा जाय, तो सभव है, जैसा चाहिये वैसा प्रभाव ही न पड़ने पावे। 'बिचारि' शब्द की गम्भीरता उसके साथ 'देखु' के लग जाने से और भी बढ जाती है, जिसके कारण 'बिचारि देखु' का अर्थ 'भला विचार कर देख तो सही' इतना हो जाता है। इसी प्रकार 'पराएँ पानि परि' वाक्यांश मे 'पराएँ' शब्द 'पच्छीनु' अर्थात् स्वपक्ष वालो से पार्थक्य अथवा दूर का संबन्ध बतलाने के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिससे यह शीघ्र बोध हो सके कि करने वाले का नाम सचमुच अनर्थयुक्त है— भला दूसरे के हित के लिए अपने लोगों को पीडित करने का अस्वाभाविक काम कोई कैसे करना चाहेगा ? फिर 'पानि परि' अर्थात् 'हाथों पड़कर' से बाज के पक्ष में अपने स्वामी के हाथ पर बैठने का भी बोध हो सकता है। 'पच्छीनु' शब्द भी जैसा ऊपर कहा गया है पक्षियों तथा स्वपक्ष वाले, इन दोनों अर्थों का बोधक है।

इसके सिवा इस दोहे में यह भी विशेषता है कि इनका प्रत्येक शब्द बड़ी सावधानी से रखा गया जान पड़ता है। किसी उद्धत प्रकृति-प्राप्त भले मानुस को समझाकर रोकने का जैसा ढंग हो सकता है, ठीक वैसा ही ढङ्ग इस दोहे के शब्द-विन्यास से सूचित होता है :

स्वारथु सुकृतु न, श्रमु वृथा, देखि बिहग, बिचारि।
बाज, पराएँ पानि परि, तूँ पच्छीनु न मारि॥

अर्थात् जबकि सबसे प्रिय स्वार्थ का भाव अथवा उसके अनंतर सत्कार्य या पुण्य का भी कोई भाव नहीं देख पड़ता और सारा-का-सारा परिश्रम व्यर्थ ही है! तो ऐ भले आदमी, जरा विचार कर देख तो सही, दूसरे (और फिर भी दुष्ट स्वभाव वाले) किसी के हाथ का खिलौना बन कर अपने भाई-बन्धुओं को ही तंग करने का अनर्थ क्यों कर रहा है? ऐसा मत कर, कम-से कम तुझे तो ऐसा नहीं करना चाहिए। इस कथन शैली के साथ ही क्लिष्ट शब्दों को न आने तथा थोड़े से ही शब्दों में एक पूर्ण भाव की सामग्री एकत्रित हो जाने कारण इस दोहे मे प्रसाद-गुण और शीघ्र किसी चोट के समान हृदयंगम करा देने वाली गम्भीरता, दोनों बातें एक साथ ही आ गई हैं।

गुणग्राहकता के विषय में बिहारीलाल का कहना है—सबसे पहले तो गुणी कहला कर प्रतिष्ठा पाने की इच्छा करने वाले को ही चाहिए कि वह इस बात को भली-भाँति समझ ले कि उसमें वास्तव में कोई गुण है कि नहीं; क्योंकि भ्रमवश अपनी बड़ाई से बहक कर खिल उठने वाले गुड़हल के फूल पर यदि भ्रमर नहीं बैठता, तो यह भ्रमर का अन्याय नहीं, बल्कि उस फूल की ही निर्गुणता है। प्रतिष्ठा जमाने के लिए गुणियों को भी कभी-कभी कष्ट उठाना पड़ता है, क्योंकि बिना पत-झड़ हुए वृक्ष में नए फूल-फल नहीं आते। हाँ, गुण होने पर भी यदि गँवार लोग उनका समादर न करते हों, तो दूसरी बात है; क्योंकि गाँव में जाने पर शिक्षित नाग-रिक तक की हँसी हो सकती है और अपने गुणों को विकसित करके फूला हुआ गुलाब भी अनफूला रह जाने के बराबर ही हो जाता है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि जिन लोगों को निकृष्ट वस्तुओं से ही प्रयोजन है, वे उत्तम वस्तु लेकर करेंगे ही क्या? गधों से काम चलाने वाले कहीं हाथी का व्यापार कर सकते हैं? और, यह भी तो समझना चाहिए कि गुणी का यदि निरादर भी हो जाय, तो उसके गुणों की महिमा नहीं घट सकती; क्योंकि यदि पीनस-रोग वाले ने कपूर को शोरा समझकर त्याग दिया, तो क्या उसकी शीतलता अथवा सुगन्ध का मूल्य घट जायगा? तात्पर्य यह कि आदरणीय मनुष्य का आदर न करने अथवा निरादर करने से उसके गुणों का कुछ मोल नहीं गिर जाता। सिर पर धारण करने योग्य मुकुट को पाँव में पहनने

वाला मनुष्य अपनी ही जडता प्रकट करता है, उस मुकुट की गुणहीनता नहीं; और गुलाब के सुन्दर-सुन्दर फूलो के लिए कँटीली और सूखी डालो का होना विधाता की ही भूल का द्योतक है, इत्यादि।

कवि ने कुबुद्धि, कृपणता और लोभ की घोर निंदा की है और राज्य की द्वैध शासन-प्रणाली अथवा Dyarchy को प्रजाओं के लिए महा अनर्थकारिणी बतलाया है। उसका कहना है :

दुसह दुराज प्रजानु कौ, क्यौं न बढ़ै दुख-दंदु;
अधिक अँधेरौ जग करत, मिलो मावस रवि-चंदु ॥

अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा की दुअमली के ही कारण अमावस को अंधकार-ही-अंधकार देख पडता है। बिहारीलाल ने साथ या संगति के विषय में लिखते हुए सब कही यही कहा है कि वह बराबरवालो मे ही ठीक होती है। क्योंकि जो वस्तु जहाँ रहने के योग्य हो, उसका वही रहना समुचित अथवा न्याय संगत है। हाँ, अपनी भलाई के लिए सौभाग्य से यदि किसी अपने से बडे की मैत्री भी हो जाय, तो वह बात ही दूसरी है। बडो की संगति की यह विशेषता भी है कि वह दुरवस्था के प्राप्त होने पर भी "चोल रंग मे रंगे हुए कपडे" के समान कभी फीकी नही पड़ती, प्रत्युत चटकीली अर्थात् गहरी ही होती जाती है। मैत्री को स्थायी बनाये रखने के लिए रजोगुण से दूर रहना परमावश्यक हैं, क्योंकि वह कितनी ही स्निग्ध अथवा चिकनी क्यो न हो, रजोगुण की धूल उसे अवश्य दूषित कर देगी।

इन्होंने नम्रता की प्रशंसा करते हुए भी अपने दृढ़ निश्चय पर डट जाने वाले की ओर संकेत करके चकोर पक्षी के ऊपर एक बड़ी अच्छी अन्योक्ति कही है :

चितु दै देखि चकोर-त्यौं, तीजैं भजै न भूख;
चिनगी चुगै अंगार की, चुगै कि चंद मयूख ॥

अर्थात् अपने निश्चय पर तुले हुए चकोर की ओर तो देखिए। वह इतना हठ-धर्मी है कि भूखा रहने पर भी या तो चन्द्रमा की किरणो का पान करेगा, अथवा आग की चिनगारियाँ ही चुकेगा; किसी तीसरी वस्तु को वह नही भखता। इसी प्रकार दृढ़ व्रती लोग या तो अपना उद्देश्य पूरा करके छोड़ेंगे या मर ही मिटेंगे।

समय के फेर के संबंध में रखने वाली नीचे लिखी कविता बहुत प्रसिद्ध है :

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार;
अब, अलि, रही गुलाब मैं, अपत, कँटीली डार ॥२५५॥

इसका आशय है कि इस बुरे दिन में अब दुःख को छोड़ किसी सुख की आशा-

चना नहीं देख पड़ती । परन्तु एक दूसरी अमरोक्ति द्वारा कवि ने आशावादिता की भी वैसी ही सुन्दर झलक दिखलाई है :

इहीं आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाब कैं मूल;
ह्वै है फेरि बसंत ऋतु, इन डारनु वे फूल ।।

अर्थात् घोर निराशा के अवसर पर भी आशा की किरणों का दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है । फिर समय का प्रभाव दिखलाता हुआ कवि कहता है :

बढ़त बढ़त संपति-सलिलु, मन-सरोजु बढ़ि जाइ;
घटत-घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ।।

अर्थात् जल-रूपी संपत्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों कमल रूपी मन भी बदल जाता है । किंतु फिर उस (संपत्ति) के घटने लगने पर वह (मन) घटना नहीं जानता, प्रत्युत सूखती हुई झील में उगे कमल की भाँति एकदम कुम्हला कर नष्ट ही हो जाता है । परन्तु ऐसी दशाओं मे दैव-दैव मात्र कहकर बैठ जाने वाले को कवि फिर आश्वासन भी देता है :

दीरघ साँस न लेहु दुख, सुख साँईं हि न भूलि;
दई-दई क्यौ करतु है, दई-दई सु कबूलि ।।

अर्थात् दुःख मे लंबी साँसे न ले, और सुख मे परमेश्वर को न भूल । इसी से सुख तथा दुःख, इन दोनों अवस्थाओ मे मन की स्थिरता वर्तमान रह सकेगी । संपत्ति उसी ने दी है, और वही ले भी लेता है । वह यदि चाहेगा, तो बिना किसी उद्योग के भरा-पूरा कर देगा । बिहारीलाल को इसी कारण संतोष पर पूरा विश्वास है, वह कहते हैं, धनोपार्जन के फेर मे निरंतर फँसे रहना व्यर्थ है; क्योकि एक तो इसका फँसाव ही ऐसा है, जिसमे जितना ही समझना चाहे, उतनी ही उलझनें बढ़ती जाती हैं; और लालची की दशा फंदे में फंसे हरिण की-सी हो जाती है; दूसरे धतूरे से भी अधिक मादक द्रव्य को जितना ही तिरस्कृत किया जाय, उतना ही अच्छा । सम्पत्ति से निरपेक्षता दिखलाने वाले इस कवि ने यहाँ तक कह डाला है कि इस संसार मे द्रव्य की आवश्यकता केवल अपनी लाज बचाए रखने के लिए ही है—इसलिए यदि ईश्वर यों ही इज्जत रखता चले, तो इस अनेक दुर्गुणो से परिपूर्ण बला को भला कौन मोल लेना चाहेगा । इसी कारण कवि ने आदर्श कुटुम्ब उसी को माना है, जिसे भोजन वस्त्रादि-भर के उचित सामान समय पर, बिना किसी झंझट के, मिलते जायँ, और धनोपार्जन के अनर्थकारी झमेले मे नाहक फँसना न पड़े । इसी बात को वह एक सुन्दर अन्योक्ति द्वारा स्पष्ट करता है

पट्ठ पाँखैं, भखु कांकरे, सपरपरेई संग;
सुखी, परेवा, पुहुमि मैं एकै तुही बिहंग ।।

अर्थात् हे कबूतर, इस धरातल पर तेरे जैसा सुखी मुझे कोई नही देख पडता; क्योंकि एक गृहस्थ कुटुम्ब के लिए सबसे आवश्यक वस्तुएँ केवल वस्त्र, भोजन तथा एक सुशील ग्रहणी हुआ करती है। सो तुझे पर्याप्त रूप से प्राप्त है। वस्त्र की जगह तेरे शरीर पर सुन्दर पंख है; साधारण कंकण तू चुगा करता है, जो जहाँ तू बैठ जा, वहीं बिना कष्ट मिल सकते हैं और परों से आच्छादित तेरी स्त्री सदा तेरे साथ ही रहा करती है। तुझे अब और क्या चाहिए।

यह कवि एक सच्चा व्यवहारवादी है। इस कारण आदर्शवादिता के ऊँचे शिखर पर चढ कर वह सारहीन मनोरथो की मनोरंजक मूर्ति गढ़ते रहना नही पसन्द करता। वह तो स्पष्ट कह देता है कि ससार का ऐश्वर्य किसी काम का नहीं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयोगी वस्तु वही हो सकती है, जो उसके अवसर पर काम आवे। जेठ की दुपहरी मे पानी की खोज मे सारा मरुस्थल छान डालने वाले प्यासे मारवाडी के लिए यदि अकस्मात् मिल जाने वाला तरबूज ही काम आ जाय, तो उस समय वह समुद्र से किसी प्रकार कम नही, चाहे समुद्र की अपारता की प्रशंसा करने वाले कितना ही मूड क्यों न मारते फिरें। बात यह है कि :

अति अगाधु, अति ओथरौ नदी, कूप, सरु, बाइ,
सौ ताकौ सागरु जहाँ जाकी प्यास बुझाइ ।।

और जान पडता है, इसी सिद्धान्त के आधार पर, उसने सृष्टि के सुन्दर तथा कुरूप पदार्थों के विषय मे भी निर्णय किया है। वह एक स्थल पर कहता है :

समै-समै सुन्दर सबै, रूपु, कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ ।।

अर्थात् वास्तव मे यदि देखा जाय, तो यह कहना कि अमुक वस्तु सुन्दर है और अमुक वस्तु कुरूप, एक भ्रम मात्र देख पड़ेगा; क्योंकि वस्तुओं की सुन्दरता अथवा कुरूपता, प्रशंसा अथवा निंदा करने वाले की मनोवृत्ति पर ही अवलंबित है, और यह मनोवृत्ति स्वयं वस्तु-स्थिति तथा अवसर द्वारा सदा प्रभावित होती रहती है। इसी लिए इन दोनों अर्थात् सौन्दर्य तथा कुरूपता का सापेक्ष (Relative) होना अनिवार्य है।

इसी प्रकार बिहारीलाल ने कई विचार, विशेष कर वे, जो सामाजिक कुरीतियो अथवा व्यवहारो से अधिक सम्बन्ध रखते हैं, उनके प्राकृतिक

वर्णन के तथा शृंगार-रस वाले दोहों में भी भरे पड़े हैं। परन्तु इस लेख को और न बढ़ाकर उनके कवित्व-विषयक विचार को व्यक्त करने वाला एक ही दोहा यहाँ और दिया जाता है।

तंत्री नाद, कबित्त-रस, सरस राग, रति-रंग;
अनबूड़े, बूड़े तरे जे बूडे सब अंग ।।

इसका भावार्थ यह है कि कविता और संगीत के महत्व को सर्व-साधारण नहीं समझ सकते; क्योंकि ये समुद्र-ऐसे हैं, जिनमें जितना ही डूबते जाइए, उतना ही आनन्द मिलेगा। इनमें केवल ऊपर तैरते रहने-भर की इच्छा करने वाले के ही कुछ हाथ नही लग सकता। रसिकता और भावुकता बिरला ही मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

सन्दर्भ संकेत

ये अथवा आगे जिन दोहों का अर्थ है, वे यहाँ उद्धृत नहीं किए गए; केवल अर्थ ही दे दिया गया है। ऐसा विस्तार-भय से किया गया है। पाठक बिहारी-रत्नाकर में अनायास ही इन दोहों को खोज कर देख सकते हैं।—सुधा—संपादक

देव और बिहारी विषयक विवाद की उपलब्धियाँ

● श्री किशोरी लाल

वस्तुतः रीतियुग की काव्य-चेतना ऐतिहासिक जीवन के मादक एवं समस्त प्रभावों से पूर्ण रूपेण अनुप्राणित है। उस युग की शृंगारिक रचनाएँ आमुष्मिक जीवन की चिन्ता से सर्वथा मुक्त हैं। इनमे ऐन्द्रिक संवेदना के इतने बिखरे हुए चित्र मिलगे जिन्हें दूसरे युग का वाङ्मय नही दे सकेगा। मान्यवर डा० ग्रियर्सन ने सत्रहवीं शती के मध्य की रचनाओं की तुलना आगस्टन युग की रचनाओ से की है। अंग्रेजी साहित्य के इतिहास मे यह युग काव्यकला एवं काव्यकौशल युग के रूप में अभिहित किया गया है।[१] देव और बिहारी इसी आगस्टन युग के कलाकार थे। डा० रसाल ने देव और बिहारी जैसे कवियों की उत्कृष्ट काव्यकला समन्वित रचनाओ के कारण इस युग को 'काव्य-कला' युग कहना अधिक औचित्यपूर्ण समझा।

इधर जीवन की नैतिक मान्यताओ की कसौटी पर खरे न उतरने के कारण देव और बिहारी की रचनाओ को अधिक उपेक्षणीय दृष्टि से देखा गया है, किन्तु सत्य तो यह है कि रीति युग के कलाकार आत्मस्वर के साधक नहीं थे। उनकी वाणी यौवन का ही शृंगार करती रही, उनकी दृष्टिकला कला के लिए ही संश्लिष्ट रही। इस तथ्य को ठीक से न ग्रहण करने के कारण एडविन ग्रीव्ज महोदय की बिहारी विषयक यह समीक्षा विचारणीय है : —"Had Bihari lal really something to say and manifisted possession of as much soul as he had brains, he might have become a great-poet."

× × × ×

The Bihari lal was remarkably clever manipulator of wards is freely allowed but he can nither be called a great-poet not can be said to have carried Hindi-literature forward or upward."[२]

निष्कर्षतः ग्रीव्ज महोदय के ... बिहारी में मात्र बौद्धिक प्रगल्भता

वर्णन के तथा शृंगार-रस वाले दोहों में भी भरे पड़े हैं। परन्तु इस लेख को और न बढ़ाकर उनके कवित्व-विषयक विचार को व्यक्त करने वाला एक ही दोहा यहाँ और दिया जाता है।

तंत्री नाद, कबित्त-रस, सरस राग, रति-रंग;
अनबूड़े, बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग ।।

इसका भावार्थ यह है कि कविता और संगीत के महत्व को सर्व-साधारण नहीं समझ सकते; क्योंकि ये समुद्र-ऐसे हैं, जिनमें जितना ही डूबते जाइए, उतना ही आनन्द मिलेगा। इनमें केवल ऊपर तैरते रहने-भर की इच्छा करने वाले के ही कुछ हाथ नहीं लग सकता। रसिकता और भावुकता विरला ही मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

सन्दर्भ संकेत

ये अथवा आगे जिन दोहों का अर्थ है, वे यहाँ उद्धृत नहीं किए गए; केवल अर्थ ही दे दिया गया है। ऐसा विस्तार-भय से किया गया है। पाठक बिहारी-रत्नाकर में अनायास ही इन दोहों को खोज कर देख सकते हैं।—सुधा—संपादक

देव और बिहारी विषयक विवाद की उपलब्धियाँ

● श्री किशोरी लाल

वस्तुत: रीतियुग की काव्य-चेतना ऐतिहासिक जीवन के मादक एवं सम्पन्न प्रभावो से पूर्ण रूपेण अनुप्राणित है। उस युग की शृंगारिक रचनाएँ आमुष्मिक जीवन की चिन्ता से सर्वथा मुक्त हैं। इनमे ऐन्द्रिक संवेदना के इतने बिखरे हुए चित्र मिलगे जिन्हें दूसरे युग का वाङ्मय नहीं दे सकेगा। मान्यवर डा० ग्रियर्सन ने सत्रहवीं शती के मध्य की रचनाओ की तुलना आगस्टन युग की रचनाओं से की है। अंग्रेजी साहित्य के इतिहास मे यह युग काव्यकला एवं काव्यकौशल युग के रूप में अभिहित किया गया है।[१] देव और बिहारी इसी आगस्टन युग के कलाकार थे। डा० रसाल ने देव और बिहारी जैसे कवियों की उत्कृष्ट काव्यकला समन्वित रचनाओं के कारण इस युग को 'काव्य-कला' युग कहना अधिक औचित्यपूर्ण समझा।

इधर जीवन की नैतिक मान्यताओ की कसौटी पर खरे न उतरने के कारण देव और बिहारी की रचनाओ को अधिक उपेक्षणीय दृष्टि से देखा गया है, किन्तु सत्य तो यह है कि रीति युग के कलाकार आत्मस्वर के साधक नहीं थे। उनकी वाणी यौवन का ही शृंगार करती रही, उनकी दृष्टिकला कला के लिए ही संश्लिष्ट रही। इस तथ्य को ठीक से न ग्रहण करने के कारण एडविन ग्रीव्ज महोदय की बिहारी विषयक यह समीक्षा विचारणीय है : —"Had Bihari lal really something to say and manifisted possession of as much soul as he had brains, he might have become a great-poet."

× × × ×

The Bihari lal was remarkably clever manipulator of wards is freely allowed but he can nither be called a great-poet not can be said to have carried Hindi-literature forward or upward."[२]

निष्कर्षत ग्रीव्ज महोदय के बिहारी में मात्र बौद्धिक प्रगल्भता

साहित्य को प्रगतिशील बनाने का कोई प्रयास नहीं किया। वास्तव में ग्रीव्ज महोदय के इन कथनों मे सत्यांश होते हुए भी इतना तो स्पष्ट है कि उन्होंने बिहारी की सूक्ष्म कला विधायिनी प्रतिभा और सौन्दर्यानुभूति के मार्मिक स्वरूप का विश्लेषण यथोचित रूप से नही किया, यही नही पं० कृष्ण बिहारी मिश्र के अनुसार ग्रीव्ज महोदय ने देव और बिहारी के कवि होने मे भी संदेह व्यक्त किया है।[3] वस्तुतः हिन्दी आलोचना के इतिहास में देव और बिहारी विषयक विवाद की चर्चा एक ऐसी महत्व-पूर्ण कड़ी है, जिसने परवर्ती आलोचना के स्वरूप के संगठन में पर्याप्त योग दिया है। इस लेख का विषय देव और बिहारी विषयक विवाद को फिर से जीवित करना नही है वरन् देव और बिहारी विषयक विवाद की उपलब्धियो की विस्तारपूर्वक समीक्षा करना है। देव और बिहारी विषयक विवादैष्णा के इस मैदान में कई योद्धा एवं प्रभविष्णु आलोचक उतरे। बिहारी की अपने अमोघ वाग्बाणी से रक्षा करने वालो मे स लाला भगवानदीन एव पं० पद्मसिंह शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। बाद मे पंडित लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी भी इस क्षेत्र मे उत्तर आए और देव विषयक विवाद शृंखला को बढ़ाने वालों में मिश्र बन्धु महोदय एवं पंडित कृष्ण बिहारी मिश्र अग्रगण्य हैं। देव और बिहारी के इस विवाद से मूलतः कई मौलिक तथ्य प्रकाश में आए। इन तथ्यों एवं उपलब्धियो की चर्चा सुविधानुसार इस प्रकार की जा सकती है।

(१) प्रौढ एवं व्यवस्थित तुलनात्मक आलोचना का प्रवर्तन।

(२) पाठ और अर्थ विषयक भ्रांतियो का निराकरण।

(३) शब्दों की निरुक्ति विषयक छानबीन।

(४) भाषागत विकृतियो एवं व्याकरणीय स्वरूप की विवेचना।

(५) भाव-सौन्दर्य एवं कलागत सूक्ष्म तथ्यों का निरूपण।

काव्य स्वरूप के विश्लेषण में तुलनात्मक अनुशीलन का महत्व अस्वीकार नही किया जा सकता। वस्तु के स्वरूप का यथार्थ महत्व ज्ञान तो तभी है, जब असमानता एवं समानता की दृष्टि से पूर्णतया विवेचन किया जाय।[४] हिन्दी में इस पद्धति के प्रचलन के पूर्व इसका स्वरूप हिन्दी एवं संस्कृत की महत्वपूर्ण सूक्तियों में ही सिमटा रहा, यथा :

(क) सूर सूर तुलसी शशी, उडगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जँह तँह करत प्रकाश।।

(ख) दंडिनः पद्-लालित्यम् भारवै त्वर्थगौरवम्।
उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।

हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का अन्य रूप प्राचीन टीका-ग्रंथों में भी उपलब्ध होता है। श्रीपति ने अपने 'काव्य सरोज' में सेनापति और केशवदास आदि के काव्य की समीक्षा की है। प्रधानतः तुलनात्मक आलोचना का उत्कृष्ट रूप मिश्रबंधुओं के 'हिन्दी नवरत्न' में देखने को मिला। इसमें श्रेष्ठता के अनुसार हिन्दी के नव कवियों की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई और सबसे मुख्य बात यह थी कि इसमें तुलसी और सूर के पश्चात देव को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। देव और बिहारी विषयक विवाद की अविच्छिन्न धारा का सूत्रपात यहीं से होता है। इसके अनन्तर बिहारी पर लगाए गए आरोपों का समुचित उत्तर देने के लिए कमर कसकर इस युद्ध में कूदने वालों में थे पं० पद्म सिंह शर्मा। उन्होंने मिश्रबंधुओं के भद्दे और पक्षपात पूर्ण विचारों का प्रतिवाद बड़ी निष्ठा एवं गम्भीरता के साथ किया। उनकी बिहारी सतसई के भाष्य की भूमिका इसी विवाद को पुरस्सर करती है। यहीं से हिन्दी में प्रौढ़ एवं व्यवस्थित तुलनात्मक आलोचना का दर्शन हमें होता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें संस्कृत एवं प्राकृत काव्य की सुदीर्घ परम्परा का अनुसरण करते हुए बिहारी की काव्यगत विशेषताओं का बहुत मार्मिक एवं सहृदय संवेद्य रूप उद्घटित किया है। शर्मा जी की बिहारी विषयक गूढ़ एवं गम्भीर तथ्य-ग्राहिणी प्रतिभा का रूप 'सतसई' में कई स्थलों पर देखने को मिला है, यथा :

'बिहारी की कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी है, उतनी ही गहरी, गूढ़ और गम्भीर है। उसकी चमत्कृति और मनोहरता का प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि समय ने समाज की रुचि बदली, पर वर्तमान समय के सुरुचि सम्पन्न कविता प्रेमियों का अनुराग उस पर आज भी वैसा ही बना है। पहले पुराने ख्याल के खूसट उस पर लट्टू थे, आज नई रोशनी के परवाने भी वैसे ही सौजान से फिदा हैं।[५]"

शर्मा जी की आलोचना का दूसरा रूप इसकी शास्त्रीयता थी। उनकी शास्त्र-निष्ठा प्रतिभा ने संस्कृत काव्यशास्त्र की मान्य परम्परा को ग्रहण करते हुए बिहारी के दोहों का गूढ़ एवं गम्भीर विवेच प्रस्तुत किया। शास्त्रीयता के आलोक में उन्होंने बिहारी के कई अनुद्घाटित मौलिक उपादानों की चर्चा की। उन्होंने बिहारी की काव्यगत सौंदर्य दीप्ति और वचन का मूल्यांकन अमरशतक, गाथासप्तशती, आर्या सप्तशती, और विकट नितम्बा आदि के मुक्तक छंदों द्वारा किया।

शर्मा जी की तुलनात्मक समीक्षा के मूल में उनकी सहृदयता और आनन्द भाव की तन्मयता भी व्याप्त रहती है। उनके वाह उस्ताद क्या कहने हैं! कितना माधुर्य है!! आदि वाक्य उनकी प्रभाववादी समीक्षा के ही रूप को व्यक्त करते हैं। इस

प्रकार शर्मा जी ने अपनी तुलनात्मक आलोचना के क्रोड़ मे हिन्दी समीक्षा-सिद्धान्त के न जाने कितने रूपो को पल्लवित किया। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी समीक्षा शर्मा जी की पर्याप्त है। इस दिशा में उनकी यह उपलब्धि श्लाघ्य एवं शंसनीय है।

तुलनात्मक आलोचना के सामान्यत. तीन रूप मिलते हैं :

(१) किसी ग्रंथ की टीका अथवा व्याख्या करते समय अन्य कवियों के समान भाव वाले छंदो का उपयोग।

(२) किसी कवि की सागोपांङ्ग समीक्षा करते समय किन्ही-किन्ही प्रसंगो मे अन्य कवियों के छंदो से तुलना।

(३) दो कवियो की अनेक प्रसंगो मे विशद व्याख्या और विवेचना।

पं० कृष्ण बिहारी जी मिश्र की तुलनात्मक समीक्षा तीसरे रूप के अन्तर्गत आती है। मिश्र जी से पूर्व शर्मा जी ने इस रूप के सूत्रपात करने मे किसी भी प्रकार का योग नही दिया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक देव और बिहारी सजीवनी भाष्य-कार द्वारा मिश्रबन्धुओ पर लगाए गए आरोपो का जवाब देने के लिए लिखी थी। देव और बिहारी के अन्तर्गत मिश्र जी ने बडे सयम एवं गम्भीरता के साथ शर्मा जी के विचारों का खंडन किया है और देव और बिहारी विषयक अपनी धारणाओं का अच्छे शब्दो मे स्पष्टीकरण किया है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रतिष्ठित आलोचकों ने भी पं० कृष्ण बिहारी मिश्र की इस सयमित आलोचना की पूर्ण श्लाघा की है, और मिश्रबन्धुओ की अपेक्षा इन्हे आलोचना का सच्चा अधिकारी माना है[६]। मिश्र जी की तुलनात्मक आलोचना ने समीक्षा के गर्हित एव अभद्र स्वरूप को उभारने का प्राय: कोई प्रयास नही किया। इस दृष्टि से मिश्र जी की आलोचना के दो रूप अत्यन्त स्पष्ट हैं :

(१) आलोचना का अनाविल एव निष्पक्ष स्वरूप।

(२) विवेचना शक्ति और कवि सुलभ सहृदयता का समन्वय।

मिश्र जी ने देव और बिहारी के विवादास्पद स्थलों का निर्णय अपनी मान्य एवं तर्क सगत कसौटी के आधार पर किया है। उनकी आलोचना व्यंग और उपहास की प्रवृत्ति से बहुत कुछ बची है। उन्होने बडे निष्पक्ष भाव से बिहारी और देव के काव्यगुणो के सौंदर्य और काव्यगरिमा का विश्लेषण किया है। उनकी आलोचना के संतुलित रूप का एक नमूना लीजिए।

आकार एवं प्रकार में देव की कविता बिहारी के काव्य से अत्यधिक है, परन्तु लोकप्रियता में बिहारीलाल देव जी से कहीं अधिक यशस्वी हैं संस्कृत एव भाषा के

अन्य कवियों के भावों को दोनों ही कवियों ने अपनाया है। पर यह वृत्ति देव की अपेक्षा बिहारीलाल मे कदाचित अधिक है। दोनों ही कवियों का काव्य मधुर ब्रज भाषा में निबद्ध है[७]। अब मिश्र जी की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक शक्ति और उनकी सरस हृदयग्राहिता का नमूना लीजिए।

'चतुर माली जितनी सफाई से एक छोटे चमन को सजा सकता है उतनी सफाई से सम्र बाटिका को सजाने मे बडे परिश्रम की आवश्यकता है। छोटे चित्र को रंगते समय यदि दो चार कूंचियाँ भी चल गईं तो, चित्र चमचमा उठता है, परन्तु बडे चित्र को उसी प्रकार रंगना विशेष परिश्रम चाहता है।'

'देव बिहारी' के पश्चात लाला भगवानदीन ने मिश्रबन्धुओं के देव विषयक अनुचित पक्षपात और प० कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा देव और बिहारी विषयक उठाए गए विवाद का उत्तर देने के लिये 'बिहारी और देव' नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी। इसमे संदेह नही कि लाला जी की वस्तुनिष्ठ प्रतिभा ने देव की भाषा विषयक विकृतियों की पकड में अपूर्व एवं अद्वितीय सफलता प्राप्त की। लेकिन देव की सूक्ष्म कलात्मक अनुभूतियो एवं उनकी सरसता के वे अधिक प्रशंसक नही रहे। मिश्रबन्धुओ और पं० कृष्ण बिहारी मिश्र की आलोचना करते समय लाला जी मे संतुलित दृष्टि का प्रायः अभाव मिलता है। लाला जी की आलोचना का एक नमूना लीजिए :

'यहाँ चोषी जाति का अर्थ टिप्पणी में लिखा है तेज गाय, उचकने वाली, नही-नही महाराज यह अर्थ तो नही है। ठीक अर्थ चोषी जाती है। बछड़े से दूध पिलाये लेती है······सुरति गोपन्न की कार्रवाई है। प्रसंग स्पष्ट कह रहा है, पर मिश्र जी अपनी धुन मे मस्त हैं।[८]

देव और बिहारी विषयक दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि शुद्ध पाठ और अर्थ विषयक भ्रांतियो के निराकरण से सम्बन्धित है, यद्यपि इस युग का सम्पादन वैज्ञानिक पाठ शोधन की दृष्टि से अत्यधिक संतोषजनक है, लेकिन अपनी साहित्यक शोधन परिधि एवं इयत्ता के अन्तर्गत उनकी महत्ता आज भी अक्षुण्ण है। आज भी वैज्ञानिक पाठ शोधन प्रणाली के समर्थक साहित्यक सम्पादन की उपेक्षा करके अपने पाठ को सर्व प्रकरण सुग्राह्य और वैज्ञानिक रूप नही दे पाते। वस्तुतः देव और बिहारी के इस झगडे ने न.नावधि शुद्ध पाठो और अर्थ समस्या मूलक गुत्थियों को सुलझाने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है, अब उन विवादास्पद स्थलों पर विचार किया जायगा जिनकी चर्चा उस युग की एक मनोरंजक घटना थी। अब बिहारी सतसई के कुछ भ्रष्ट पाठो का अंश लीजिए :

(क) बिहारी बिहार और प्रभुदयाल पांडे की सतसई का एक पाठ देखें :

'इक कुडगत सी ह्वै चली दुकचित चली निहारि'

मिश्र बन्धुओं ने यही पाठ उत्तम माना और अर्थ भी इसी के आधार पर किया किन्तु इस पाठ के विरुद्ध लाला भगवानदीन जी ने एक उत्तम और अर्थ संगत पाठ स्वीकार किया। उनका पाठ यों है :

(ख) 'डेगकु डगति सी चलि उठकि चितई चली निहारि' उन्होंने 'डेगकु' के उचित अर्थ पर विचार करते हुए लिखा कि यहां 'एक डग' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार मिश्र बंधुओ ने हिन्दी नवरत्न में कुकत शब्द की विकृति के संबन्ध मे अपने विचार प्रगट किए। लाला जी ने इस पाठ की शुद्धता के सबन्ध में सन्देह व्यक्त किया और सही और दुरुस्त पाठ इस प्रकार किया 'नतरकु कत इन बिय लगत उपजत बिरह कृसानु' मिश्रबन्धु महोदयो ने 'नतरुक' शब्द को ठीक नही माना। उनके कथनानुसार 'नतरु' शब्द होना चाहिये। इसमें 'कु' प्रत्यय व्यर्थ है। वस्तुतः मिश्र बन्धुओं की यह जाँच ठीक प्रतीत होती है।

'छुदी' शब्द को मिश्रबन्धुओ मे एक देशीय एवं असाधारण माना जाता है, किन्तु लाला जी ने असाधारण एव मरोडा हुआ नही माना[९]। 'लाया' शब्द लगनि अर्थ में सदा अशुद्ध है। लाला जी ने ऊलि को अशुद्ध बतलाया और शुद्ध पाठ भूलि माना है, जिसका अर्थ भूलना होता है। उसे मिश्रबन्धुओं ने स्वीकार नही किया। मिश्रबन्धुओ ने लाला जी की प्रसिद्ध पुस्तक 'बिहारी बोधिनी' के कुछ शब्दो के पाठ और अर्थ के सम्बन्ध मे आपत्ति प्रकट की है। बिहारी बोधिनी के दोहा सख्या ३१ मे प्रयुक्त 'जोर' पाठ को मिश्र बन्धुओं ने अशुद्ध माना है। उनके अनुसार जोर (जुल्म) शब्द चाहिए। मिश्र बन्धुओं की यह पकड उचित प्रतीत होती है। क्योंकि नीचे की पंक्ति मे 'और' के तुक मे जोर अशुद्ध है। इसी प्रकार लाला जी के 'दौरि' अर्थ पर मिश्रबन्धुओ ने आपत्ति प्रगट की है। उनके अनुसार 'दौरि' दौड़ने के ही अर्थ मे है। उड़ने के लिए नही[१०]। लाला जी ने प्रभुदयाल पांडे के 'तैन' पाठ को अशुद्ध माना है और उसके स्थान पर 'एन' पाठ शुद्ध बतलाया है। इसी प्रकार मिश्र बन्धुओ के जेठे भाई पं० गणेश बिहारी मिश्र ने बहुत पहले देव के तीन ग्रंथों का सम्पादन 'देव ग्रंथावली' नाम से किया था। इसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया था। इसमें पं० गणेश बिहारी मिश्र की गलत एवं भ्रांत टिप्पणियो की छानबीन लाला जी ने पर्याप्त क्रम के साथ की है। इसकी कुछ चर्चा की जा रही है। प्रेम चंद्रिका[११] पर उद्धृत 'चख के चखक भरि चाखत ही जांहि' छन्द के 'चखक' का अर्थ मिश्र जी ने 'गखक' लिखा है। इसके शुद्ध अर्थ चषक (प्याला के

सम्बन्ध मे लाला जी ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। कही-कही मिश्र जी ने पाठ ही बदल दिया यथा, जंबूरस बुदजमुना जल तरग मे' की जगह 'जंबू नद बुद जमुना तरंग मे' पाठ कर दिया 'जबूरस'[१२] का अर्थ सोना लिखा। सस्कृत मे सोना अर्थ अवश्य है। लेकिन प्रसगानुसार यह अर्थ औचित्यपूर्ण नहीं है। आश्चर्य है कि लाला जी ने भी जंबूरस' जामुन का रस के माना। यहाँ जंबूरस जामुन का रस ही उचित है[१३]। यत्र-तत्र लाला जी की अर्थ विषयक सूचनाएँ बडे महत्व की है। एक स्थल पर उन्होने मिश्र बन्धुओ के 'सौरई' और रौरई की च र्चा करते हुए लिखा है कि 'सौरई' का अर्थ स्मरण और रौरई का बेचैन और रोमाञ्च कथमपि नही होता। उनके अनुसार सौरई 'श्यामला' अर्थ मे रौरई 'रौरियाने' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। 'रौरियाना' 'भिखमंगे' के हट अर्थ में आज भी बोला जाता है।[१४] आधुनिक एवं प्राचीन हिन्दी कोशों मे रौरई शब्द नही मिलता। लाला जी की ऐसी खोज सराहनीय है। कहीं-कहीं पर पाठो के कारण सारा अर्थ सौष्ठव लुप्त हो जाता है। और विकृत पाठो का यह दोष कवि की प्रतिभा के सिर पर मढ दिया जाता है। मिश्रबंधुओ ने देव के एक उत्तम छन्द मे पाठ दोष का ध्यान न देने का कारण दुः प्रबन्ध दूषण बतलाया है। लाला जी ने इस दोष का निराकरण करते हुए एक प्राचीन पाठ की समीचीनता पर पूर्णरूपेण विचार किया है। मिश्रबन्धुओं और लाला जी के पाठो की बानगी दी जा रही है :

मिश्र बन्धुओं का पाठ (क) बड़े बड़े नैननि ते आँसू भरि भरि ढरि,
गोरो गोरो मुख आज ओरो सो बिलात जात[१५]

लाला जी का पाठ (ख) बडी बडी आँखिन ते आँसू बडे ढरि ढरि
गोरे गोरे मुख परि ओरे बिलात जात[१६]

अब 'डांढी' शब्द लीजिये, इस शब्द का अर्थ मिश्रबन्धु महोदय दो रहा आग बतलाते, हैं लेकिन 'सिलाकारी जी' ने लाला जी के आधार पर उसे जली हुई अर्थ मे ग्रहण किया है[१७]। वास्तव मे जली हुई अर्थ मे सूर और तुलसी आदि कवियो ने भी इसे प्रयुक्त किया है। अतः यही अर्थ उत्तम है।

इस विवाद ने कई शब्दों की निरुक्ति एवं उनके भिन्न-भिन्न प्रयोगों के औचित्य पर विचार करने की भी प्रेरणा दी। बहुत से लुप्त हो जाने वाले शब्दों की नये सिरे से छानबीन की गई। अतः निरुक्ति विषयक उपलब्धि उस युग की एक अति महत्वपूर्ण देन है। मध्ययुगीन काव्य के ये मनस्वी बहुत कुछ कोशकारों के भी दायित्व एवं अध्यवसाय को समेटे हुए अपनी साधना में सतत प्रयत्नशील रहे। अब

देव के कुछ ऐसे शब्दो की सूची दी जा रही है जिसे लाला जी ने देव के विकृत शब्दो की चर्चा करते हुए बहुत पहले पेश की थी।

टिकसरो	टेक, आश्रय
दख	दर्प
दुभीख	दुभिक्ष
मगछी	मगाक्षी
भभीख	भविष्य
ज्वारी	ज्वानी
कौल	कमल
उदेत	उदोत[18]

'गौहरे' शब्द की चर्चा सबसे पहले लोकनाथ द्विवेदी ने की[19]। गौहरे यथार्थ में वृजभाषा का ठेठ शब्द है। अब भी गोशाला अर्थ में बोला जाता है। 'पनिहा' शब्द का प्रयोग बिहारी सतसई के अलावा हरीराम व्यास की रचनाओ में भी मिलता है। मिश्रबन्धुओ ने इसे बुदेल खंडी शब्द बतलाया है[20] लेकिन सिलाकारी जी ने इसे सस्कृत 'प्रणिधा' का अपभ्रंश माना है[21] जो औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है इसका 'अर्थ' गुप्तचर बतलाया गया है। 'संक्षिप्त शब्द सागर' मे पनहा शब्द मिला है। इसे कोशकार महोदय संस्कृत 'पण' का विकृत रूप बतलाते है और अर्थ चोरी का पता लगाने वाला दिया है। इसी प्रकार कई शब्दो की निरुक्ति विषयक वास्तविक सूचनाएँ आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने मिश्रबन्धुओं की भ्रातियो का निराकरण करने के सिलसिले मे दी थी[22] यथा समरन सं० स्मर,सक्राति सं० संक्रमण (अपभ्रंश संक्रोन), सोन जाई सं० स्वर्ण जाति अथवा स्वर्णयूथिका, सस्कृत मे वारि और 'बार' दोनो है। 'बार्द' का अर्थ भी बादल होता है।[23] लाला भगवानदीन ने 'बाथ' की उत्पत्ति पर विचार करते हुए लिखा है कि यह शब्द राजपूताने में बोला जाता है। इसका अर्थ अकवार (सं० एक माल) है। सक्षिप्त शब्द सागर में इसका अर्थ तो दिया गया है।[24] लेकिन उत्पत्ति की जगह केवल संदेहात्मक चिह्न लगाकर छोड़ दिया गया है। 'तेव्यो' स० 'तुष्ट' का विकृत रूप है। और वोद शब्द की चर्चा करते हुए लाला जी लिखते है यह 'विद' धातु से बना है।[25] और अब तक राजपूताना मे बोला जाता है। उलाहित[26] शीघ्रता के अर्थ में अब भी बुदेलखंड में बोला जाता है। 'चुटकि' शब्द से परिचत रहने के कारण पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने इसकी बडी दुर्दशा की है।[27] सूर काव्य के एक मान्य विद्वान ने भी 'चुटकि' की बड़ी भ्रामक टिप्पणी जड़ी है[28] वास्तव मे यह हिन्दी का शब्द है। और कोडा मारने के अर्थ में

अब भी इस्तेमाल होता है। 'लोमन' 'लोचन' के अलावा सं० लावण्य के अर्थ मे देव और बिहारी दोनो की रचनाओ मे मिला है। आधु सं० 'अर्थ' का रूप है। और महार्ध का मंहगा विकृत रूप आज भी बोला जाता है।[२९]

देव और बिहारी की भापा विषयक दो विरोधी धारणाएँ हैं। (१) आचार्य पं० राम प्रसाद शुक्ल और लाला भगवानदीन की (२) मिश्र बन्धु और पंडित कृष्ण बिहारी मिश्र की।

आचार्य शुक्ल और लाला जी ने बिहारी की भाषा देव की तुलना मे अधिक आदर्श और व्याकरण सम्मत माना है। और इधर मिश्रबन्धुओ और पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने देव की भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि भाषा साहित्य मे देव और मतिराम इन दो कवियो की भाषा सर्वोत्कृष्ट है।[३०] इसमे संदेह नही की भापा विकृति देव और बिहारी दोनों की रचनाओ मे मिलती है। लेकिन नाद सौन्दर्य अनुप्रास और यमक प्रियता के कारण देव को बिहारी की तुलना में भापा के प्रसाद गुण को प्राय: खो देना पडा है। भूषण और देव को शुक्ल जी ने भाषा को तोडने मरोडने के सम्बन्ध मे दोपी ठहराया है। यह कथन जितना सत्य है उतना यह भी सत्य है कि भापागत मादक संगीत की जैसी अटूट धारा हमे देव मे मिलती है वह बिहारी मे सम्भव नही। देव और बिहारी के अन्यान्य गुणो के विवाद के साथ ही उनकी भापागत विकृति और व्याकरणीय अपरूप के विवेचन मे कम छान-बीन नही हुई। लाला जी तो देव की भापा के पीछे हाथ धोकर पड़े रहे। उनकी भापा-विकृति विपयक पकड अचूक है। उन्होने देव की भाषा को व्याकरण के प्रत्येक अंग की दृष्टि से कसने का प्रयास किया है। इधर डा० नगेन्द्र ने और विस्तार पूर्वक देव की भाषा की सुन्दर विवेचना की है। देव की भापा विपयक जांच कई दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। क्या क्रियावाद, क्या वाच्य, क्या लिंग, क्या वचन क्या सभी दृष्टियो से उनकी भापा का विश्लेषण किया जाता है। बिहारी की भाषा का विवेचन भी प्राय: इसी भाँति हुआ है। पहले मिश्रबन्धुओ द्वारा लगाए गए बिहारी के भापा विपयक आक्षेपों पर विचार करना आवश्यक है :

१—संज्ञा रूप : मिश्रबन्धुओ के अनुसार बिहारी ने केला को तै केलि कर दिया जो कि सर्वदा विकृत प्रयोग है। इसे लाला जी ने भी कियदश मे स्वीकार किया है। इसी प्रकार पांव के लिए पानु भी उत्तम शब्द नहीं है। बिहारी के दूसरे आलोचको ने भी बिहारी के भाषा स्वरूप का सम्यक विचार किया है। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'बिहारी की वाग्विभूति, एवं बिहारी नामक ग्रंथ मे उनकी भाषा पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है

२—क्रियापद : बिहारी ने यत्र-तत्र 'कीन दीन' जैसी अवधी क्रियाओ का भी प्रयोग किया है जो आदर्श भाषा के लिए अनपुयुक्त है। 'देखि' कुछ बुन्देल खण्डी भविष्यत् क्रियाओ का प्रयोग भी चिन्त्य है। माननीय डा० श्यामसुन्दर दास ने भी इसे उत्तम नही माना है। अब देव की भाषा विषयक विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

१—क्रिया रूप : देव ने क्रियाओ का प्राय. मनमाना प्रयोग किया है। देव के तुकाग्रह और अनुप्रास प्रियता ने क्रियाओ के आदर्श रूप के संवारने में किसी प्रकार का योग नहीं दिया। लाला भगवानदीन ने उनकी क्रियाओं के मनमाने प्रयोग की बड़ी कडी आलोचना की है।

लाला जी के अनुसार देव ने पोषरण करने के लिए पुरवोत क्रिया का प्रयोग किया है। इसके उत्तर में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने केशव को प्रस्तुत किया है। मिश्र जी के अनुसार केशव ने शोभा पाने के लिये 'शोभजति' क्रिया का प्रयोग किया है। यही नही चित्र खींचने के लिए चित्र का प्रयोग किया है।[३१] इसी भाति क्रियाओ के लिंग के सम्बन्ध मे भी पर्याप्त गडबडी हुई है। यथा 'खेंचि खरी दई दौरि सखी के उरोजन बीच सरोज फिराय कै'[३२] इसमें लाला जी ने 'दई' क्रिया समर्थक मानी है। लेकिन कर्म के लुप्त होने के कारण यह अच्छा प्रसंग नही कहा जा सकता। 'देव केलिकानन में कहकहा कोकिल की' में लाला जी ने कहकहा[३३] को पुलिंग माना है। लेकिन देव के अनुसार यह स्त्रीलिंग है। क्योकि षष्टी विभक्ति स्त्रीलिंग सूचक है। ऐसा अनुमान है कि कहकहा 'कोकली' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लाला जी ने देव की लहरिया, पहरिया, और छहरिया आदि क्रियाओं का विकृत रूप माना है। प० कृष्णबिहारी मिश्र ने इसे उत्तम मानते हुए इसकी अच्छी वकालत की है और सूर के पदों में भी ऐसे प्रयोगो का संकेत किया है। 'बिज्जु छटा छराय[३४] उठ्यो' को लाला जी ने व्याकरण से गलत माना है। लाला जी का यह कथन सर्वथा सत्य है, क्योंकि बिज्जु कर्ता स्त्रीलिंग मे है अत· यहाँ छहराय उठी क्रिया होनी चाहिए। वास्तव मे क्रियाओं के प्रयोग में देव ने यत्र-तत्र बडी अनियमितता का व्यवहार किया है। उन्होने भविष्यत् काल की क्रियाओ के लिए बितै होगी जैसे प्रयोग कितै हो के अनुप्रास के लिए कर डाला, इसी प्रकार एक स्थल पर मिश्र बन्धुओं ने बिहारी के 'मरिबोभयो असीस' में मरिबो क्रिया के रूप में माना है[३५] किन्तु पं० पद्मसिंह शर्मा ने इसका अर्थ मरना आशीर्वाद के समान माना है। मिश्रबन्धुओ ने बिहारी की क्रिया 'खटकति' को सदोष माना है। उनके अनुसार यह बहुवचन में होनी चाहिये। इसके प्रतिवाद में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'खटकति' दोनों लिंगों मे बहुवचन मानी गई है।[३६]

वाक्य विषयक गड़बड़ी : देव की भाषा में वाक्य से सम्बन्धित बड़ी भूलें हुई हैं। लेकिन यत्र-तत्र भूलों की बलात् उद्भावना भी की गई है। देव की इस पंक्ति मे 'काके कहे लूटत सुने हो दधि दान' मे कर्मवाच्य की क्रिया का ध्यान न देने के कारण वाक्य अजीब सा मालूम होता है। डा० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि इसका खींचतान कर अन्वय होगा 'काके कहे दधि दान लूटत' 'मैं सुने हो'[३७] लेकिन इसका अन्वय इस प्रकार यदि हो (काके कहे दधि दान में लूटत सुने हो) किसके कहने से दान (टैक्स) के रूप मे दधि लूटते हुए सुने गये हो तो अधिक उत्तम होगा और ऐसे वाक्य पदो के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार की शिकायत की गुन्जाइश नही होगी।

विशेषणों का भद्दा प्रयोग देव की रचनाओ मे लाल जी ने कुछ भद्दे विशेषणो के प्रयोग की भी चर्चा की है, यथा 'धीमों तेज' के स्थान पर झीनो तेज मिलता है।[३८] देव मे विशेषणो के प्रयोग कही-कही क्रिया का भी भ्रम पैदा कर देते हैं इसी लिए हिन्दी के मान्य आलोचक डा० नगेन्द्र को भी देव की इस पंक्ति मे वचन विषयक भूल मालूम हुई हैं। 'पायन को चित चायन को बल लीलत लोग अथाय नि बैठ्यो'[३९] शब्द विचारणीय है। यहाँ इसका अर्थ यो होगा अथायनि (बैठको) में बैठे हुए लोग लीलत 'वर्तमान काल की क्रिया के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। डा० नगेन्द्र ने 'बैठ्यो' शब्द क्रिया माना है। इसी से वचन विषयक दोष स्पष्ट लक्षित होता है।

मुहावरे भाषा की जान माने गए हैं। देव और बिहारी की भाषा में मुहावरो की अच्छी छानबीन की गई है। बिहारी के मुहावरों की प्रशंसा उनके आलोचको ने हृदय से की है। इधर देव की भाषा विषयक भूलो की चर्चा करते हुए लाला भगवानदीन ने उनके बद मुहावरो की भी चर्चा की है उनके अनुसार देव ने मुहावरों की मिट्टी पलीद की है। इसमें सन्देह नहीं कि देव ने मुहावरो का उत्तम प्रयोग नहीं किया। लेकिन लाला जी ने देव के जिस छन्द में मुहावरे के सदोष प्रयोग की बात चलाई है वह फिर भी विचारणीय है। छन्द यों है :

'लाजनि हो लरजों गहिरी बरजों,
गहिरी कहिरी केहि दायन।[४०]

लाला जी के अनुसार इसमें दो मुहावरे हैं। गहिरी लरजन और गहिरी बरजन। अतः बहुत काँपना और बहुत बरजना के अर्थ मे ये बद मुहावरे हैं, किन्तु प्रतीत यह होता है कि उसमे एक ही मुहावरा है, वह है गहिरी लरजन और दूसरे 'गहिरी' को पूर्व कालिक क्रिया मानना अच्छा होगा। यहाँ विशेषण नही होगा, जैसा

लाल जी ने माना है। पूरे वाक्य का अर्थ यों होगा (अरी बतला, किस ढङ्ग से उन्हे (नायक को), पकड कर मना करूं, क्योंकि मैं लज्जा से अत्यन्त काँप रही हूँ।

यद्यपि देव और बिहारी को लेकर काफी मोर्चेबन्दी हुई, लेकिन उनकी कलात्मक और भावात्मक अनुभूतियों की गहरी पैठ की क्षमता रखने वाले इन आलोचकों की सराहना आज भी होती है। एक युग था जब, लाला भगवानदीन बिहारी की कलात्मक विधा की जो खोलकर तारीफ करते थे और बहुविध कलात्मक सौष्ठव को उद्घाटित करने वाले अवयवों का सुन्दर परिचय रसिक समाज को देते थे। लाला जी और उनकी सजग शिष्य मडली रीति काव्य को ऐसा पारखी थी कि भाव एवं कला दोनो दृष्टियों मे चट निरूपित कर लेती थी कि कहा कितना और किस प्रकार का दोष है। यथा, लालाजी की रुग्णावस्था मे देव के एक प्रसिद्ध सवैये को लेकर काव्य चर्चा हो रही थी। लाला जी इसके भाव सौन्दर्य पर जितने लट्टू हो रहे थे उतने ही अन्तिम पंक्ति के पतर प्रेकर्षपे पर नाराज, वह सवैया या हैं :

'माखन सो मन दूध सो जोबन है दधि तौ अधिकै उर ईठी।
जा छबिआ मे छपाकर छाछ समेत सुधाव सुधा सब सीठी।
नैनन नेह चुनो कबि देव बुझावत बैन वियोग अंगीठी।
ऐसी अनोखी अहीरि अहै कहौ क्यो न लगै मनमोहन मीठी।'

इसकी बारीकियो पर ध्यान जाने पर काशी के आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ने 'मनमोहन' शब्द को अनावश्यक बताया और प्रसंग के सर्वथा विरुद्ध। उनके अनुसार सभी उपमान गोरस से सम्बद्ध हैं अतः 'क्यो न लगै या गुपालहि मीठी' कह देने से पता प्रकर्ष कोष का परिहार हो जाता है।[४१] यह वही सवैया है जिसे पढ़ते पढ़ते पं० कृष्ण बिहारी मिश्र तन्मय हो जाते थे और जिसके भाव और कलागत सूक्ष्म सौन्दर्य के निरूपण में उन्होने काफी निष्ठा व्यक्त की है। उक्त सवैया की मिश्र जी ने जो विशेषता 'देव और बिहारी'[४२] मे बतलायी है वह इस प्रकार है।

(क) गौणी सारोपा लक्षण
(ख) व्यंजक पात्र
(ग) शृंगाररस (प्रकाश शृंगार)
(घ) विभास हाव
(ङ) जाति दृष्टि से चित्रिणी नायिका
(च) समेत सुधा बसुधा सब सीठी में उपादान लक्षण।
(छ) माधुर्य, समाधि और अव्यक्त गुण प्रधान है।
(ज) वृत्ति कौशिकी है।
(झ) वृत्यानुप्रास, काव्यलिंग, प्रतीप, व्यतिरेक, एक देशीय लुप्तोपमा।

इस छन्द में कला एवं भाव दोनों तत्व आ गए हैं। इसी प्रकार मिश्रबन्धुओं ने बिहारी की कला एवं भावानुभूति की बड़ी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। मिश्र बन्धु विनोद प्रथम भाग की भूमिका में उद्धृत बिहारी के एक दोहे की विशद व्याख्या का संक्षिप्त नमूना दिया जा रहा है। जिस छन्द की व्याख्या की गई है वह इस प्रकार है।

अरी खरी सटपट परी विधु आगे मग हेरि,
संग लगे मधुपन लई, भागन गली अंधेरि।

(क) परकीया कृष्णाभिसारिका।
(ख) सटपट मे वृत्यानुप्रास।
(ग) सभधि, पूर्वालंकार, व्याघात, तृतीय विभावना और अवज्ञा।
(घ) भौरो के साथ होने से पद्मिनी नायिका है।
(ङ) ओज, कांति, अर्थव्यक्त गुण।
(च) वाचक चमत्कार होते हुए भी व्यंग्य।
(छ) आरभटी वृत्ति।
(ज) भ्रमर और अंधकार उद्दीपन।

चमत्कार के साथ ही साथ कृष्णबिहारी मिश्र ने देव की गम्भीर भाव व्यंजना की श्लाघा अधिक की है। भाव सौन्दय के ही कारण केशव की तुलना में मिश्र जी ने देव के इस छन्द को अत्युत्तम माना है :

[४४]देवजुआजु मिलाप की औधि, सुबीतत देखि विसेखि बिसूरी
हाथ उठायों उड़ायबे को उड़ि काग गरे परी पारिक पूरी।

बहुत समय की बात है जब माधुरी के किसी अंक में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने देव के प्रसिद्ध छन्द राजपौरिया को रूप राधे को बनाम लार्ड के एक-एक शब्द की पच्चीकारी और भाव व्यंजना के विश्लेषण के निमित्त कई पृष्ठों का उपयोग किया था। कहने का तात्पर्य यह है कि बिहारी और देव के सम्बन्ध में लाख तू तू मैं-मैं होने के बावजूद भी इन कलाकारो के छन्द गत वर्णन मे भी, शब्द में भी एवं भाव सौन्दर्य नीति से युक्त गुणो की मंजूषा खोलनी ही पड़ती थी।

संदर्भ संकेत

(१) द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान, भूमिका, भाग पृ० २० प्र० सं० सन् १८८६।

(२) A sketch of Hindi literature Page 68 69 । (३) देव और बिहारी, भूमिका, भाग पचम सस्करण । (४) हिन्दी आलोचना . उद्भव और समीक्षा, डा० भगीरथ मिश्र, पृ० २३७ । (५) बिहारी सतसई, पं० पद्मसिंह शर्मा पृ० १० । (६) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५३१ । (७) देव और बिहारी, पं० कृष्ण बिहारी मिश्र । (८) बिहारी और देव, लाला भगवानदीन, पृ० ५७ । (९) बिहारी और देव लाला जी, पृ० १२ । (१०) बिहारी बोधिनी, लाला भगवानदीन, दो० सं० ७५ । (११) बि० और दे०, लाला जी, पृ० १६ । (१२) जंबूनद सोने के अर्थ में आप्टे कोश पृ० २२० । (१३) बि० और देव, लाला पृ० ५३ । (१४) वही पृ० ५४ । (१५) मिश्र बंधु विनोद, प्र० भाग, पृ० ३२ । (१६) बि० और देव, ला० पृ० ६० । (१७) बिहारी दर्शन, लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी पृ० ७७ । (१८) बि० और देव पृ० १८ । (१९) बिहारी दर्शन, सिलाकारी । (२०) हिन्दी नवरत्न, मिश्र बंधु पृ०, २२८, द्वि० सं० । (२१) बिहारी दर्शन, सिलाकारी पृ० ८७ । (२२) संक्षिप्त शब्द सागर, पृ० ६७८ । (२३) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २५० । (२४) सं० श० सा०, बि० पृ० ८०८ । (२५) बि० दे०, पृ० १४ । (२६) वही पृ० ५४ । (२७) बि० स०, पं० पद्म सिंह शर्मा, पृ० २७३ । (२८) सूर सुषमा पृ० ६० । (२९) बि० दे०, ला० पृ० ८ । (३०) हि० नवरत्न, मिश्र बंधु, पृ० २९२ (३१) देव और बिहारी, पं० कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० (३२) सुजान विनोद पृ० ५६ । (३३) बिहारी और देव, लाला जी पृ० ४६ । (३४) वही पृ० ४६ (३५) हिन्दी नवरत्न मिश्र बन्धु पृ० ३६ । (३६) हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल पृ० । (३७) रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता पृ० २१८ । (३८) बिहारी और देव, लाला जी पृ०, ४५ । (३९) सुखसागर तरंग, सं० बाल दत्त मिश्र प्र० सं० पृ० १२९ । (४०) बिहारी और देव, लाला । जी पृ० ४८ । (४१) बिहारी, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ५४ । (४२) विस्तार के लिए देखें देव और बिहारी, पृ० १५६, १५७ । (४३) और विस्तार के लिए देखिये मिश्र बन्धु विनोद, प्रथम भाग पं० संस्करण, पृ० २६ । (४४) देव और बिहारी, पृ० ४१ ।

बिहारी सतसई और संस्कृत प्राकृत काव्य

● जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

संस्कृत के अच्छे-अच्छे काव्यों में बिहारी का पूर्ण प्रवेश होना, उनके अनेक संस्कृत के कठिन ग्रन्थों के श्लोकों को दोहों में बहुत सफलतापूर्वक उद्धृत करने से प्रमाणित होता है। इन दोहों से केवल बिहारी का संस्कृत पाण्डित्य ही नहीं, प्रत्युत उनकी काव्य-प्रतिभा का वैलक्षण्य तथा उत्कर्ष भी लक्षित होता है। जिन भावों को उन्होंने लिखा है, उनको वैसा ही नहीं रहने दिया है, प्रत्युत उनमें कुछ न कुछ विशेष रंग-ढंग तथा काव्य-चमत्कार से नया प्राण फूंक दिया है। इस बात के कतिपय उदाहरण लिखे जाते हैं :

बिहारी के पहले तथा २३८ वें[1] दोहों से प्रतीत होता है, कि उनके हृदय में, उनके बनाते समय माघ के :

प्रफुल्लतापिच्छ निभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांशुपांडुभिः।
परस्परेणच्छुरितामलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतु ॥

इस श्लोक का भाव घूम रहा था, जिसको उन्होंने, अपनी प्रतिभा से एक नया रंग देकर, उक्त दोहों में सुसज्जित कर दिया। इतना ही नहीं, प्रत्युत श्लोक की उक्ति को एक नए तथा परम चमत्कृत भाव से विभूषित कर दिया। माघ ने श्री कृष्णचन्द्र जी तथा श्री नारद जी के श्याम तथा गौर वर्णों की आभाओं को, एक का दूसरे पर, चढ़ने के कारण दोनों के शरीरों का एक रंग, अर्थात् हरित, हो जाना मात्र कहा है, पर दोनों के एक वर्ण हो जाने से कोई विशेष ध्वनि उक्त श्लोक से नहीं निकलती। बिहारी ने भी प्रथम दोहे में श्री राधिका जी की पीत आभा से श्री कृष्ण चन्द्र जी का हरित हो जाना कहा। पर दोहे में हरित शब्द ने, एक नया प्राण पिरो कर उसके भाव को श्लोक के भाव से कहीं अधिक चमत्कृत कर दिया है। 'हरित' शब्द से जो हरे भरे, अर्थात् प्रसन्न, हो जाने का व्यंग्यार्थ दोहे में झलकता है, वह बिहारी की निज प्रतिभा का प्रतिबिम्ब है। इसके अतिरिक्त, 'हरित' शब्द से जो हृत अर्थ ने भी दोहे के चमत्कार को चौगुना कर दिया। इसी प्रकार २३८ वें[2] दोहे में श्री कृष्णचन्द्र तथा श्री राधिका जी के, परस्पर आभा से, एक वर्ण हो

जाने के वर्णन के साथ उनके एकत्र रहने तथा एक वय एवं एक मन के कथन ने दोहे के भाव को बहुत अधिक उच्च कर दिया है।

श्री गोवर्धनाचार्य जी की 'आर्या सप्तशती' की कई एक आर्याओं के भी भाव बिहारी के दोहों मे दिखाई देते हैं। उन भावों में भी बिहारी ने अपनी प्रतिभा का चटकीला रंग चढ़ा दिया है। उदाहरणार्थ दो दो आर्याओं तथा दोहों के भावो का कथन नीचे किया जाता है।

स्वारथु, सुकृतु न श्रमु वृथा, देखि, विहंग, विचारि।
बाज, पराएँ पानि परि, तू पच्छीनु न मारि॥

इस दोहे में :

आयासः परहिंसा वैतंसिकसारमेय तव सारः।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एषोऽधुनैवान्यैः॥

इस आर्या का भाव दिखाई दे रहा है, पर 'कुते' के स्थान पर विहंग कहकर बिहारी ने अपने दोहे का चमत्कार बढा दिया है, क्योंकि यद्यपि 'सारमेय' शब्द भी साभिप्राय है, और कुते की कुलीनता व्यंजित करता है, तथापि उसकी गति तथा पहुँच परिमित भू मंडल ही तक है, और विहंग (बिहायसा गच्छतीति बिहंग :) की स्वच्छंद गति अपरिमित आकाश तक है, एवं विहंग की दृष्टि भी बडी दूरदर्शिनी होती है। इस दूरदर्शिता के साथ 'देखि' शब्द का प्रयोग बड़ा ही समुचित हुआ है। इन बातों के अतिरिक्त पराए तथा पच्छी (पक्षी) शब्दों ने दोहे के भाव को बहुत ही उत्कृष्ट कर दिया है।

मोर चन्द्रिका स्याम-सिर चढ़ि कत करति गुमानु।
लखिबी पाइनु पर लुठति, सुनियतु राधा मानु॥

इस दोहे मे श्री गोवर्धनाचार्य जी की :

मधुमथनमौलिमाले सखि तुलयसि तुलसि किमुध राधाम्।
यत्तव पदमदसीयं सुरभयितुं सौरभोद्भेदं॥[४]
शंकरशिरसि निवेशितपदेति मा गर्वमुद्वहेन्दुकले।
फलमेतस्य भविष्यति तव चण्डीचरणरेणुमृजा॥[५]

इन दोनों आर्याओं के भाव बिहारी ने आकर्षित कर लिए हैं, पर सिर चढि तथा पाइन पर लुठति 'लोकोक्तियों ने दोहे में जो चमत्कार उत्पन्न कर दिया है, वह आर्याओं से बिहारी के बाटे की बात है।

'अमरूकशतक' के भी कई एक पद्यों का भाव बिहारी ने बड़ी सफलता से ग्रहण किया है। उनमें से निदर्शनार्थ एक दोहा लिखा जाता है :

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुहुँ चूम्यौ ढिग जाइ।
हंस्यौ, खिसानी, गलु गह्यौ, रही गरें लपटाइ॥

बिहारी ने इस दोहे मे 'अमरूकशतक' के :

शून्यं वासगृह विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै,
निद्राव्याजमपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्यपत्युर्मुख।
विस्त्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुंबिता॥

इस श्लोक का भाव पूर्णतया झलक रहा है। इन दोनो पद्यो के भावों का एक हो जाना 'काकतालीय न्याय' किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। पर बिहारी ने अपने दोहे मे अभीष्ट भाव के उपयुक्त आवश्यक बातें मात्र रक्खी हैं, और श्लोक के प्रथम चरण का भाव एवं अन्य कतिपय शब्द सर्वथा छोड़ दिए हैं, जिससे दोहे मे लाघव तथा सुघराई, श्लोक की अपेक्षा अधिक आ गई है। 'मिसहा' के शब्द ने तो दोहे मे बडा ही चमत्कार तथा जीवन का संचार कर दिया है।

बिहारी का :

प्रगट भए द्विजराजकुल सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब केसव केसवराइ॥

यह दोहा भी जान पडता है कि श्री गोवर्धनाचार्य जी की :

यंलिगणयंति गुरोरनु यस्यास्ते धर्म कर्म संकुचितम्।
कविमहमुशनसमिव तं तातं नीलाबरं बंदे॥[१]

इस आर्या के अनुकरण पर बनाया गया है। उधर श्री गोवर्धनाचार्य जी ने आर्या में अपने पिता की वन्दना की है और इधर बिहारी ने अपने पिता से क्लेश निवारण की प्रार्थना। रूपकालंकार की प्रधानता दोनों ही छन्दों में है। गोवर्धनाचार्य जी ने, अपने पिता के नाम (नीलांबर) मे अम्बर (आकाश) शब्द पाकर, उनकी तुलना शुक्र से की है, और बिहारी ने अपने पिता का नाम केशव होने के कारण उनकी तुलना केशव भगवान से।

एक बात यहाँ ध्यान देने की है कि श्री गोवर्धनाचार्य जी ने अपने पिता की तुलना जो शुक्राचार्य से की है, उससे उनके पिता का एक महान् कवि होना प्रतीत होता है। पर बिहारी ने जो अपने पिता की तुलना केशव भगवान से की है, उससे उनका कोई बड़े कवि अथवा सिद्ध महात्मा होना व्यंजित होता है।

संस्कृत कोष तथा साहित्य के अतिरिक्त, बिहारी के कितने ही दोहों से उनका ज्योतिष तथा वैद्यक शास्त्रों मे भी प्रवेश प्रतीत होता है। ज्योतिष के सम्बन्ध में उनके ४२, १०५, ६६०, ७०७ अंकों के दोहे द्रष्टव्य हैं, और वैद्यक के सम्बन्ध में १२०, ४७२ अंको के दोहे।

संस्कृत के यथेष्ट विषयो मे पंडित होने के अतिरिक्त बिहारी के कितने ही दोहों से प्रतीत होता है कि, वे प्राकृत तथा अपभ्रंश के व्याकरणों तथा काव्यो के भी अच्छे ज्ञाता थे। उक्त भाषाओं के व्याकरणों का ज्ञान, गैन (गगन, गअन, गयन, गैन) केस (कदंब, कदम, कअम, कयम, कइम, केम) नै (नदी, नई, नइ, नै), निय (निज, निअ, निय) इत्यादि शब्दों के प्रयोग से लक्षित होता है, क्योकि ये रूप साहित्यिक व्रजभाषा में सामान्यतः देखने में नहीं आते, पर प्राकृत तथा अपभ्रंश के व्याकरणों से सिद्ध होते हैं तथा ये अथवा इनके कोई पूर्व रूप उक्त भाषाओं में बरते भी जाते हैं। बिहारी का प्राकृत काव्यों का ज्ञान, उनके 'गाथा सप्तशती' की जितनी ही गाथाओ के भावो को, अपनी प्रतिभा का विशेष चमत्कार देकर, दोहों में निबद्ध करने से सिद्ध होता है। निदर्शनार्थ समान भाव के दो-दो दोहे तथा गाथाएँ यहा दी जाती है :

तीज परब सौतिनु सजे भूषन बसन शरीर।
सबै मरगजे मुंह करी इही मरगजैं चीर॥

यह दोहा :

हल्लफलएहाणपसाहिआणं छणवासरे सवत्तीणम्।
अज्जाएँ मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गम्॥[७]
(उत्साहतरलत्वप्रसाधितानां क्षणवासरे सपत्नीनाम।
आर्या मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम॥)

इस गाथा को देख कर अवश्य बनाया गया, पर बिहारी ने दोहे में 'मरगजे मुहं करो' कह कर उसको गाथा से अत्यन्त उत्कृष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त जिस सुन्दरता से अनेक अलंकार इस दोहे को चमत्कृति प्रदान कर रहे हैं, वह शोभा गाथा में नही दिखाई देती।

बाम बाँह फरकति, मिलैं जौ हरि जीवनमूरि।
तौ तोहीं सौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि॥

इस दोहे का भाव, गाथा सप्तशती की :

फुरिए बामच्छि तुए जइएहिइ सो पिओज्जता सुइरम्।
समीलिअ दहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सम्॥

(स्फुरिते वामक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियो द्य सत्सुचिरम् ।
संमील्य दक्षिणां त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये—)

इस गाथा से लिया हुआ ज्ञात होता है। गाथा की उक्ति में वस्तुत: बड़ा अनूठापन है। पर प्रियतम के आगमन के समय एक आंख बन्द करके उसको देखना कुछ अस्वाभाविक तथा अनुचित सा भी अवश्य है। अतः गाथा का भाव तो बिहारी ने लिया, पर बाईं आँख के स्थान पर बाईं बाहु का फड़कना कहकर, और उसी को पुरस्कृत करने की प्रतिज्ञा कराकर, अपने दोहे को उक्त अस्वाभाविकता तथा अनौचित्य से बचा लिया, क्योंकि यदि बाईं बाँह से भेटने में भी कुछ अनौचित्य हो तो भी, मिलनोत्सुकता में इस बात पर ध्यान जाना कठिन है, कि नायिका ने पहले किस बाँह से भेटा।

बिहारी ने ७०० दोहे बनाकर अपने ग्रन्थ का नाम सतसई रक्खा, उससे भी उनका गाथा तथा आर्या-सप्तशतियों का पढ़ना तथा उन्हीं की जोड़ पर अपनी सतसई बनाना, अनुमानित होता है।

बिहारी के और भी अनेक दोहों के समानार्थक श्लोक इत्यादि, आर्यासप्तशती, अमरुकशतक, गाथासप्तशती इत्यादि से उद्धृत करके, विद्वद्वर साहित्याचार्य श्री पद्मसिंह जी शर्मा ने, अपने 'संजीवन भाष्य' में बड़ी योग्यतापूर्वक तुलनात्मक समालोचना की है। पाठक महाशयों को यह विशेषतः उक्त ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

संदर्भ-संकेत

१—मेरी भौ बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जातन की झाँई परे स्याम हरित दुति होइ।।

नित प्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक।
चहियत जुगल किसोर लखि लोचन जुगल अनेक।

२—नित प्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक।
चहियत जुगल किसोर लखि लोचन जुगल अनेक।।

३—हे व्याध के कुत्ते! (तनिक विचार कर, निष्फल कार्य करने से तेरा क्या लाभ?) (व्यर्थ) श्रम और अन्य प्राणी की हत्या—यही तेरा सारभूत है—यही तेरे भाग में आयेगा। (बलपूर्वक) तुझे दूर भगाकर इस हरिण को अभी इसी समय व्याध के अनुयायी बाँट लेगे (तो ऐसा पाप-कर्म व्यर्थ तू क्यो करता है)।।

४—श्री कृष्ण के मस्तक पर माला रूप सखि तुलसि! तू राधा को अपने समान क्यों समझती है? क्योंकि (श्री कृष्ण सर्वदा राधा के चरणों पर प्रणाम करते हैं

अतः मस्तक माला होने से) तेरे परिमल का उद्रेक राधा के चरण को सुरभित करने के लिए ही है। इस प्रकार जो गौरव उसे प्राप्त है, वह तुझे नहीं।

५—हे इन्दु कले ! तूने शंकर के सिर पर चरण स्थापित किया है—ऐसा गर्व मतकर। तेरे गर्व का मार्जन रूप फल चण्डी की चरण धूलि से होगा (चण्डी को मानवती देखकर चरण प्रणाम करने पर चरण रेणुमार्जन होता है, कुपित मेरी सखी तुझे चरण ताड़न करेगी अतः ऐसा गर्व मत कर ।।

६—गुरु (१—प्रभाकर नामक विद्वान २—बृहस्पति) के बाद जिनकी गणना होती है, जिनके अस्त (१—नाश, अदर्शन) से धर्म कर्म (१—अन्य धर्म प्रवर्तक न रह जाते से २—शुक्रास्त में कतिपय धार्मिक कर्मों का निषेध होने से) संकुचित हो गया उन काव्य कर्ता, 'कवि' अपरनाम वाले शुक्र की भाँति प्रसिद्ध नीलाम्बर नामक पिता की मैं (गोवर्धनाचार्य) वन्दना करता हूँ ।।

७—उत्सव के दिन उत्साह चाञ्चल्य मे स्नानद्वारा प्रसाधित सपत्नियो के निकट केवल उस आर्याने ही मज्जन मे अनादर दिखाकर अपना सौभाग्य सूचित किया है।

८—"हे बाये नेत्र, तुम्हारे स्फुरित होने से यदि वह प्रिय आज ही आ जाय तो मैं अपनी दाँया नेत्र मूंदे रह कर केवल तुमसे बहुत देर तक उसे देखूँगी।

अमरु, पंडितराज जगन्नाथ और बिहारी

● डा० कमलेशदत्त त्रिपाठी

संस्कृत मुक्तकों की सुदीर्घ परम्परा शताब्दियों की समय सीमा में विस्तीर्ण है। प्राचीन वैदिक साहित्य, पाली और प्राकृत साहित्य में हमें वे तत्व उपलब्ध होते हैं, जो आगे चल कर मुक्तकों के विकास की कड़ियाँ बनते हैं। वैदिक सूक्तों की मुक्तक प्रवृत्ति, देवस्तुति के साथ ही जीवन के विभिन्न पक्षों का काव्यमय स्वपूर्ण उपस्थापन भावी खण्ड काव्यों और मुक्तको के ही अधिक समीप है। ऋक् संहिता के उषस्, पर्जन्य, सरित्, अरण्यानी सूक्त, परोपकार, दान एवं सदुक्ति प्रशंसा के सूक्त तथा अथर्व संहिता के प्रणय सम्बन्धी अभिचारों के सूक्त और ऐसे कितने ही सूक्त संस्कृत मुक्तक परम्परा के आरम्भ हैं। पाली की गाथाएँ और प्राकृत की 'गाहासत्तसई' तक तो मुक्तक सुदृढ़, सुस्पष्ट और समृद्ध परम्परा स्थापित हो चुकी थी।

इस पृष्ठभूमि मे और इसके समान्तर संस्कृत की समृद्ध मुक्तक परम्परा है। नीति, वैराग्य और शृंगार परक मुक्तकों, शतकों और सप्तशतियों की लम्बी शृंखला। भर्तृहरि, गोवर्धन, बिल्हण, जगन्नाथ जैसे शुद्ध मुक्तक कवियों के साथ ही सुभाषित संग्रहो मे सुरक्षित शत-शत कवियों और कवयित्रियों की लम्बी परम्परा। इस विपुल मुक्तक राशि में संस्कृत मुक्तकों का विविध, रस-सिक्त और कभी धूमिल न पड़ सकने वाला रूप है, जीवन के रस और जीवन की ताजगी से भरा। इस लम्बी मुक्तक परम्परा में एक नाम ऐसा है जो संस्कृत मुक्तक कवियो का प्रतिनिधि नाम हो सकता है और वह नाम है अमरु का।

हाल और भर्तृहरि की समृद्ध परम्परा में अमरु के मुक्तक आए। आचार्य आनन्दवर्धन ने अमरु को बड़े समादर से स्मरण किया। उनके शृंगाररसस्यन्दी मुक्तकों को 'प्रबन्धायमान' कहा। अभिनव गुप्त ने तो एक श्लोक को 'प्रबन्धशत' की भाँति कहा। अमरु के मुक्तको मे प्रबन्धों की ही भाँति मुख, प्रतिमुख गर्भ आदि सन्धियों के चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। मुक्तकों मे 'रसबन्धाभिनिवेश' में तो अमरु की सफलता अद्भुत है।

प्राचीन भारत में जीवन के लिए उपयोगी अन्यानेक शास्त्रों के साथ ही कामशास्त्र का भी आविर्भाव हुआ था जीवन के इस पक्ष पर भी बौद्धिक रूप से

विचार किया गया। यह भी प्राचीन भारतवासी के मस्तिष्क के खुलेपन का प्रमाण है। साहित्यशास्त्र में नायक और नायिकाओं के भेदों पर विवेचन हुआ। इन मुक्तको को नायक और नायिका भेद के उदाहरणों के रूप में व्याख्यात किया गया। ऐसे भी प्रयत्न किए जिनमें नायक-नायिका के प्रत्येक भेद को स्पष्ट करने के लिए मुक्तको की रचना की गई थी। रुद्रट का 'शृंगारतिलक' इसी प्रकार की रचना थी। डा० पिशेल ने 'अमरुशतक' को भी मूलत: 'शृंगार तिलक' की ही भाँति विभिन्न रसों और नायक-नायिका भेद के उदाहरण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से रचित बताया। उनके इस कथन का प्रतिवाद डा० एस० के० दे ने यह कह कर दिया है कि चूँकि कोई भी परम्परा 'अमरुशतक' की रचना के पीछे कोई विशेष उद्देश्य का होना नहीं बताती, अत: यह बात असम्भावित ही है। ए० बी० कीथ ने भी 'अमरुशतक' को नायक और नायिका के भेद के बन्धनों से मुक्त समझकर इन मुक्तको को प्रणय के पृथक्-पृथक् चित्र माना है। अमरु के प्रसिद्ध टीकाकार अर्जुनवर्मदेव ने भी इन मुक्तको को संभोग, ईर्ष्या, मान, अभिसार आदि का पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र चित्रण माना है। भले ही अमरु के मुक्तक नायिका-नायक के किसी भेद मे आते जाएँ किन्तु निश्चय ही उनकी रचना इस विशेष उद्देश्य से नहीं की गई थी।

अमरु के मुक्तको में प्रणय की विविध स्थितियों का अंकन कवि ने अत्यन्त कुशलता से किया है। महान् साम्राज्यों के उदय के साथ ही महान् नागरिकों का उदय हुआ। पौरो और जनपदो की पृथक् जीवन-पद्धति स्पष्ट होती आ रही थी। वात्स्यायन ने कामशास्त्र के विधान प्रस्तुत किए। कला, काव्य और शास्त्रों की आराधना के केन्द्र अब नगर बन रहे थे। राजाओं की राजसभाएँ, राजधानियाँ और नगरियाँ एक अभिजात्य संस्कृति का पल्लवन कर रही थीं। 'निष्पन्नसस्य ऋद्धि शरद् मे गाते पामर' का जीवन और कला तथा साहित्य मे सम्यगभ्यस्त पौर का जीवन कुछ पृथक् हो गया था। आख्यान, आख्यायिका, व्याख्यान, आलेख्य और समस्यापूर्ति से विनोद करने वाले समाज, प्रेक्षणक और गोष्ठी के रसिक पौर का आन्तर जीवन अभिजात्य और संस्कृत हो गया था। हाल की 'सतसई' में प्राप्त प्रणय के सहज, लोक सामान्य चित्र से ये चित्र भिन्न थे। 'अमरुशतक' मे अंकित चित्र उस मतवाले पौर जीवन के चित्र ही अधिक प्रतीत होते हैं। 'केलिरुचि सहृदय कान्त' प्रणय की कला में दक्ष होता था। सखियाँ प्रणय करने, मान करने, विलास प्रदर्शित करने की कला का विधिवत् उपदेश देती थीं। भवनों में पले शुक-सारिका रसिक प्रणयीजनो के प्रणय-व्यापार में साक्षी हुआ करते थे। यहाँ 'गोदावरी के तट पर कमारो से उत्तरती हलिकस्नुषा' नहीं दिखाई पड़ती। यहाँ तो प्रणय को कला के रूप में आधारित करने वाले युगलों की कहानी है। उनके रंग भरे चित्र हैं—सुन्दर, मोहक, संस्कृत।

एक-एक मुक्तक चौखटो में जडा, एक-एक भंगिमा का सावधानी पूर्वक अंकन किया गया है। सधी तूलिका इतना रंग भरती है, जितना कला के संस्कार की रक्षा कर सके। संस्कृत आँखो मे न खटके। वधू गुरुजन के सम्मुख कुशलता से अपने प्रणय के रहस्य का गोपन कर लेती है। शुक बीती रात की बाते गुरुजन के सम्मुख दुहरा भी नहीं पाता कि वधू अपने कान मे पड़े लाल मणि को उसकी चोंच मे देकर उसका मुख ही बन्द कर देती है। सभोग, विरह, प्रवास, कलह आदि के ऐसे ही चित्र सुरुचि-सम्पन्न प्रणयीजन का अंकन करते है।

अमरुशतक मे यद्यपि काव्य-शास्त्र के किसी विशेष पक्ष के उदाहरण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से मुक्तकों की रचना नही की गई है, किन्तु अमरु के पीछे और आगे संस्कृत काव्य-शास्त्र की एक समृद्ध परम्परा तो रही ही है। प्राचीन टीकाकारो ने इन मुक्तको में रस, अलंकार, नायक भेद आदि के शास्त्रीय आधार पर इनकी व्याख्या की। इस दृष्टि से अमरु के प्रत्येक श्लोक का सारगर्भ विवेचन करके उन टीकाकारो ने अपनी-अपनी दृष्टि से अलंकार, नायक-नायिका भेद आदि के लक्षणों में इन मुक्तको को भी बाँधा। यद्यपि अमरु के मुक्तकों से प्रतीत होता है कि उन्हे भारतीय काव्य-शास्त्र और काम-शास्त्र दोनों का ही ज्ञान था। किन्तु यह ज्ञान काव्य मे इतना अनायास उतरा है कि उसके आने का पता भी नही चलता। जिस प्रकार कालिदास समसामयिक विद्या की सारी शाखाओ से सम्यग् रूप में परिचित थे, और परवर्ती पराभवयुगीन महाकवि भी समसामयिक विद्या की अतुल राशि के अधिकारी थे, किन्तु कालिदास के काव्यों में उनका पाडित्य काव्य मे सहज भाव से आया, अतएव काव्य के आनन्द की अवतारणा पहले ही होती है, उनके पाडित्य पर ध्यान कभी अवकाश में बैठने पर किया जाता है। उत्तरवर्ती कवियो के काव्य पर उनका शास्त्र ज्ञान आरोपित प्रतीत होता है। महाकाव्य के रसास्वादन की वेला मे ही शास्त्रो का स्वर प्रधान सा होने लगता है। अमरु के मुक्तको में कालिदास का वह गुण विद्यमान है। यदि मुक्तक किसी विशेष रस, अलकार और नायक-नायिका भेद की सीमा मे बँधते हैं, तो इसलिए नही कि अमरु ने उन्हे इस तरह बाँधा है अपितु इसलिए कि अमरु का वह स्वज्ञान अनारोपित रूप मे सहज भाव से कही उतर आया है। इस दृष्टि मे अमरु रस-कवियों की उज्ज्वल परम्परा मे अपना विशिष्ट स्थान रखते है।

अमरु के मुक्तको के वातावरण, उनकी काव्यशैली और उनकी काव्य-दृष्टि का पर्याप्त प्रभाव बिहारी ने ग्रहण किया। हिन्दी की मुक्तक परम्परा मे भी महान् कवि आये और उन्होने निसदेह हिन्दी मुक्तक-परम्परा का स्वतन्त्र स्वरूप निर्मित किया, किन्तु इस बात से इन्कार करना असम्भव है कि हिन्दी की इस काव्यविधा पर संस्कृत मुक्तकों का व्यापक प्रभाव पडा। हम अन्य कवियो की चर्चा न करते हुए केवल

बिहारी के मुक्तकों पर अपने को केन्द्रित करेंगे। बिहारी सम्यगधीत और बहुश्रुत कवि प्रतीत होते हैं। उन्होंने पुरातन समृद्ध परम्परा का पूरा-पूरा उपयोग किया। उन पर 'गाहासत्तसई' तथा 'आर्यासप्तशती' का प्रभाव भी अवश्य ही पडा। सतसई की प्रेरणा ही इन रचनाओं से प्राप्त हुई। किन्तु बिहारी ने जो प्रभाव ग्रहण किये उन्हे एक समग्र परम्परा के प्रभाव के रूप मे अधिक स्पष्टता से देखा जा सकता है। साथ ही कई कवियों का विशिष्ट वैयक्तिक प्रभाव भी द्रष्टव्य है। इन उभयविध प्रभावो का अलग-अलग दर्शन कठिन नही है। सस्कृत की समूची मुक्तक परम्परा के अध्ययन से कुछ विशिष्ट सामाजिक स्थितियाँ, पारिवारिक आचार, भावों की अभिव्यक्ति की भङ्गिमाएँ, रुढ़ियाँ, उपमाएँ और कवि परम्पराएँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। रीतिकालीन हिन्दी कवि संस्कृत काव्य-शास्त्रीय परम्परा से ग्रहण करने के साथ ही कविता के इन परम्परागत तत्वों को ग्रहण करते, यह स्वाभाविक ही था। जब मौलिक चिन्तन और स्वतन्त्र सर्जन की गति मन्द हो जाती है, उस पराभवयुगीन साहित्य मे तो यह अनिवार्य ही है। चिन्तन और सर्जन के मौलिक एवं स्वतन्त्र युग में जो कुछ पूर्व परम्परा से ग्रहण किया जाता है, वह सर्वथा सहज प्रक्रिया में होता है, अतः अनारोपित रूप में आया करता है। किन्तु पराभवयुगीन साहित्य कला और चिन्तन न केवल स्वतन्त्र योगदान में असमर्थ होता है, अपितु गृहीत तत्वों की गरिमा को भी निभा नही पाता।

किन्तु बिहारी काफी अंशो मे जिस परम्परा और जिन प्रभावो को ग्रहण करते हैं, उसके स्तर को निर्वाहित करते हैं। इतना ही नही अपनी सीमाओ में वे नूतन योगदान भी करते हैं। बिहारी पर संस्कृत मुक्तक परम्परा का समग्र और विशिष्ट कवियो का जो प्रभाव पड़ा, उसका पूर्ण और सविस्तार विवेचन तो अन्य निबन्ध की ही अपेक्षा करता है, किन्तु अमरु की समानान्तरता को संक्षेप मे इस तरह से देखा जा सकता है। अमरु के समान बिहारी के शृंगारपरक मुक्तक, अभिजात-शिष्ट नागर जीवन को ही अपना मुख्यतः विषय बनाते हैं। जहाँ ग्राम्यजीवन की कुछ एक स्थलो पर छवि है, स्पष्टतः उसे गाहासत्तसई तथा संस्कृत के अन्य मुक्तक कवियो के प्रकाश मे समझा जा सकता है। परन्तु सामान्य रूप से बिहारी के मुक्तक भी शिष्ट, अभिजात, कलाकुशल जन के सूक्ष्म और कोमल मनोभावों को अंकित करते हैं, जिनके अंकन में संस्कृत-परम्परा मे अमरु का जोड पाना कठिन है। यहाँ हलिकजन, गोपवधू और गँवार के निश्छल, भोले, कटाव-छँटाव और तराश से रहित अकृत्रिम प्रणय के स्थान सविलास, सज्जित, कलाप्रवीण प्रणय के ही दर्शन होते हैं। इस अंश में अमरु बिहारी के समानान्तर बैठते हैं।

केवल अमरु के मुक्तकों के शृंगार की छटा ही बिहारी-सतसई में दृष्टिगोचर

ी अपितु अमरु के मुक्तकों का अनुवाद ही जहाँ-तहाँ प्राप्त होता है। अमरु क है :

"शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै,
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली,
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरंचुम्बिता ॥"

(अमरु—८२)

बिहारी ने इसका रूपान्तर इस प्रकार किया :

"मैं मिसहाँ सोयौ समुझि मुँहु चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानौ, गलगह्यौ रही गरैं लपटाइ ॥"

(बिहारी रत्नाकार—६४२)

अमरु के "त्वं मुग्धाक्षि विनैव कंचुलिकया" (श्लोक सं० २७) श्लोक का ने अपने छोटे से छन्द की सीमा में यह रूपान्तर किया :

"पति रति की बतियाँ कही, लखी सखी मुसकाइ।
कै कै सबै टलाटलो अली चली सुखपाइ ॥"

(बिहारी रत्ना—२४)

अमरु ने "मुग्ध मुग्धतयैव नेतुमखिलः काल.किमारभ्यते" (अमरुशतक—७०) नायिका का जो चित्र खींचा, बिहारी ने इस तरह प्रस्तुत किया :

"सखी सिखावति मानविधि, सैननि बरजतिबाल।
हँसए कह मोहिय बसत सदा बिहारी लाल ॥"

(बिहारी रत्नाकर, उपस्करण २—११६)

इसी तरह "भ्रूभङ्गे रचितेऽपि" (अमरु शतक—२४) के भाव पर दो दोहे

"मौंहि लजावत, निलज ए हुलसि मिलत सब गात।
भानु उदै की ओस लौं मानु न जानति जात।"

(बिहारी रत्नाकर—५६६)

"कपट सतर भौंहैं करी मुख अनखौंहैं बैन।
सहज हँसौंहैं जानि कै सौंहैं करति न नैन ॥"

(बिहारी रत्नाकर–४१२)

अमरु ने परस्पर रूठ गये दम्पति का एक अनोखा चित्र "एकस्मिन् शयने"

(अमरुशतक—२३) श्लोक में अंकित किया है। बिहारी ने इसे इस तरह प्रस्तुत किया :

"खिचै मान अपराध हूँ चलिगै बढ़ै अचैन।
सुरत दीठि तजि रिस खिसौं हँसे दुहुँन के नैन ।।"

(बिहारी रत्ना०—६४६)

विरह से उत्तप्त उरोज पर विरहिणी के अश्रु छन-छन कर उड़ते जाते हैं। अमरू ने "तप्ते महाविरहवह्नि" (अमरूशतक—८६) श्लोक में यह वर्णन किया है। बिहारी ने उसे इस प्रकार रखा :

"पलनु प्रगटि, बरुनीन बढ़ि, नहि कपोल ठहरात।
अँसुआ परि छतिया छनकु छनछनाइ छिपि जात ।।"

(बिहारी—६५६)

इन उदाहरणों से इतना तो स्पष्ट ही है कि बिहारी ने अमरु के शतक का न केवल रसास्वाद ग्रहण किया, अपितु उसका अपनी रचना में पूर्णरूप से उपयोग भी किया। बिहारी ने चूँकि पूर्वतन कवि अमरु से कुछ ग्रहण किया, केवल इसलिए वे अमरू से हेठे है, या रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से अमरु बढे-चढे हैं अथवा बिहारी उन्हे पीछे छोड़ जाते हैं, इस प्रकार की समालोचना की गम्भीरता हमारी बुद्धि से परे है। अमरु का सस्कृत साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान है और बिहारी का हिन्दी साहित्य मे। यह बात ध्यान में रख कर यदि हम यह कहें कि अमरु के समानान्तर हिन्दी साहित्य में बिहारी है, तो यह अधिक ठीक बात होगी। यह इसलिए भी उचित होगा, क्योकि बिहारी के शृङ्गार परक मुक्तको का आस्वाद अमरु के मुक्तकों के आस्वाद का समवर्ती है। अन्तर यह अवश्य है कि अमरु अपने छन्दो के वृहत्तर आकार में अधिक स्पष्ट और बड़े चित्र देते हैं, मृदुपदावली में अपना विशिष्ट संगीत देते हैं और पूर्वतन कवियो से पृथक्, स्वतन्त्र और मौलिक अभिव्यक्ति भंगिमा देते है, किन्तु बिहारी के चित्र प्रायः फलक मे छोटे और भंगिमा में सर्वथा मौलिकता का आभास नहीं दे पाते। किन्तु इतने पर भी बिहारी मे मौलिक वर्णन भङ्गिमाएँ न हो, चटक और आवर्जक चित्र न हो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

पंडितराज जगन्नाथ और बिहारी—इस स्थल पर संस्कृत के अन्य मुक्तक कवि पण्डितराज जगन्नाथ की बरबस स्मृति हो आती है। बिहारी और पण्डितराज एक युग में विभिन्न भाषाओं के माध्यम से अपनी प्रतिभा का प्रकाशन कर रहे थे। पण्डितराज एक ओर संस्कृत काव्य-शास्त्र की गौरवमयी परम्परा के अन्तिम धुरन्धर आचार्य हैं, तो दूसरी ओर संस्कृत मुक्तक परम्परा के अत्यन्त प्रदीप्त नक्षत्र हैं।

उनकी साहित्यिक गतिविधि का समय मोटे तौर पर सन् १६२० से १६६० ई० तक माना जाता है। उन्होने मुगल सम्राट जहाँगीर, शाहजहाँ, उदयपुर नरेश जगतसिंह (१६२८–१६५४) तथा कामरूप नरेश प्राणनारायण (१६३३--१६६६) की राज सभाओ को अलकृत किया। सभवत: लगभग यही समय जब बिहारी ने भी नरेश जयसिंह की सभा को अलकृत किया। मुगल दरबार से भी उनका सम्पर्क हुआ। कोई कठिन नही कि बिहारी और पण्डितराज एक दूसरे से परिचित रहे हों।

पण्डितराज जगन्नाथ के मुक्तको और बिहारी के मुक्तको मे कई समानताएँ दिखाई पडती है। बिहारी ने अपने मुक्तको के लिए अत्यन्त लघुकाय दोहा मात्र चुना, इसकी परम्परा पहले से विद्यमान ही थी, उन्होने शृगारपरक, भक्तिपरक, अन्योक्ति परक तथा नीतिपरक दोहे लिखे। वे शृंगारपरक दोहे लिखते-लिखते और नीति की सूक्तियाँ कहते-कहते मजग हो कर राधा-कृष्ण की चर्चा करने लगते हैं। पण्डितराज ने भी आर्यासप्तशती की परम्परा मे आर्याछन्दों को भी ग्रहण किया। यद्यपि उन्होने अन्य छन्द भी अपनाये और प्रचुर मात्रा मे उनमे रचना की किन्तु आर्या में भी उन्होंने अत्यन्त ललित रचनाएँ कीं। उन्होने भी कृष्ण की भक्ति मे सराबोर रचनाओं के साथ-साथ शृङ्गारपरक, नीतिपरक, और अन्योक्तिपरक रचनाये लिखी। उनके 'भामिनी बिलास' मे अन्योक्ति, शृगार, करुण और शान्तिपरक चार समुल्लास हैं। पण्डितराज और बिहारी की रचनाओ में अन्योक्ति तथा नीतिपरक मुक्तकों के कहते समय एक अद्भुत समान भङ्गिमा है। पडितराज भ्रमर को सम्बोधित करते हुए कहते हैं :

"येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत।
कुरजे खलु तेनेहा तेनेहा मधुकरेण कथम् ॥"

जिसने अमन्द मकरन्द वाले कमलों में अपने दिन बिताये हैं, उस मधुकर ने आह! कुरैया के फूलो में अपनी इच्छा की है, भला क्यों ?

कोकिल के प्रति उनकी उक्ति है :

"कोकिल तावद्विरसान्, यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्।
यावन्मिल दलिमाल: कोऽपि रसाल: समुल्लसति ॥"

कोकिल, अपने विरस दिनों को तब तक किसी दूसरे वन में रह कर गुजार दो, जब तक कोई आम्र बौर फूल नहीं जाता, जिस परे भौरों की मालाएँ मंडरा रही होंगी।

पंडितराज की इन अन्योक्तियो की भंगिमा की तुलना बिहारी से करने पर एक अद्भुत साम्य प्राप्त होता है।

इसी प्रकार पंडितराज के कृष्ण-परक मुक्तकों में और बिहारी के राधाकृष्ण परक मुक्तकों के आस्वाद में भी अद्‌भुत आस्वादसाम्य है। पंडितराज भी बिहारी की तरह अन्ततः कृष्ण नाम की माध्वीक-विनिन्दक सुधा में आनन्द ग्रहण करते हैं। इनके अभिव्यक्ति प्रकार, विषय और शैला में पर्याप्त समानता है।

अमरु, पंडितराज एवम् अन्य ऐसे कवियों बिहारी के मुक्तकों की समानता पर विचार करते समय यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि बहुत कुछ ये समानताएँ एक परम्परा से अनुप्राणित होने के कारण लगती हैं। इनकी समानता के लिए परम्परा की एकता का ऐतिहासिक कारण है। किन्तु जहाँ स्पष्टतः भाव-ऐक्य अथवा अनुवाद है वहाँ तो वैयक्तिक और विशिष्ट प्रभाव की बात का अपलाप नहीं ही किया जा सकता। संस्कृत लम्बी मुक्तक परम्परा के सन्दर्भ में बिहारी के साथ-साथ एक ओर अमरु और दूसरी ओर पंडितराज को रख कर विचार करने का एक स्पष्ट आशय यह है कि हिन्दी की मुक्तक परम्परा एक ओर प्राचीन मुक्तक परम्परा और कवियों से बहुत कुछ ग्रहण करती रही, दूसरी समकालीन संस्कृत कवियों से भी उनका सम्बन्ध बना रहना कोई अजीब बात नहीं है। इस दृष्टि से विचार करते समय हमारे मुक्तकों के प्राचीन इतिहास का एक महत्वपूर्ण पक्ष उजागर होता है।

विद्यापति और बिहारी

● डा० केदारनाथ लाभ

विद्यापति और बिहारी के काल मे यद्यपि तीन-साढे तीन सौ वर्षों का अन्तर है एवं देश काल के इस गहरे भेद के कारण दोनो महाकवियो के काव्यविषय और शिल्प, उभय दृष्टियो से कुछ इस प्रकार आपस मे मिलते-जुलते एवं अलग-विलग हो दीख पडते है कि उनका अध्ययन अपने आप में मनोरजन हो जाता है। दोनो ही दरबार के कवि हैं, दोनो के काव्य प्रतिपाद्य राधाकृष्ण है एवं दोनो मुक्तककार हैं। किन्तु समानता की इस भूमि पर खडे होकर भी दोनो के सौन्दर्य बोध, भाव-प्रवेश, शब्द-शिल्प एवं दृष्टि भंगी की अन्तर्वेधकता में कुछ ऐसा पार्थक्य है जो दोनों कवियो को एक नदी के दो किनारे पर खडा कर देता है।

भाषा-काव्य मे राधा की सर्वप्रथम अवतारणा यद्यपि विद्यापति के द्वारा ही हुई किन्तु उन पर पड़े हुए पड़ोस के जयदेव एवं चंडीदास के प्रभाव को विस्मृत नही किया जा सकता और इतना ही क्यों ? गाथा सप्तशती, और अमरु शतक के प्रभाव को ही हम क्यों भूलें ? प्रथम शताब्दि की गाथा सप्तशती में राधा का वर्णन यों है :

मुहमारुएण तं कह गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणं बल्लवीणं अरणाण वि गोरअं हरसि।।

यानी हे कृष्ण। तुम अपने मुंह की हवा से राधा के मुख मंडल पर व्याप्त धूल को दूर कर (प्रकारान्तर से चुम्बन द्वारा उसे श्रेष्ठता प्रदान कर) अन्य गोपियों का अभिमान चूर-चूर कर रहे हो। यह वर्णन अपनी व्यंजना शक्ति एव भावोत्कृष्ट्य की दृष्टि से सहज आकर्षण है।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिए कि उपर्युक्त राधा किसी वैष्णव सम्प्रदाय के रंग से रंजित नही बलिक जन-प्रचलित भावनाओं की मटमैली साड़ी मे लिपटी एक सहज-सरल, निश्छल-निरलंकृत ग्राम-वनिता के ऋजु पर, आकर्षक रूप मे प्रकट हुई है।

ग्यारहवीं शताब्दी के जयदेव की राधा भी कुछ ऐसी ही थी। जयदेव पर १४ वी शताब्दी के निम्बार्क और विष्णु स्वामी के वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव नहीं माना जा सकता। सच तो यह है कि तांत्रिकों के जिस वाम-मार्ग का प्रभाव मध्य-कालीन भारत पर नानाविध पड़ा था, उसमे स्त्री-पूजन को अत्यधिक महत्व मिला था। कौल धर्म भी अपनी सिद्धि का साधन स्त्री को ही मानता था। आगे आकर शक्ति-सम्प्रदाय ने हर पुरुष को शिव और हर नारी को शक्ति का स्वरूप माना। इस प्रकार शिव-शक्ति को लेकर काफी श्रृंगारपूर्ण रचनाएँ हुई। कालिदास के कुमार-सम्भव मे शाक्तो या शैवो की यही मान्यता काम करती है, जहाँ शिव-पार्वती के उद्दाम-सम्भोग का वर्णन किया गया है। यही शिव-शक्ति का युग्म रूप आगे चलकर "राधा-कृष्ण" का युग्म रूप बन गया। शक्ति मत का प्रभाव मिथिला-बगाल जैसे पूर्वी भारत और समस्त उत्तराखण्ड में था। सुतरां, शक्ति की पद्धति पर राधा की अवतारणा धर्म मे ही नहीं साहित्य में भी हुई। और शक्ति मत की भाँति ही राधा-कृष्ण पूर्वी प्रदेशों में आरम्भ मे श्रृंगार के आलम्बन के रूप में ही गृहीत हुए। यही कारण है कि जयदेव ने स्वयं अपने काव्य का प्रयोजन बताते हुए कहा :

यदि हरि स्मरणे सरसं मनो यदि विलास कलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमल कान्त पदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥

जयदेव की राधा ब्रह्मवैवर्त पुराण की राधा नहीं, वह तो उनकी श्रृंगार प्रिय मनोवृत्ति को मूर्तरूप देने वाली कामकला प्रवीणा कोई सुघर यौवना है। उनके कृष्ण गोपी, पीन, पयोधर-मर्दन करने वाले तरुण पुरुष हैं और राधा :

किसलय शयन विवेशितया चिरमुरसि ममैव शयानम्।
कृत परिरम्भन चुम्बनया परिरम्य कृताधर पानम्॥

की कामना से दग्ध तरुणी है। वह मात्र एक विलासिनी-बाला है॥

विद्यापति की राधा जयदेव की राधा के समीप है। भेद इतना ही है कि जय-देव की ज्ञातयौवना कामातुरा राधा है। विद्यापति की राधा वय:सन्धि की राधा है। जिसमे शनैः शनैः वचन चातुर्य एवं काम-जिज्ञासा का आगमन होता है और फिर वही उन सभी कलाओं को सीखती है जो किसी भी प्रथमाभिसारिका नायिका के लिए अपेक्षित है। यही कारण है कि विद्यापति राधा के स्वरूप-वर्णन में मांसलता की दृष्टि से पूर्ववर्ती जयदेव एवं परवर्ती बिहारी के निकट हैं किन्तु भाव-चित्रण की दृष्टि से पूर्ववर्ती चडीदास से पीछे चले जाते हैं।

चंडी दास की राधा, कृष्ण के प्रेम में सराबोर एवं भाव-विह्वल हो कर निवेदन करती है

बंधु ! तुमि से आमार प्राण !
देह मन आदि तोमाते संपेछि कुल शील जाति मान !!
पिरीति रसेते ढालि तनु मन दियाछि तोमार पाय ।
तुमि मोर गति, तुमि मोर पति मन नाहि आन चाय ।।
कलंकी बलिया डाके सब लोके ता हाते नाहिक दुख ।
तोमार लागिया कलकेर हार गलाय परितै सुख ।।
सती वा असती तोमाते विदित भाल मंद नहि जानि ।
कहे चंडीदास पाप-पुण्य मम तोमार चरण खानि ।।

प्रेम की निश्चय निराकृत एवं निर्व्याज अभिव्यंजना का इससे बढ़ कर क्या उदाहरण हो सकता है । प्रेम के रस में अपने तन मन को डाल कर जिसने अपना सर्वस्व कृष्णार्पण कर दिया है : अब वही कृष्ण मात्र उसकी गति है, वही उसका पति है, समस्त तर्कातर्कों से ऊपर उठ कर अपनी ग्रीवा मे कलंकी का हार पहन कर सती, असती, अच्छी-बुरी के भेद से अनभिज्ञ होकर जो अपने समस्त पाप-पुण्यों को कृष्ण के चरणों पर अर्पित करती है । वह एकान्त आत्म समर्पण की भावना-वाली शाश्वत प्रेम की प्रज्वलित दीपशिखा चंडीदास की राधा है । विद्यापति की राधा में यह भाव ढूढे भी नही मिलता । सूर अलबत्ता अनेक स्थलों पर विद्यापति से रस-ग्रहण करके भी भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से अपने सभी पूर्ववर्ती राधा कृष्ण काव्य प्रणेताओं से काफी ऊँचे उठ जाते हैं । पर सूर को छू भी नहीं पाते और मांसलता में विद्यापति से होड लेते दिखाई पड़ते हैं ।

विद्यापति राधा की वयः सन्धि की अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं :

सैसव जौबन दुहु मिलि गेल ।
श्रवनक पथ दुहु लोचन लेल ।।
मुकुर लई अब करई सिंगार ।
सखि पूछई कइसे सुरत-विहार ।।
निरजन उरज हेरइ कत बेरि ।
हसइ से अपन पयोधर हेरि ।।
पहिल बदिर-सम पुन नवरंग ।
दिन दिन अनंग अगोरल अंग ।।

अथवा :

सैसव जौवन दरसन भेल ।
दुहु दल बले दन्द परि गेल ।।

कबहु बाँधय कच कबहु बिथारि ।
कबहु झाँपय अंग कबहु उघारि ।।
अति थिर नयन अथिर किछु भेल ।
उरज–उदय थल तालिम देल ।।

और बिहारी कहते हैं :

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग ।।
दीपत्ति देह दुहून मिलि दिपति ताफता रंग ।।

अथवा

तिय-तिथि तरुन-किसोर-बय पुन्यकाल सम दोनु ।
काहूँ पुन्यनु पाइयतु बैस-संधि-संक्रोनु ।।

अथवा

निरखि नवोढा नारि तन, छुटत लरिकई-लेस ।
भौ प्यारी प्रीतमु तियनु, मनहुँ चलत परदेश ।।

यहाँ विद्यापति की दृष्टि वय:संधि काल मे होने वाले नारी शरीर के परिवर्तनों पर विशेष गयी है एव मानसिक परिवर्तनो पर अपेक्षा कृत कम । हाँ, रूपात्मक और क्रियात्मक परिवर्तनो का उन्हे पूरा ध्यान है । बिहारी का ध्यान प्रथम दोहे मे वर्ण-परिवर्तन पर दूसरे दोहे मे नायिका की वय सन्धि देख कर कवि हृदय पर पडने वाले प्रभाव पर एव तीसरे दोहे मे सपत्नी के हृदय में उत्थित असूया पर। स्पष्ट है कि पहले दोहे में बिहारी विद्यापति से ऊँचे चले गए हैं पर अन्य दो दोहों में मात्र वर्णन चमत्कार है । स्थूलता ता दोनो में है ही ।

उसी भाँति :

पीन पयोधर दुबरि गता ।
मेरु उपजल कनक--लता ।।

कहकर विद्यापति राधा के उरोजों के काठिन्य एवं विशालता का संकेत मेरु कह कर एवं दुर्बल गोरे गात का उदाहरण कनकलता से देकर जो प्रभाव उत्पन्न करते हैं वही बिहारी :

जैती संपति कृपन कैं, तैती सूमति जोर ।
बढ़त जात ज्यौं-ज्यौं उरज त्यौं-त्यौं होत कठोर ।।

या

ज्यौं-ज्यौं जौबन-जेठ दिन कुचमिति अति अधिकाति ।
त्यौं-त्यौं छिन-छिन कटि-छपा छीन परति नित जाति ।।

कह कर उत्पन्न करते हैं। विद्यापति के मेरु उपजल कनक-लता में दूरारूढ़ कल्पना है पर बिहारी के उपमान जीवन के अत्यधिक निकट के हैं। अतः चित्र उकेरने या वर्णन की प्रभावोत्पादकता में बिहारी विद्यापति से बढ जाते है, पर सौन्दर्य के स्थूल या मांसल अंकन मे दोनो के मन समान रूप से रमते पाये जाते हैं।

देह सौन्दर्य के चित्रण मे विद्यापति सांगोपांग वर्णन करते हैं जब कि बिहारी किसी अंग विशेष या अंग भंगिमा का खंडित चित्रण कर ही तुष्ट हो जाते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि विद्यापति को गीतों का प्रणयन करने के कारण ऐसा करने की पूरी छूट, पूरा अवसर और पूरा स्थान मिल जाता है जब कि बिहारी को एक सीमा मे ही यह सब करना होता है। उदाहरणार्थ :

पल्लवराज चरन जुग सोभित
गति गजराजक माने।
कनक कदलि पर सिंह सभारल
तापर मेरु समाने।
मेरु उपर दुइ कमल फुलायल
नाल बिना रुचि पाई।
मनि-मय हार धार बहु सुरसरि
तओ नहि कमल सुखाई

विद्यापति इसमे क्रमिक रूप से नख-शिख वर्णन ही नहीं करते, रूपकों के माध्यम से सजीव चित्र भी खड़ा करते चलते हैं। पर बिहारी में चित्रात्मकता की क्षमता अधिक होते हुए भी ऊहात्मकता के प्राबल्य के कारण उनके चित्रों में रमणीयता नहीं आ पाती। साथ ही चित्र एक झटका देकर रह जाता है कोई सम्मिलित प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाता है। देखिए :

(अ) लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥
(ब) पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौई रहत आनन ओप उजास॥
(स) अंग अंग नग जगमगत दीप सिखा सी देह।
दिया बढ़ायें हूँ रहै बड़ौ उज्यारौ गेह॥
(द) कहत सबै, बेंदी दियै आंकु दसगुनौ होतु।
तिय-लिलार बेंदी दियैं अगिनितु बढ़तु उदोतु॥

इसी से डा० सुधीन्द्र का कथन है—'बिहारी की दृष्टि नारी के अंग-प्रत्यंग पर बडी सूक्षमता से पड़ी है—जंघा, नितम्ब, कटि, त्रिवली, उरोज, ग्रीवा, कण्ठ सभी को कला के आवरण मे लिपटा हुआ कवि ने दिखाया है। इस आलंकारिक चित्रण मे कही-कही ऊहा का चमत्कार इतना बढ़ गया है कि विश्वास कौतूहल में बदल जाता है।

यही स्थिति दोनो महाकवियो के संयोग-वियोग वर्णन में भी है। विद्यापति संभोग श्रृंगार के उद्दाम क्षणों का वर्णन करते समय भी, यथार्थता एवं स्वाभाविकता की सीमा का उल्लघन नही करते और एक हद तक उनके नायक-नायिका पर मिथिला की सांस्कृतिक परम्परा और प्रथाओं से आवृत वर-वधू के प्रथमाभिसार का रंग चढ़ जाता है एवं नर-नारी के सहज मन का परिचय भी प्राप्त हो जाता है। यथा विद्यापति की नायिका प्रथम समागम के क्षण :

नहि नहि करय नयन ढर नोर
कांच कमल भमरा भिकभोर
जइसे डगमग नलनिक नीर
तइसे डगमग धनिक सरीर ।।

अथवा उसे जब :

सखि सब देल भवन कए सजनि गे
घुरि आइलि सभ नारि ।
कर धए लैल पहु लग कए सजनि गे
हेरए बसन उधारि ।।
भए बर सनमुख बोलइ सजनि गे
करे लागल सविलास
नव रस रीति पिरीति भेल सजनि गे ।।
दुहु मन परम हुलास ।।

तो एक सीमा तक यथार्थता और स्वाभाविकता के कारण मन इसमें रमता ही है। उद्दाम श्रृंगार रसराज बन जाता है। किन्तु बिहारी की नायिका जब

हँसि-हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति ।
बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति ।।

अथवा

ज्यों ज्यों पावक लपट सी तिय हिय सौ लपटाति ।
त्यों त्यौं छुही गुलाब सैं छतिया अति सियराति ।।

तो वर्णन में चमत्कार का जो दर्शन हो जाय संयोग की स्वाभाविकता का दर्शन नहीं हो पाता। इनमे उन्माद का चित्र आता है संयोग की सहजता का नहीं।

विप्रलंभ शृंगार के वर्णन मे तो विद्यापति बिहारी से और बढ़े-चढ़े कवि सिद्ध होते हैं। यद्यपि डा० रामकुमार वर्मा विद्यापति को बिहारी के समान घाट-बाट का चित्रण करने वाला ही समझते है। उनके अनुसार विद्यापति ने अन्तर्जगत का उतना हृदयग्राही वर्णन नही किया जितना वाह्य जगत का। तात्पर्य यह है कि विद्यापति ने मानव चित्रवृत्तियो के आरोह का साधारण रूप से ही चित्रण किया है। इसकी अपेक्षा स्थूल शरीर के हाव-भाव चेष्टाएँ, अंगविकास का चित्रण करने में कवि का हृदय अधिक रमा है। किन्तु वस्तुस्थिति वैसी है नही है। यह सच है कि विद्यापति और बिहारी दोनों दरबारी कवि थे जिसके कारण दोनो का अपनी कविता में कलात्मक चमत्कार का प्रदर्शन करना अनिवार्य सा था एवं दोनों पर रीतिशास्त्रीय परम्परा तथा पांडित्य प्रदर्शन करना अनिवार्य सा था एवं दोनो पर रीतिशास्त्रीय परम्परा तथा पांडित्य प्रदर्शन का प्रभाव था फिर भी विद्यापति के पास वैयक्तिक अनुभूति की परिपक्वता थी, जिसके कारण उनके काव्य मे मानवीय भावनाओ का भी सम्यक चित्रण हो सका है। देखिये—परदेश गमन की बातें सुनकर ही विद्यापति की राधा कहती है :

माधव तोहे जनि जाह विदेश
हमरो रंग रमस लए जए वह लए कौन सन्देश।

विरह विदग्धा राधा करुणालाप करती है :

सखि मोर पिया।
अबहु न आओल कुलिस हिया
नखर खो आओलु दिवस लिखि लिखि
नयन अंधाओलु पिया पथ देखि।।

अथवा

माधव हमर रटल दूर देस
केओ न कहय सखि कुसल सनेस।।
जुग जुग जिवथु वसथु लाख कोस
हमर अभाग हुनक नहि दोष।

अथवा

सखि हे हमर दुखक नहि ओर
ई भर बादर माह भादर सून मन्दिर मोर

इन उपर्युक्त पंक्तियों में एक नारी हृदय की विरहानुभूति एवं उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति का कोई भी विदग्ध पाठक सहज अनुमान लगा सकता है। यहीं बिहारी के विरह वर्णन की कुछ पंक्तियाँ लें :

इत आवति चलि जाति उत चली छसातक हाथ।
चढी हिंडौरे हीं रहै लगी उसासनु साथ॥

या

आड़े दै आले वतन जाड़े हू की राति।
साहस ककै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति॥

इनमे विरह का ऊहात्मक या हास्यास्पद रूप मात्र खड़ा किया गया है नारी मन की पीड़ा तो दबी ही रह गई।

ऐसी ही पंक्तियों को लक्ष्य कर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि— कहीं कहीं इनकी वस्तु व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खेलवाड़ के रूप में हो गई है। (हि० सा० का इतिहास, पृ० २४८)

मेरा अभिप्रेत केवल यह है कि वर्णन चाहे नायिका के नख-शिख का हो या वय: सन्धि का, मान का हो या विपरीत रति का, संयोग का हो या विप्रलम्भ श्रृंगार का, विद्यापति और बिहारी दोनों ही इनमें खूब डूबते हैं और दोनों ही इनके चित्रण में अपनी कला की रंगीनी का खूब प्रदर्शन करते हैं किन्तु जहां विद्यापति तन से मन की ओर भी प्रयाण करते हैं एवं देह सौन्दर्य से आगे बढ़कर अन्र्तसौन्दर्य का भी अंकन करते हैं वहाँ बिहारी पाडित्य प्रदर्शन के व्यामोह मे पड़ने के कारण, देह सौन्दर्य तक ही अपना क्षेत्र सीमित कर विद्यापति से बहुत पीछे छूट जाते हैं। जहाँ विद्यापति तन और मन तथा काम और प्रेम के समन्वित कवि हैं वहाँ बिहारी मात्र शरीर और वासना के कवि होकर रह जाते हैं। यही कारण है कि विद्यापति की 'जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल' अथवा :

ततहि धाओल दुहु लोचन रे
जतए गेलि वर नारि।
आसा लुबुध न तेजय रे
कृपनक पाछु भिखारि।

अथवा

यौवन बिनु तन, तन बिनु यौवन
की औवन पिय दूरे ।।

जैसी पंक्तियाँ बिहारी मे लाख ढूँढ़ने पर भी नही मिलती है ।

विद्यापति और बिहारी दोनो श्रृंगारी कवि है, एक में भावना की सच्चाई है अपर मैं बौद्धिक चमत्कार की भरमार । रीतिकाल की कविताएँ बुरी नही, मृत हैं । इस काल में रूप की सृष्टि तो हुई, किन्तु कवियों ने अपने हृदय की बेचैनी नही लिखी और घनानन्द तथा बोधा को छोड़ दे तो ऐसा लगता ही नही कि रीतिकाल के कवियों का अपना भी कोई प्रेम था···रीति काल का दोष उसकी श्रृंगारिकता नही, यही निर्जीवता और नकलीपन है । विद्यापति और चंडीदास कम श्रृंगारिक नहीं हैं, किन्तु उनकी श्रृंगारिकता के पीछे उनका प्रेम उपस्थित है, वह वासना उपस्थित है जो पुरुष में नारी के लिए और नारी में पुरुष के लिये विद्यमान रहती है । इस वासना की अभिव्यक्ति की सच्चाई और सीधापन विद्यापति के श्रृंगार को स्वाभाविक बनाये हुए हैं ।[1] और यही स्वाभाविकता विद्यापति के काव्य को अमरत्व एवं रमणीयता प्रदान करती है ।

विद्यापति के काव्य में बहुत सी ऐसी पंक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं जिनके आधार पर ग्रियर्सन को यह कहना पड़ा था ।

यानी "जिस भाँति सोलोमन के गीतों को क्रिश्चियन पादरी कहते हैं उसी भाँति हिन्दी भक्त विद्यापति के पदों को पढ़ते हैं और किञ्चित् भी कामवासना का विकार अपने हृदय में नहीं देखते ।" बाबू श्यामसुन्दर दास, बाबू ब्रजनन्दन सहाय, तथा डा० विमान बिहारी मजुमदार भी विद्यापति के पदो मे वैष्णव लीला का गान पाते हैं एवं चैतन्य महाप्रभु तो विद्यापति के इन पदों को गाते-गाते मूर्च्छित हो जाते थे । किन्तु बिहारी के दोहों के सम्बन्ध में यहीं या ऐसी ही बात नही कही जा सकती फिर भी अध्यात्मिक भावों के अभाव के कारण ही बिहारी के दोहे—निकृष्ट नहीं ठहराये जा सकते । सच तो यह है कि काव्य की कसौटी कोरी अध्यात्मिक भावना की उपस्थिति से नहीं हो सकती । और सबसे बढ़कर कि यह अध्यात्मिक भावना भी तो विद्यापति के पदों या गीतों पर लादी गई है । कोई चाहे तो बिहारी में इसे ढूंढ सकता है । किन्तु मेरा कथन मात्र इतना है कि जिस प्रकार विद्यापति के पदो में एक ग्राम-बाला या ग्राम-तरुण से लेकर एक निश्छल निर्विकार भक्त हृदय तक को तन्मय एवं रसोद्बुद्ध कर देने की सहज क्षमता है उसका बिहारी के दोहो में सर्वथा अभाव है, अपने कथन की पुष्टि में मैं शुक्ल जी की पंक्तियाँ रखूंगा जो हृदय के अंत-स्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं । किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर

अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नही हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वर-धारा कुछ काल तक गूँजती रहे।······मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त सवैयों का सा प्रभाव बिहारी के दोहों का नही पडता।[2] और इसके साथ ही डा० रामरतन भटनागर की विद्यापति के सम्बन्ध में व्यक्त उक्ति भी देखिये—"विद्यापति सयोग शृंगार मे उससे भी बढे-चढ़े है—यहाँ वे स्थल हैं जिनके कारण विद्याप त वैष्णव कवियो को ग्राह्य हुए, नही तो उनके संयोग शृंगार की गर्हित भावनाओ ने उन्हे सदा के लिए लांछित कर दिया था।[3]

कविता के सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियो की मान्यता यह है कि उसमें भाव पक्ष की अपेक्षा अभिव्यंजना पक्ष का अधिक महत्व है निश्चय ही यह मान्यता विवाद ग्रस्त है किन्तु काव्य अथवा कला को परखने की यह भी एक विशिष्ट दृष्टि भंगी है। कवि कहाँ तक अपने भावो को चित्रात्मक स्वरूप प्रदान करता है इस बात पर उसकी सफलता कूती जाती है। और इस दृष्टि से बिहारी अद्वितीय सिद्ध होते हैं।

यह नही कि विद्यापति चित्र नही उकेरते, नही ! वे भी उकारते हैं और कही-बिहारी से बढकर किन्तु उनका ध्यान भावो के सहज अभिव्यंजन पर अधिक है। यत्र-तत्र पांडित्य प्रदर्शन, शास्त्र ज्ञानाभिव्यंजन एवं दृष्टि कूट के स्थलो को बाद मे देखने पर उनमे भावों की निश्छल अभिव्यक्ति हम पाते हैं। जो अलकार स्वत: ही काव्य के भूषण बन कर आ गए उन्हें विद्यापति ने ग्रहण कर लिया पर वे अलंकारों की सजावट या नक्काशीगिरी या रूप तराशी के फेर मे नही पड़े।

बिहारी नीले अंचल मे छिपी किसी छबीली के मुह को देखकर यह उत्प्रेक्षा करते हैं कि माना यमुना के नीर में चन्द्रमा झलमलै रहा हो :

छिप्यौ छबीलौ मुंहु लैस नीलैं अंचर-चीर।
मनौ कलानिधि झलमैल कालिंदी के नीर॥

विद्यापति नीले वस्त्र के, पवन वेग के कारण, नायिका के शरीर से हट जाने पर उत्प्रेक्षा करते है कि मानों नवीन जलधर के तले विद्युत रेखा संचरण कर रही हो :

ससन-परसु खसु अम्बर रे देखलि धनि देह।
नव जलधर तर संचर रे जनु बिजुरी रेह॥

और देखें :

मोहू सौं तजि मोहु द्दग चले लागि उहि गैल।
छिनकु छवाइ छवि गुरडरी छले छबीले छैल॥

(बिहारी)

"उस छैले ने एक क्षण के लिए अपना रूप दिखाकर मेरे नेत्रों को ऐसे छल लिया है कि वे अब मेरा परित्याग कर उसी के पीछे चलने लगे है जैसे गुड की डली के पीछे चीटे चलते है :

ततहि धाओल दुहु लोचन रे जतए गेलि वर नारि।
आसा लुबुध ने तेजए रे कृपनक पाछुभिखारी ।।
(विद्यापति)

(वह सुन्दरी जिस ओर गई उसी ओर मेरी आँखें भी चल पड़ीं, जैसे कृपण के पीछे भी भिखारी इस आशा से चलता जाता है कि कही अब उन्हे दया आ ही जाय।)

निश्चय ही दोनो उदाहरणों मे विद्यापति बिहारी से चित्रात्मकता की दृष्टि से पीछे नही पड़े हैं, किन्तु ऐसे स्थल कम आये हैं। बिहारी एक कारीगर की भाँति रुक-रुककर छेनी-हतौडे से पत्थर को काट-काट कर मूर्ति गढ़ते हैं और उसमे एक चिकनाहट लाने का हर सम्भव यत्न करते हैं। विभिन्न हाव-भावो, अग-भगिमाओं एवं गतियो को एक-एक मात्र ४८ मात्राओं वाले दोहो मे नियोजित कर बिहारी ने कला की सूक्ष्मता का जो उदाहरण प्रस्तुत किया वह वस्तुत: और शृगारी कवियो के लिए शक्य नही था। देखिए :

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौह करै, भौहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाइ ।।
नासा मोरि, नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकै हिये, गडी कंटीली भौंह ।।

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट लपटानि।
ए जिहि रति, सौ रति मुकति, और मुकति अति हानि ।।

कंज नयनि मंजनु किए, बैठी व्यौरति बार।
कच अंगरी बिच दीठि दै, चितवति नंद कुमार ।।

भावानुभावों की इस सम्यक् योजना एवं गत्यात्मक सौन्दर्य के इस चित्रांकन वैशिष्ट्य ने बिहारी को विलक्षण श्रेष्ठता प्रदान की है। रामधारी सिंह दिनकर का यह कथन इस दृष्टि से बडा ही उपयुक्त है कि बिहारी के दोहों में न तो कोई बडी अनुभूति है न कोई ऊँची बात, सिर्फ लड़कियों की कुछ अदाएँ हैं, मगर कवि ने उन्हें कुछ इस ढब से चित्रित कर दिया है कि आज तक रसिकों का मन कचोट खाकर रह जाता है। जो लोग कविता में सिर्फ ऊँची अनुभूति और

ज्ञान की बडी-बडी बातों की तलाश में रहते हैं, बिहारी की कविताओं मे उन्हे अपने लिए चुनौती मौजूद मिलेगी। बिहारी की कविताओ मे से आलोचना का यह सिद्धान्त आसानी से निकाला जा सकता है कि कविता की सफलता, भाव या विचार की ऊँचाई से नही, प्रत्युत कला और कारीगरी की उच्चता से है। कविता कामायनी मे भी सफल हो सकती है और बिहारी सतसई में भी और दोनो सफलताएँ अपने-अपने स्तर पर अद्भुत और महान हैं।[४]

अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्व मम्मट ने भी नहीं माना था और आज का साहित्य शास्त्री भी नही मानता। किन्तु "भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्र" केशव की यह उक्ति आज भी अपनी सत्यता की ड्यौढ़ी पीटती ही है। विद्यापति संस्कृत की परिपाटी पर चलते है और बिहारी भी। पर विद्यापति, जैसा कि पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ, अलकारो की सजावट मे रम कर भी चित्र अकन या भाव-विन्यास मे लगे रहे। बिहारी को चित्र सजाने के लिए अलंकारो की परमावश्यकता थी। बिहारी के दोहो में एक ही साथ अनेक अलंकार मिले-जुले दीख पडेगे। पर वे अलंकार अलंकार ही है भार नहीं, वे भूषण हैं दूषण नहीं। असंगति का एक उदाहरण ले :

दृग अरुझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

ऐसे ही अनेक अलंकार हर दोहे मे प्राप्त होगे।

विद्यापति के पदों के सम्बन्ध में ग्रियर्सन का कथन है—"Even when the sun of Hindu-religion is set, when belief and faith in krishna, and in that medicine of desease of existence, the hymris of Krishna's love, is extinct, still of Krishna and Radha will never deminish."

बिहारी के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि जब तक मनुष्य में देह सौन्दर्य के प्रति आकर्षण रहेगा, नर का नारी के प्रति और नारी का नर के प्रति जैविक सम्मोहन-भाव रहेगा, तथा जब तक मनुष्य मे चित्रों के प्रति मोह एवं कला-कारीगरी के प्रति रुचि रहेगी और थोड़े मे बहुत कुछ कहने-सुनने की प्रवृत्ति रहेगी तब तक बिहारी के पाठकों की कमी नहीं होगी।

विद्यापति यदि किसी यमुना-तीर पर कुंज-कुटीर में ले जाकर 'रति सुवि-सारद' कृष्ण और केलि कला प्रवीण राधा के संयोग-वियोग मे हमारे मन को निम-ज्जित कर तन्मय करते रहेगे तो बिहारी भी हमे "संघन कुंज, छाया सुखद, शीतल मंद समीर" से युक्त यमुनातीर पर ले जाकर राधा की "वह चितवन औरे कछू जिहि बस होत सुजान" का दर्शन कराकर 'सरस राग रति रंग' के रस के छीटो से मन, प्राणों को एक हल्का झटका देकर सदैव रूप की प्यास जगाए रहेगे।

संदर्भ संकेत

१—दिनकर . रीतिकाल का नया मूल्यांकन 'अवन्तिका' : काव्यालोचनाक: पृ० १४६-४७

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृष्ठ २५१

३—गीताकार विद्यापति मे राम वाशिष्ठ द्वारा उद्धृत, पृ० १५८

४—अवन्तिका काव्यालोचना का पृष्ठ १४८

सतसईकार बिहारी और मतिराम

● डा० गोपीनाथ तिवारी

बहुत अधिक समय नहीं हुआ कि देव और बिहारी में कौन श्रेष्ठतर है, इस विषय पर बड़ा वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ था। पक्ष और विपक्ष मे पुस्तके लिखी गई। एक ने कहा, कहाँ बिहारी और कहाँ देव,[1] तो दूसरे ने कहा देव देव है, बिहारी वहाँ कैसे पहुँच सकता है[2] ? तथ्य यह है कि यह विवाद लहरो की गिनाई ही थी क्योंकि देव और बिहारी में साम्य तो बहुत ही कम है, विषमताएँ ही अधिक हैं। कहाँ बिहारी का लघुकाय दोहा और कहाँ देव का भीम शरीरी कवित्त, कहाँ बिहारी का उत्साहात्मक चमत्कार और कहाँ देव का भाव गाम्भीर्य, कहाँ बिहारी की स्वतन्त्र प्रकृति और कहाँ देव का आचार्यत्व से बंधा हुआ गुरु स्वभाव। देव अपने क्षेत्र के अधिपति हैं तो बिहारी अपने प्रांत के सम्राट। इसे कौन नहीं मानेगा कि शृंगारिक दोहों के लिखने मे बिहारी का स्थान अद्वितीय और अनुपम है। हाँ, यदि कोई इस क्षेत्र में खम ठोक कर सामने आता है, तो वह है 'मतिराम'। मतिराम पुकार कर घोषित करता है—'मेरी भी परीक्षा कीजिए, मेरे दोहों को भी देखिए, इनकी सरलता एवं स्वाभाविकता से भरा रूप-सौष्ठव निहारिए।' बिहारी और मतिराम मे अनेक विस्मयकर साम्य हैं। दोनो महाकवि समकालीन थे। बिहारी की सतसई का निर्माण १७०४ के लगभग हुआ। बिहारी सतसई के अन्तिम दोहो[3] मे बलख की लड़ाई का वर्णन है जो १७०४ में लड़ी गई थी।[4] मतिराम की सतसई का रचनाकाल १७१६ वि० है।[5] इसका निर्माण १५ वर्ष बाद हुआ। किन्तु दोनो सतसइयों मे आश्चर्यकारी समानताएँ दिखाई पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बिहारी की प्रसिद्धि ने मतिराम को प्रभावित किया था।

दोनो महाकवियो का छन्द दोहा है, दोहों के अलकरण पर भी दोनों ने बडा ध्यान दिया था। हाँ मूलभूत अन्तर है, दोनो की स्थापना मे, दोनों के कौशल मे। बिहारी ने वक्रता और चमत्कार पर ध्यान रखा है; मतिराम ने उसी बात को स्वाभाविक एवं सरल ढंग से कह दिया है। हाँ कल्पना को दोनों ही ने सजाया है। दोनों महाकवियों में निम्नलिखित क्षेत्रों में साम्य दिखलाई पड़ता है—विषय, भाव, उपमान, पद। दोनों ने सतसइयों में शृंगार का पल्ला पकड़ा है। बीच-बीच में भक्ति

और नीति का पुट भी दिया है। शृंगार के अनेक पक्षो का उद्घाटन दोनों ने विविध रूपो मे किया है। नायिकाओं का नख-शिख दोनों ने चित्रित किया है। बिना काजर की अँखियों पर दोनों ने नेत्र फेंके है। हाँ उन नेत्रो मे दोनों ने अपना व्यक्तित्व भरा ही है। बिहारी ने माधुर्य गुण एवं शब्द लालित्य का सहारा लिया है।[6] मतिराम ने नायिका की स्वाभाविक भूल की दाद दी है।[7] नायिका के वस्त्राभूषणों को दोनो ने बारीकी से निहारा है। नायक-नायिकाओं की क्रीड़ाओं (चोर मिहीचनी इत्यादि) को भी दोनो ने समेटा है। तो नायिकाओं की मुद्राओं को भी काव्य में उतार दिया है। बिहारीकी गवारिन और मतिराम की गँवारिन मे काव्य कौशल का अन्तर है, नही तो दोनो नागरी-नायिकाओं की प्रतिस्पर्धा मे उसे ला खड़ा किया है। बिहारी की गँवारिन हूज्यौ देकर इठलाती है। और नयन मार करती है[8] तो मतिराम की नायिका भी नयन-धनुहियो से तीर फेकती है।[9]

दोनो महाकवियो मे भाव साम्य भी बहुतायत से है। यह भाव साम्य दो क्षेत्रो मे दिखलाई पड़ता है—(१) भक्ति-क्षेत्र और (२) शृंगार-क्षेत्र।

(१) दोनो सतसइयो के मंगलाचरण मे एक सी भक्ति-भावना मिलती है। दोनों कवियों ने श्री राधिका जी से प्रार्थना की है। दोनो ने स्पष्ट किया है कि राधा जी की प्रार्थना हम इसलिए करते हैं कि राधा जी भगवान् कृष्ण से बढ़कर हैं। दोनों के कृष्ण राधा को देख फूल उठते हैं। अन्तर है दोनो की अपनी शैली का। बिहारी भव बाधा दूर कराते हैं तो मतिराम मन का अज्ञान। बिहारी ने श्लेष के बल पर दोहे मे अनेक अर्थ भर दिये हैं। प्रचलित अर्थों के अतिरिक्त वैद्यक और रंगपरक अर्थ लगाए हैं। श्लेष के अतिरिक्त सात-आठ अलंकार और भी सामने ही रक्खे हैं। अलंकार-चमत्कार के अतिरिक्त उक्ति का चमत्कार भी छिपा बैठा है—१—कबीर इत्यादि सन्तों ने नारी को भव की सबसे बड़ी बाधा माना है। बिहारी उससेभव-बाधा दूर कराते है। स्वयं आगे बिहारी ने भी उसे बाधा की है जिससे जीव ईश्वर के निकट नहीं जा पाता।[10] २—राधा बड़ी चतुरा हैं। वे किसी प्रकार भव-बाधा दूर कर ही देंगी।

३—बिहारी वैधक, रंगों का मिश्रण और कामोपचार जानते थे, यह भी इस दोहे से ज्ञात होता है। ४—गाँव की भोली-भाली ग्रामीण राधा को नगरवासिनी 'नागरी' बनाकर उससे भव-बाधा दूर करवाई है। औषधोपचार की सुविधा नगर में ही तो मिलती है। नागरिक बिहारी के लिए यह भी स्वाभाविक ही था। ५—'हरितद्युति' के अर्थ चमत्कार सर्व विदित हैं।[11] मतिराम ने अपने मंगलाचरण वाले दोहे में राधिका जी से मन के मनक्कार दूर करने की प्रार्थना की है।[12] सम्भ-

कार को सूर्य और चन्द्र दोनो हरते है। किन्तु महाकवि मतिराम हृदय के तम-तोम को राधा के मुखचन्द्र से दूर कराने की कामना करते हैं। चन्द्रमा शीतलता, सुधा और आनन्द देता है। राधिका का मुख चन्द्रमा ही हो सकता है, सूर्य नही। वह मुख पूर्ण चन्द्रमा है जिसे देख कृष्ण का आनन्द-सागर बढ़ जाता है। अलंकार और माधुर्य गुण तो दोहे मे है ही, सबसे बडी बात है सरलता और स्वाभाविकता। केवल भक्तिपरक अर्थ लगाता है। कवि उस राधा से अपने मन के अन्धकार को दूर करना चाहता है, जो कृष्ण को भी आनन्द देती है, उधर बिहारी की राधा कृष्ण का रंग बदल देती है, चमक छीन है, हरा-भरा बना देती है और श्यामता हर लेती है। ये सब सब गुण राधा में वा, राधा की छाया मे हैं। इस प्रकार दोनो सतसइयो में मगलाचरण दोहे एक से होते हुए भी अपनी विशेषताएँ साथ लिए हैं।

दोनो कवियों ने गोपाल को अपने हृदय मे बैठने के लिए निमत्रित किया है। दोनों ने कृष्ण को एक-सा गोप वेष किया है और फिर कृष्ण से इस वेष के साथ हृदय ही मे सदा रहने की प्रार्थना की है।[13]

दोनों ने सिर और उर के मुकुट और माला का वर्णन किया है। दोनो दोहो में भक्ति से अधिक शृंगार भाव प्रधान हो गया है। दोनो मे उक्ति चमत्कार है। मतिराम कहते हैं कि उर पर गुजमाल और सिर पर मोर मुकुट पहिने हुए, दो कुंजों मे बिहार करने वाले कृष्ण बिहारीपन की आदत छोडकर मेरे ही मन-रूपी-कुंजों में बिहार करिए। आप कुंज बिहारी हैं, मेरा मन भी कुञ्ज है। कुञ्ज के समान अन्धकार और एकात यहाँ भी है। अतः मेरे मन मे वास कीजिए। कवि, भक्त अथवा नायिका की उक्ति कही जा सकती है। मतिराम ने गोपवेश के दो ही चिन्ह प्रकट किये हैं—मंजु गुंज के हार उर और मुकुट मोर पद पुज। उधर बिहारीलाल ने गोपवेश के चार प्रतीक रखे हैं, मोर, मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उरमाल। बिहारी मे इस आकार की पूर्णता आ जाती है। 'बिहारीलाल' शब्द बड़ा चमत्कारपूर्ण है। बिहारीलाल कवि का नाम है। कवि कहता है, ऊपर दिए गोपवेश से मेरे मन मे बसिए। शृंगार परक अर्थ बडा सरस और व्यंग है; नायिका कहती है, ए लाल! लाल का अर्थ चमत्कार से भरा है। लाल का एक अर्थ है प्रिय, दूसरा लाल की भाँति अमूल्य और तीसरा अनुराग से भरे। सो ए लाल! तुम बिहारी हो, बिहार करने वाले हो। एक स्थान पर कभी रहते नहीं हो, बस इधर-उधर क्रीड़ा करते फिरते हो। तो अपना यह बिहारीपन अब छोड़ दो, नही तो बदनाम हो जाओगे। यह आदत सज्जन और बड़ों के लिए शोभनीय नही है। अब एक स्थान पर स्थिर होकर बैठो। अच्छा, एक स्थान पर रहकर अपनी आदत से मजबूर होकर

क्रीडा करना, बिहार करना चाहते हो तो मेरे मन में सदा के लिये बैठकर बिहार करो। तुम्हारे लिए यह स्थान सदा उपयुक्त है। कोई दूसरा न देख पाएगा, तुम्हें सुख मिलेगा, निन्दा भी न होगी। "सदा" शब्द भी चमत्कार पूर्ण है। नायिका कहती है—इस स्थान को कभी छोड़ना मत। दोहा उक्ति-चमत्कार का अच्छा उदाहरण है। उधर मतिराम में थोड़ी सी रूपक की शोभा है, नहीं तो सरलता है। भक्ति परक अर्थ भी हो सकता है।

शृंगार के क्षेत्र मे तो बिहारी और मतिराम का व्यक्तित्व और अधिक स्पष्ट है, यद्यपि साम्य भी मिलता है।

परकीया नायिका नायक के यहाँ कुछ लेने आती है और नायक के हृदय की स्थिति बदल जाती है, इस भाव को दोनों महाकवियों ने अपने-अपने ढंग से प्रगट किया है। साधारणतया समझा जाता है कि प्रेम बहने वाला पदार्थ है। प्रेम मे हृदय भी तरल हो जाता है वह लहरो की नाईं चञ्चल एवं तरङ्गित बन जाता है। किन्तु बिहारीलाल ने प्रेम को दही के समान जमवा दिया है। नायक के हृदय मे 'नेह' जम जाता है।[१४] जावन (दही) से दूध जमता है किन्तु यहां तो तेल या घी (नेहैं) भी उससे जम गया है। यह चमत्कार नहीं तो क्या है? इसके अतिरिक्त नायिका की हाव मुद्राएँ भी बड़ी सुन्दर हैं। नायिका जावनु लेकर चल दी। उसने आगे बढ कर बहाना किया—अरे मेरी कटोरी कहाँ गई? ऊँह! मेरा आँचल कहाँ अटक गया, अरी कल तू मेरे घर भी आना।" द्वार से आगे बढकर उसने मुस्कुराकर नायक की ओर देखा। बस नायक दर्दे दिल मोल ले बैठा, नेह जम गया। नायिका को जमाने का काम अपने घर मे करना था, परन्तु वही काम कर दिया, नायक के घर में।

मतिराम का दोहा भी कुछ इसी प्रकार है।[१५] इसमें नायिका प्रेम प्रकट करने के लिए नैन जोड़ती है, मुख मोड़ती है और हँसती है। अतः अनुभाव मुद्राएँ मानी जायेंगी। नायिका आग लेने नायक के घर आई थी, उसके हृदय में आग लगा गई। कुछ थोडा चमत्कार अवश्य है परन्तु बिहारी जैसा नहीं। आग लेने आई थी, लगाने नहीं। पर वह तो लगा गई। वह भी नायक के हृदय में। स्वाभाविकता भी है, प्रेम मे 'आग लगना या लगाना' प्रसिद्धी है और कवि परम्परा बन गया है। मतिराम ने नायिका की कई मुद्राओं का सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण किया है। पहिले नायक की ओर देखा, फिर कुछ लजा कर मुख मोड़ा, पुनः हँसी और थोड़ा सा प्रेम प्रकट कर दिया है।

प्रेम जगत मे नेत्रो का बडा महत्व है । नेत्र ही तो वे माध्यम है जो दिल पर नेह का बिरवा जमा देते है । ये नेत्र रूप को देखते हैं, पर इनकी प्यास नही बुझती अधिकाधिक देखने, निहारने और जोहने की इच्छा होती है । इस एक भाव को दोनो महाकवियों ने अपने-अपने दोहे मे भरा है । बिहारीलाल कहते है[१६] कि रूप की प्यास देखने से नही बुझती । इस दोहे के तीन प्रसंग हैं अतः अर्थ भी तीन हो जाते हैं (१) भक्त या कवि सगुण रूप का उपासक है । अत. कहता है—हे भगवान तुम्हारा सगुण रूप बडा सुन्दर (सलोना) है । ज्यों-ज्यो इस रूप को पीता हूँ और अधिक प्यास बढ़ती है । (२) नायक नायिका से कहता है—प्रिये तेरा रूप बडा सलोना (सुन्दर) है । वह रूप गुणो से भरा है । उसे जैसे-जैसे नेत्रो से पीता हूँ, प्यास बढ़ती ही है । नायक नायिका की दूती या सखी से भी उक्त कथन कर सकता है । (३) गोपिका कृष्ण से कहती हैं—तुम्हारा सगुण रूप तो है ही, वह बडा सुन्दर (सलोना) भी है । जैसे-जैसे मैं इसे नेत्रो से पीती हूँ, प्यास बढती ही है । गोपियां का तात्पर्य है कि हम तो तुम्हारे सगुण रूप को ही चाहती हैं । सलोना शब्द बडा अर्थपूर्ण है—सलोने का अथ है लावण्यमय । नमक से अधिकाधिक प्यास लगती है । इसी प्रकार रूप देखने से प्यास बढ़ती हैं । मतिराम भी इसी भाव को व्यक्त करते हैं ।[१७] सीधा प्रसंग है और सीधा अर्थ । सखी नायिका मे कहती है—पिय के नैन तेरी कोमल मुस्कानि पीते रहते हैं, बराबर देखते रहते है । बड़ा आश्चर्य है, हे चन्द्रमुखी, उसके नेत्रो की प्यास कम नही होती । चन्द्रमा भी बार-बार देखा जाता है । अतः चन्द्रमुखी भी बार-बार देखी जाती है । चन्द्रमा का आकर्षण नायिका के मुख मे है ।

दोनों महाकवियों ने विरहाग्नि से भरी नायिका की दयनीय दशा का चित्रण किया है । नेत्रो का अनवरत प्रवाह विरह-आग को शान्त नहीं कर रहा है । यही वर्णन दोनो के दोहो मे हुआ है । तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी का ध्यान चमत्कार के मोह में फँसा है तो मतिराम वैज्ञानिक स्वाभाविकता का आश्रय लेता है, बिहारी कहता है,[१८]---हे लाल ! तूने मेरी सखी को सबसे अद्वितीय वियोग-अग्नि दी है जो असीम है और समाप्त हो जाने पर नहीं आती है । भंयकर से भयकर आग वर्षा के जल से बुझ जाती है । किन्तु यह आग नहीं बुझती है । पानी बरसता है तो वह आग और सरसती—फैलती है—मानों घी पड़ रहा है एवं उस आग की लपटें (आदि) पानी की झडी (झर) से ही नही मिटती है । कैसा आश्चर्य है ! उधर इसी भाव का चित्रण मतिराम का देखिए[१९]—महाकवि मतिराम के नेत्रो से नदी नहीं बहवाई, वरन् समुद्र प्रवाहित कराया है । एक वैज्ञानिक तथ्य है कि सागर के पेट में बड़वाग्नि जीवित है । वियोग की आग यही आग है । नयनों का

सागर वियोग की बडवाग्नि को नहीं बुझा पाता है। चमत्कार लाते हुए भी स्वाभाविकता की रक्षा की है। नेत्रों से बहा हुआ सागर अथाह है, उधर बिहारी की अग्नि अपार थी। निश्चय ही मतिराम के सागर की 'अपारता' अधिक स्वाभाविक है क्यो कि सागर का नाम ही है "वारापार"। बिहारी के आर-पार आग अपार है। इस प्रकार भाव साम्य होते हुए भी दोनो महाकवियों की वर्णन शैली में बहुत अन्तर है। एक उक्ति की वक्रता को पकड़े हुए है तो दूसरा स्वाभाविकता लिए है। यदि मतिराम ने वक्रता कहीं भी है तो भी बिहारी के सामने वक्रता अल्प है।

उपमान साम्य :—इसमें भी यह अन्तर देखा जा सकता है। दोनों महाकवियो ने नायिका की देह को "दीपशिखा सी" माना है। दोनो की कथन शैली देखिये। बिहारी कहते हैं[२०]—कि नायिका का शरीर 'दीपशिखा' के समान है—जिसके आभूषण भी बड़े चमकदार हैं। परिणाम यह है कि घर में दीपक बढ़ा दिये जाने पर भी प्रकाश बना रहता है। अलकारों की छटा के अतिरिक्त अर्थ सम्बन्धी चमत्कार भी उपस्थित है। दिया क्यो बढाया जाता है—(१) तेल के पैसे बच जाते हैं, (२) नायक रति प्रसंग में दीपक बुझा देता है, (३) नायिका की इस प्रसिद्धि की परीक्षा की जाती है कि उसका शरीर सदा चमकता है और प्रकाश देता है। उस मुहल्ले के पाठक पुस्तक पढ़ने का काम उसी प्रकाश मे करते होंगे। एक शंका अवश्य उठ खडी होती है। सम्भव है—यह आभूषणों ही की करामात हो। सो बात नही है। यही नायिका एक बार कृष्णाभिसारिका बनी।[२१] काले वस्त्र पहिन लिए। घनघोर अंधेरी रात्रि थी। बेचारी चल तो दी, बड़ी दुर्गति हुई। वह अपने को काले वस्त्रों मे छिपा न सकी क्योंकि उसकी "दीपशिखा सी देह" दूर तक प्रकाश फेंक रही थी।

मतिराम भी इसी उपमान को पकड़ कर कहते हैं[२२] वास्तव में तेरी देह 'दीपशिखा सी' है। क्यों? दीपशिखा दिन मे पीली पड़ जाती है, दुर्बल बन जाती है परन्तु रात्रि मे तेल पाकर चमक उठती है। यही हाल तेरी देह का है। यह दिन मे प्रिय से अलग होकर पीली पड़ जाती है, मुरझा जाती है। परन्तु रात्रि मे पति का नेह पाकर सुन्दर बन जाती है। दोहा स्वाभाविकता से युक्त है। एक दूसरे स्थान पर मतिराम कहते हैं[२३] मैं देह को दीपशिखा के समान अवश्य बताता हूँ, किन्तु दोनों में एक अन्तर भी है। देह दीपशिखा के समान होते हुए भी कुछ अपनी विशेषता लिए है। दीपक में प्रकाश होता है। परन्तु उसकी ओर घरवाले विशेष ध्यान नहीं देते। परन्तु देह जैसे-जैसे चमकती है, वैसे-वैसे नायक का नेह (प्रेम) बढ़ता जाता है। (२) दूसरा भाव यह भी हो सकता है। जैसे-जैसे दीपक जलता है, वैसे-वैसे

उसमें तेल की मात्रा बढ़ाई जाती है। इसी प्रकार नायिका की देह सुन्दर होती जाती है। तो उसका स्नेह भी बढ़ता जाता है। (३) नायिका की देह दीप-शिखा सी तो है किन्तु यह दीपशिखा भिन्न प्रकार की है। क्यों? साधारण दीप-शिखा जलती है तो तेल घटता जाता है। यह देह चमकती है तो स्नेह बढ़ता जाता है। तीसरे अर्थ में अलंकार प्रयोग की विशेषता प्रकट की गई है।

दोनों महाकवियों ने 'जल चादर दीप' उपमान ग्रहण करके नायिका का सुन्दर वर्णन किया है।[२४] बिहारी कहते है—नायिका ने श्वेत साडी पहिन रखी है जो पाँच तोले की है उससे नायिका के शरीर की शोभा ऐसी प्रतीत होती है जैसी कि जल चादर के पीछे दीपकों की शोभा। पाँच तोले की साड़ी कहने में बिहारी ने चमत्कारिक ढङ्ग पकड़ा है। बिहारी का भाव है (१) नायिका कोमलांगी है अतः पाँच तोले या एक छँटाक भार की साड़ी पहिन रखी है, (२) कामदेव के पाँच बाणों की तुलना में पाँच तोले की साड़ी ही उपयुक्त है। (३) पाँच तोले वाली साड़ी से व्यंजना की गई है कि साड़ी इतनी महीन है कि जल चादर दीपों के समान नायिका के अंग दिखलाई पड़ते है। मतिराम ने इसी उपमान को ग्रहण कर कहा है[२५] बरौनियो से बहते आँसू जलचादर का रूप लिए हैं। स्वच्छ कपोल की चमक दीपक है। इस प्रकार आँखो से बह कर आँसू कपोल पर होकर जाते है। आंसू के पीछे कपोल ऐसी शोभा गहती है मानो जल-चादर के पीछे दीपक दिखाई दे रहा है। कपोलो पर बहते श्वेत आंसुओं का स्वाभाविक उपमान है। उधर बिहारी पँचतोलिया साडी को जलचादर बताते है और नायिका के सभी अंगों को दीपक बताते हैं। यह दोनो कवियों की दृष्टि का अन्तर है।

दोनो कवि नायिका के नेत्रो को मृग मानकर उनसे आखेट कराते है। बिहारी कहते है—कामदेव बड़ा निपुण शिकारी है। उसने अद्भुत शिकार खेलना सिखाया है। संसार में नगर के रहने वाले काननचारी मृगो का शिकार खेलते है। किन्तु यहाँ विपरीत अवस्था है। काननचारी (श्लेष में कानों तक फैले हुए) नैन-रूपी मृग चतुर मनुष्यों का शिकार खेलते हैं।[२६] ये मृग मूर्खों पर नहीं, नगर के रहने वाले असुरों पर वार करते है। बिहारी ने नगर के रहने वालों की शृंगारिक प्रवृत्ति पर भी व्यंग किया है। मतिराम ने भी नायिका के नेत्रों को मृग बताया है[२७]। ये नयन रूपी हरिन शिकार खेलते हैं। किन्तु इनके आखेट में स्वाभाविकता है। चमत्कार नही। ये मृग, मृगों के शिकार मे सहायता देते हैं। कामरूपी बहेलिया एक पाश लिए है। वह नायिका के नयन-मृगो के द्वारा नायक के नयन-मृग को पकड़ता है।

केवल मृग ही नहीं, दोनों ने नायिका के नेत्रों को मुँह जोर तुरंग[२८] माना है और सुभट वीर योद्धा[२९] भी बताया है। तुरंग और सुभट बन गए नेत्रों का तब वाण

भी बनाना ही चाहिये ।[30] ऐसे अनेक उपमान दोनों में मिलेंगे जो बहुत समानता रखते हैं। साम्य रखते हुए भी दोनों की शैली बड़ी भिन्न है।

उपमान साम्य ही नहीं, दोनों में पदों की समानता भी मिलती है।

(क) लाज लगाम न मानहीं नैंना मो बस नाहि,
ये मुँह जोर तुरग लौं ऐंचत हूँ चलि जाहि। (बिहारी)
मानत लाज लगाम नहिं, नैकु न गहत मरोर
होत तोहि लखि बाल के, द्दग तुरंग मुँह जोर (मतिराम)

(ख) जासौं लागैं पलक द्दग, लागै पलक पलौन ।। (बिहारी)
नवल बाल पलका परी, पलक न लागत नैन (मतिराम)

(ग) वह चितवनि औरैं कछू, जिहिं बस होत सुजान (बिहारी)
औरै कछु चितवनि चलनि, औरै मृदु मुस्कानि (मतिराम)

पदो और शब्दों का साम्य यह स्पष्ट करता है कि बिहारी का प्रभाव मतिराम पर अवश्य पड़ा था। हम यह तो नहीं कह सकते कि मतिराम जैसे समर्थ कवि ने बिहारी से पद और शब्द उठा लिए हैं। भाव एवं उपमान साम्य के कारण भी शब्द साम्य आ गया है। अनजाने रूप से भी बिहारी के प्रभाव ने यह काम करा दिया है। जब हम किसी कृति से प्रभावित होकर उसे पचा जाते हैं तो लिखते समय उसके कुछ पद एवं शब्द प्रतिफलित हो जाते हैं। बिहारी में गाथा सतशती, आर्या सप्तशती एवं अमरु शतक के भाव, विचार, विषय एवं कहीं-कहीं शब्द भी आ बैठे हैं।

संदर्भ संकेत

१—बिहारी और देव, ले० लाला भगवानदीन।

२—देव और बिहारी, ले० कृष्णबिहारी मिश्र।

३—बिहारी रत्नाकर, सतसई सप्तक एवं मानसिंह टीका का ७११ वाँ दोहा।

४—सतसई सप्तक (सं० डा० श्यामसुन्दरदास) प्र० सं० भूमिका पृ० २५।

५—संवत् ग्रह ससि जलधि छिति, छठ तिथि वासर चन्द
६ १ ७ १

६—रस सिगार मंजन किए, कंजन भंजन दैन,
अंजन रंजन हूँ बिना, खंजन गंजन नैन ॥ (बि०)
७—सखी सलोनी देह मैं, सजे सिंगार अनेक,
कजरारी अँखियान मैं भूल्यौ काजर एक ॥ (म०)
८—गदराने तन गोरटी, ऐपन आड़ लिलार।
हूठ्यौ दै इठलाय दृग करै गँवारि सुमार॥
९—नागरि नैन कमान सर करत न ऐसी पीर।
जैसी करत गँवारि के दृग धनुही के तीर। म० स० ५
१०—या भव पारावार कौं उलंघि पार को जाय।
तिय छबि छाया ग्राहिनी गहै बीच ही आय॥
११—मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परै स्याँम हरित दुति होय॥
१२—मो मन तम तोमहि हरौ राधा को मुख चन्द।
बढ़ै जाहि लखि सिन्धु लौ नन्दनन्दन आनन्द॥
१३—मोर मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
इहि बानक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल॥ (बिहारी)
मंजु गुज के हार उर मुकुट मोर पर पुज।
कुंजबिहारि निहारिये मेरेई मन कुंज॥ (मतिराम)
१४—फेरु न छुक करु पौरि तैं, फिरि चितई मुसकाय।
आई जामन लैन तिय, नेहै गई जमाय॥
बि० बो १८२
१५—नैन जोरि मोरि हँसि, नैसुक नेह जनाइ।
आगि लैन आई हियैं, मेरे गई लगाइ॥ (मतिराम)
१६—त्यौं-त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं-ज्यौं पियत अघाय।
सगुन सलोने रूप की जु न चख तृषा बुझाय॥ बि० र० ४१७
१७—पियत रहत पिय नैन यह तेरी मृदु मुसक्यानि।
तऊ न होत मयक मुखी तनक प्यास की हानि॥ मति०
१८—लाल तिहारे बिरह की, अगिनि अनूप अपार।
सरसै बरसै नीरहू, झरहू मिटै न झार॥ (बिहारी)
१९—नारि मैन के नीर को, नीरधि बढ़ै अपार।
जरै जौ न वियोग कै बड़वानल को झार॥ (मतिराम)
२०—अंग अंग नग जगमगै, दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाए हूँ रहै, बड़ौ उजारौ गेह॥ बि० बो० १४७

२१— निसि अँधियारी की लपट, पहिरि चली पिय गेह।
कहो दूराई क्यो दुरै, दीपसिखा सी देह।। मति०
२२—सखी तिहारी साँच यह दीपसिखा सी देह।
दिन दीपति पियराति है, अधिक राति रति नेह।।
२३—तेरी औरै भाँति की दीपसिखा सी देह।
ज्यौं-ज्यौ दीपत जगमगै, त्यौ-त्यौं बाढ़त नेह।। मति०
२४—सहज सेत पँचतोरिया पहिरत अति छबि होति।
जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन जोति।।
बि० बो० १२१
२५—अँसुआ बरुनी ह्वै चलत जलचादर कै रूप।
अमल कपोलनि की झलक झमकति दीप अनूप।। मति०
२१—निसि अँधियारी की लपट, पहिरि चली पिय गेह,
कहौ दुराई क्यो दुरै, दीपसिखा सी देह। मति०
२२—सखी तिहारी साँच यह दीपसिखा सी देह।
दिन दीपति पियराति है, अधिक राति रति नेह।। मति०
२३—तेरी औरै भाँति की दीप सिखा सी देह।
ज्यौं-ज्यौं दीपति जगमगै, त्यौं-त्यौं बाढत नेह।।मति०।।
२६—खेलन सिखए अलि भले चतुर अहेरी मार,
काननचारी नैन मृग नागर नरनि सिकार। (बिहारी)
२७—खेलत मार सिकार है जोरे पास समेत।
नैन मृगनि सों बाँधिकै नैन मृगनि गहिलेत। मति०
२८—बि० बोधिनी २७४, मतिराम सतसई ३७३
२९—बि० बोधिनी ६८ " ३२९
३०—बि० बो० २२६ व ७३ सतसई सप्तक में मतिराम सतसई।

ब्रजभाषा में सतसई की परंपरा

● डा राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी

सतसइयों के सम्बन्ध में चार बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है—(१) वे मुक्तक-काव्य हैं, (२) उनकी परम्परा प्राकृत से प्रारम्भ हुई थी, (३) इनकी रचना दोहा छन्द में हुई है, तथा (४) इनमें छन्दों (दोहो) की संख्या सात सौ, पर बल दिया गया है।

रचना शैली के विचार से काव्य दो प्रकार का होता है, प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध-काव्य में एक आदर्श रख कर किसी लोक प्रचलित कथा के आधार पर एक कथा लिखी जाती है और उसमे जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित घटनाओ का समावेश रहता है इसके छन्दों में पूर्वापर सम्बन्ध रहना अनिवार्य है। प्रबन्ध का समस्त सौन्दर्य प्रबन्ध कल्पना पर अवलम्बित रहता है। प्रसंग का थोडा सा भी अनौचित्य उसकी रस-सिद्धि पर व्याघात कर देता है।

मुक्तक काव्य में प्रत्येक पद्य का प्रथक् अस्तित्व है और वह स्वयं पूर्ण रहता है। मुक्तक के छन्द स्वतन्त्र रूप से अपने समस्त भावों को बिना किसी बाहरी सहायता के व्यक्त करने मे पूर्णतया समर्थ रहते हैं। इस सम्बन्ध मे आनन्दवर्द्धन का मत उल्लेखनीय है—

"पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्" (ध्वन्यालोक) अर्थात् पूर्वापर प्रसंग के लिए, और पद्यों का सहारा न होने पर भी जिसमे रस की अभिव्यक्ति हो जाए उसे मुक्तक कहते हैं।

हमारे विचार से मुक्तक के अन्तर्गत "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्ति." भाव, विभाव, अनुभाव वाले भरत मुनि के सूत्र के आधार पर 'रस-सिद्धि' अत्यन्त कठिन है अथवा वाग्वैदग्ध के द्वारा मुक्तक का सौन्दर्य-साधन हो जाता है

देर के लिए खिल उठती है । आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है ।" सभा समाज की शोभा के हेतु वनस्थली का आयोजन नहीं किया जा सकता है, इसके लिए तो गुलदस्ता ही उपलब्ध किया जा सकता था । बस मुक्तको के लोकप्रिय होने का यही कारण है । राजाओ, महाराजाओ की सभाओ तथा कवि-मण्डलियों में प्रबन्ध-पाठ के लिए समय मिलना कठिन था । वहाँ सम्मान पाने के लिए मुक्तक का ही आश्रय ग्रहण किया जा सकता है । निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते हैं कि सभा-समाजो की चहल-पहल के कारण मुक्तक-काव्य का विशेष प्रचार हुआ । इन्ही मुक्तको के संग्रह विभिन्न शतक, सप्तशती, सतसई आदि मे मिलते हैं ।

आर्यों के प्राचीन साहित्य मे दो प्रकार की रचनाएँ विशेष रूप से मिलती हैं :

(१) आध्यात्मिकता अथवा ज्ञान-कांड सम्बन्धी, और (२) कर्मकाड संबंधी । प्रथम के अन्तर्गत उपनिषद, दर्शन तथा बौद्धों और जैनियो के धर्म-ग्रंथ उल्लेखनीय हैं । द्वितीय के अन्तर्गत ब्राह्मण-ग्रंथ, गृहसूत्रादि, प्राचीन स्मृतियाँ एवं पौराणिक साहित्य आता है । इन रचनाओ का दृष्टिकोण धार्मिक था और वे प्रायः पंडित वर्ग तक सीमित थी ।

विक्रम संवत के आसपास एक तीसरे प्रकार के साहित्य का श्री गणेश हुआ । इसमें ऐतिहासिकता-पूर्ण सरस कवित्व का प्राधान्य था । जनकवि-विरचित सरस कवित्व-पूर्ण मुक्तकों, छोटे-छोटे पदो द्वारा जनसाधारण का मनोरंजन ही इसका उद्देश्य था । आध्यात्मिकता और कर्मकांड से उसका कोई सम्बन्ध न था ।

लौकिक काव्य की ये रचनाएँ सर्वप्रथम जन-साधारण की भाषा 'प्राकृत' मे हुईं । इस प्राकृत को वैयाकरणो ने 'महाराष्ट्र प्राकृत' कहा है । इन सरस रचनाओं का सर्वप्रथम ग्रन्थ 'गाहा-सत्तसई' है । इसके रचना काल के सम्बन्ध में विद्वानो में मतभेद है, परन्तु यह निर्विवाद है कि इसका संकलन विक्रम के प्रथम शतक आन्ध्र-राजघराने के शातवाहन के वंशज राजा हाल द्वारा किया गया था । संकलन-कर्ता ने लिखा है कि उस समय १ करोड के लगभग गाथाएँ प्रचलित थीं । उनमें से चुन कर सात सौ गाथाएँ इस संकलन मे संग्रहीत हैं । संभव है उक्त कथन मे कुछ अतिशयोक्ति हो, परन्तु इस प्रकार की प्रचलित गाथाओ का एक नरेश द्वारा संकलित किया जाना उनके महत्व, मूल्य एवं उनकी लोक-प्रियता का परिचायक है ।

जनसाधारण की भाषा 'प्राकृत' में ऐसी सरस एवं लोकप्रिय रचनाओं का बाहुल्य होने पर पंडितो का ध्यान भी उस ओर गया और संस्कृत भाषा में भी इस प्रकार की रचनाएँ होने लगीं ।

संस्कृत में की गई इस प्रकार की काव्य-रचना का सर्व-प्राचीन स्वरूप हमे (अमरुक) कवि की रचना—'अमरुक शतक' मे दिखाई पड़ता है। इसके पूर्व की रचनाएँ यदि थी, तो वे अप्राप्य हैं। अमरुक का समय ६वी शती से कुछ पूर्व ठहरता है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन (१०वीं शती) ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है तथा इसकी गणना सर्वोत्तम मुक्तक रचना के रूप मे की है।

अमरुक की कविता मनोरम शृंगार से आकण्ठ भरी हुई है। इसमे प्रेम का सजीव चित्रण किया गया है। कामी और कामिनियों की विभिन्न अवस्थाओ से उत्पन्न मनोवृत्तियो का सूक्ष्म विश्लेषण करके मनोरम विवरण प्रस्तुत करना 'अमरुक शतक' की सबसे बड़ी विशेषता है। अमरुक के विषय में यह कहा जाता था कि उसके एक-एक छन्द के ऊपर सौ-सौ प्रबन्ध काव्य न्यौछावर हैं—"अमरुक कवेरेक: श्लोक: प्रबन्धशतायते।"

प्राकृत की 'गाथा-सतसई' तथा अमरुक की संस्कृत-रचना 'अमरुक-शतक' के समान गोवर्द्धनाचार्य की 'आर्या-सप्तशती' एक अन्य प्रसिद्ध रचना है। इसका रचना काल विक्रमी संवत् की १२वी शती के अन्तिम चरण (११७३) के आस-पास माना जाता है। गीत-गोविन्द के रचयिता जयदेव तथा गोवर्द्धनाचार्य समकालीन थे और दोनों ही बंग देश के अन्तिम राजा लक्ष्मण सेन के आश्रित थे।

'आर्या-सप्तशती' की रचना के पहिले आर्या जैसे छोटे छन्द मे किसी अन्य कवि ने ऐसा लाघव नहीं दिखाया था। 'आर्या-सप्तशती' में शृंगार रस के संयोग और वियोग, दोनो ही पक्षों से सम्बन्धित कुशल एवं सजीव वर्णन हैं। गोवर्द्धनाचार्य ने नायिकाओं की नाना प्रकार की चेष्टाओ के अत्यन्त मार्मिक वर्णन लिखे हैं।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए। गोवर्द्धनाचार्य ने 'गाथा-सतसई' की ही देखा-देखी संस्कृत मे 'आर्या-सप्तशती' लिखी थी। उन्होंने स्वयं कहा है :

वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूपनीरा कलिंदकन्येव गगनतलम्॥

अर्थात् "वाणी प्राकृत में ही रसीली लगती है, उसे मैं बलपूर्वक संस्कृत में बदल रहा हूँ। नीचे बहने वाली यमुना को आकाश की ओर ले जाने का प्रयत्न कर रहा हूँ।" 'आर्या-सप्तशती' में विषय और छन्द-संख्या, दोनों ही दृष्टियों से गाथा सतसई का अनुकरण किया गया है। केवल एक अन्तर है। गाथाओं में पाई जाने वाली वन्य सुकुमारता का आर्याओं में सर्वथा अभाव है। आर्याओं को नायिकाओं में नागरिक जीवन की कृत्रिमता आ गई है।

ब्रजभाषा (हिन्दी) में दो प्रकार की सतसइयाँ पाई जाती हैं—(१) नीति, सुभाषित अथवा सूक्ति-सतसइयाँ और (२) शृंगार सतसइयाँ। प्रथम के अन्तर्गत

रहीम, तुलसी और वृन्द की सतसइयाँ आती है तथा द्वितीय के अन्तर्गत बिहारी सतसई, मतिराम-सतसई, रसनिधि-सतसई, राम-सतसई और विक्रम-सतसई आती हैं। रसनिधि ने 'रतन-हजारा' लिखा था। उसका संक्षिप्त संस्करण रसनिधि-सतसई कहलाने लगा है। एक धार्मिक ग्रन्थ दुर्गा-सप्तशती भी मिलता है। आधुनिक काल में 'वियोगी हरि' ने 'वीर-सतसई' लिखी है। इस प्रकार ब्रजभाषा-साहित्य-सागर में अनेक सतसइयाँ पाई जाती हैं।

शृंगार-सतसई की परम्परा बिहारी से प्रारम्भ होती है। शेष सतसइयाँ उन्हीं के अनुकरण पर लिखी गई हैं। बिहारी गाथा-सतसई, आर्या सप्तशती तथा 'अमरुक-शतक' से भली प्रकार प्रभावित हुए थे।

बिहारी के बहुत से दोहे अपभ्रन्श के दोहों से भी मिलते हैं।

बिहारी के पहिले भी हिन्दी मे शृंगार रचना होती थी। रहीम के ग्रन्थ 'नगर-शोभा' में बराबर शृंगार के दोहे मिलते हैं। रहीम ने सतसई लिखी थी या नहीं, इस सम्बन्ध में मतभेद है। रहीम सतसई के लगभग आधे छन्द मिलते हैं।

बिहारी के पहिले कृपाराम ने अपनी 'हित-तरंगिणी' में लिखा था कि :

बरनत कवि सिंगार-रस, छन्द बड़े बिस्तारि।
मैं बरन्यौं दोहान बिच, यातें सुघर बिचारि॥

वास्तव में बात यह है कि दोहा जैसे छोटे छन्द को एक प्रकार से समास-पद्धति के चमत्कार-प्रदर्शन, वाग्वैदग्ध एवं काव्य-कौशल का माध्यम माना गया है। अनेक कविजनों ने दोहा-रचना की प्रशंसा की है। यथा :

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यौं रहीम नट कुंडली, सिमिट कूदि चलि जाहिं॥
रूप कथा पद चारु पट, कंचन दोहा लाल।
ज्यौं-ज्यौं निरखत सूक्ष्म-गति, मोल रहीम बिसाल॥

—रहीम

मनिमय दोहा दीप जहँ उर-घर करै प्रकास।

—तुलसी

बिहारी ने दोहा-रचना में चरम सफलता प्राप्त की है। दोहा जैसे छोटे छन्द मे भाव-व्यंजना करने में वह बेजोड़ हैं। इन्होंने सचमुच ही 'गागर में सागर' चरितार्थ किया है।

बिहारी के दोहों के विषय में प्रचलित यह लोकोक्ति सर्वथा सार्थक है :

सतसइया के दोहरे, ज्यौं नावक के तीर।
देखन मे छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर।।

'सतसई' संस्कृत 'सप्तशती' का रूप है। मुक्तकों को सौ के बन्धन मे बाधने की परम्परा सी चली आती है। मुक्तको के संग्रहो मे सात सौ की संख्या के लिए सबसे अधिक आग्रह दिखाई देता है। रसनिधि ने 'हजारा' लिखकर मुक्तक को 'हजारी' का पद देने का प्रयत्न किया, परन्तु वह लोक को रुचिकर न हुआ और 'हजारी' का निर्माण कम कवियों ने ही किया है। सात सौ से कुछ अधिक पद्य रहने पर भी संग्रह को 'सतसई' ही कहा जाता है। मन्त्र-साहित्य में भी सात सौ की संख्या को ही महत्व दिया जाता है। हो सकता है कि अनुप्रास-प्रियता, सतसई शब्द का श्रुति-माधुर्य उसकी लोक-प्रियता का कारण बन गया हो।

सूक्ति-सतसई—सतसइयो के दो भेद हैं, सूक्ति-सतसई और शृंगार-सतसई। सूक्ति का प्रधान उद्देश्य है उपदेश। नित्य प्रति की बातों को सूक्तिकार एक ऐसे मार्मिक ढंग पर कहता है कि वह हृदय पर सीधा प्रभाव डालने में समर्थ होता है। सूक्ति या सुभाषित का अर्थ है 'अच्छा कथन' और इसके अन्तर्गत सामाजिक, नैतिक, धार्मिक तथा पारमार्थिक तथ्यों को एक नवीन एवं विशेष ढंग से कह कर उपदेशात्मक बना दिया जाता है। इसके लिए आवश्यक है कि सूक्तिकार प्रत्युत्पन्नमति एवं वृहत् ज्ञान भण्डार से युक्त हो। दृष्टांत सूक्तिकार का सबसे बड़ा बल है। तुलसी और वृंद की सतसइयाँ सूक्ति सतसई हैं।

तुलसी-सतसई—(जन्म सम्वत् १५८९) इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता के बारे मे विद्वानों मे मतभेद है। दोहावली के लगभग डेढ सौ दोहे (सतसई) में मिलते हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'सतसई-सप्तक' मे इसे सर्वथा प्रामाणिक ग्रन्थ माना है और उन्होने तुलसी-सतसई का इस प्रकार विवेचन किया है—"तुलसी-सतसई मे सात सर्ग हैं। प्रथम सर्ग मे भक्ति विषयक दोहे है, द्वितीय में उपासना पराभक्ति के, तीसरे मे सांकेतिक वक्रोक्ति से राम-भजन किया है। चौथे, पाँचवे और छठे मे क्रमश: आत्म-बोध, कर्म-सिद्धान्त और ज्ञान-सिद्धान्त सम्बन्धी दोहे और सातवें सर्ग के दोहो मे राजनीति का निरूपण किया गया है।" सूक्ति की कसौटी पर गोसाईं जी के दोहे सर्वथा खरे उतरते है, उनमें महान् तथ्यों का कथन है—

ज्ञान गरीबी गुरु धरम, नरम बचन निरमोख।
तुलसी कबहुँ न छाँडिए, सील, सत्य संतोख।।१।।

स्वामी होनो सहज है, दुरलभ होनो दास।
गाडर लायो ऊन को, लाग्यो चरन कपास।।२।।

बरखत हरखत लोग सब, करखत लगै न कोइ ।
तुलसी भूपति भानु सम, प्रजा भाग बस होइ ।।३।।

हरे चरहिं तापहिं बरे, फरे पसारहिं हाथ ।
तुलसी स्वारथ मीत जग, परमारथ रघुनाथ ।।४।।

वृन्द-सतसई—(जन्म सम्वत् १७२० के आस-पास) नीति पर इनके दोहे सर्वाधिक प्रचलित है । उनमे सर्वत्र एक रस-विदग्धता है । वृन्द की भाषा सरल, मुहावरेदार तथा कहावतो से पूर्ण है । यथा :

बुरे लगत सिख के बचन, हिए बिचारो आप ।
करुवे भेषज बिन दिये, मिटे न तन को ताप ।।१।।

अपनी पहुँच बिचारि कै, करतब करिए दौर ।
ताते पाँव पसारिए, जेती लांबी सौर ।।२।।

अति परिचै ते होत है, अरुचि अनादर भाय ।
मलयागिरि की भीलनी, चन्दन देत जराय ।।३।।

सबै सहायक सबल के, निबल न कोउ सहाय ।
पवन जगावत आग को, दीपहिं देत बुझाइ ।।४।।

रहीम-सतसई—(जन्म सम्वत् १६१०) अब्दुर्रहीम खानखाना वृन्द की टक्कर के ही सूक्तिकार है । इनकी सतसई की प्रामाणिकता के बारे मे भी मतभेद है इनके लिखे हुए लगभग साढ़े तीन सौ दोहे मिलते हैं । इनकी सूक्तियो के दृष्टान्त बेजोड हैं :

काज परे कछु और है, काज सरे कछु और ।
रहिमन भाँवर के भए, नदी सेरावत मौर ।।१।।

रहिमन चाक कुम्हार को, माँगे दिया न देइ ।
छेद में डंडा डारि के, चहै नाँद लइ लेइ ।।२।।

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ मागन जाँइ ।
उनते पहिले वे मरे, जिन मुख निकसत नाँइ ।।३।।

उरग, तुरंग, नारी, नृपति, नीच जाति हथियार ।
रहिमन इन्हें सँभारिए, पलटत लगै न बार ।।४।।

इनके अतिरिक्त शृंगारी कवियो ने भी नीति-सम्बन्धी सूक्तियाँ लिखी हैं । 'बिहारी-सतसई' एवं 'मतिराम-सतसई' की कई सूक्तियां तो खूब प्रचलित हैं -

(अ) बिहारी :

जौ चाहै चटक न घटै, मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइए, नेह चीकने चित्त ।।१।।

बढ़त-बढ़त सम्पति-सलिल, मन-सरोज बढ़ि जाय।
घटत-घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाय ।।२।।

(ब) मतिराम :

राधा मोहन-लाल कौ, जाहि न भावत नेह।
परियो मुठी हजार दस, ताकी आँखिन खेह ।।१।।

अद्भुत या धन को तिमिर मो पै कह्यौ न जाइ।
ज्यौं-ज्यौं मनिगन जगमगत, त्यौं-त्यौं अति अधिकाई ।।२।।

शृङ्गार-सतसई—'रचना-चमत्कार आ जाने से सूक्ति का उद्देश्य पूरा हो जाता है, किन्तु शृंगार-रस-परक कविता में रस-सिद्धि आवश्यक है। अतः शृंगार-सतसइयाँ 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के उदाहरण स्वरूप समझी जानी चाहिए।

सर्वत्र व्याप्त एवं रसराज होने के कारण शृंगार-रस-परक कविता सर्वप्रिय होती हैं। शृंगार-सतसइयों के इतने अधिक प्रचार का कारण शृंगार-रस की लोकप्रियता ही है। इस कोटि के अन्तर्गत बिहारी-सतसई, मतिराम-सतसई, रसनिधि-सतसई, राम-सतसई तथा विक्रम सतसई, ये पाँच सतसइयाँ आती हैं।

शृंगार सतसइयों की परम्परा बिहारी-सतसई से प्रारम्भ होती है। उत्कृष्टता की दृष्टि से भी बिहारी-सतसई का स्थान प्रथम है। महाराज जयसिंह की आज्ञानुसार बिहारी लाल ने 'सतसई' की रचना की थी।

हुकुम पाय जयसाहि कौ, हरि-राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद ।।

अब हम प्रत्येक 'सतसई' के कुछ दोहे उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

बिहारी-सतसई—(जन्म सम्वत् १६५२) रसिक-समाज में सबसे अधिक सम्मान बिहारी-सतसई का है। काव्य रीति के प्रत्येक अंग-उपांग की विशेषताएँ उसमें मिलती हैं, एक ही दोहे में मधुर भावाभिव्यंजना, पद-लालित्य, अलंकार-विधान, शब्द-सौष्ठव, सब कुछ एक साथ मिल जाते हैं :

जुरे दुहुन के दृग झमकि, रुकै न झीने चीर।
हलुकी फौज हरौल ज्यौं, परै गोल पर भीर ।।१।।

लाज लगाम न मानही, नैना मो बस नाहिं।
ये मुंहजोर तुरंग लौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं ॥२॥

बिथुर्‌यौ जावक सौति पग, निरखि हँसी गहि गाँस।
सलज हँसौही लखि लियौ, आधी हँसी उसाँस ॥३॥

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति ॥४॥

इनका प्रत्येक शब्द सार्थक एवं साभिप्राय है।

मतिराम-सतसई—(जन्म सम्वत् १६७४ के आसपास)—यह सतसई किसी भोगनाथ नामक राजा को समर्पित है। इसके अधिकांश दोहे मतिराम कृत 'रस-राज और 'ललित ललाम' ग्रन्थों से लिए गए हैं। इनके भाव और इनकी भाषा सर्वथा स्वाभाविक है :

लिखति अवनि-तल चरन सों, विहँसत विमल कपोल।
अधनिकरे मुख-इंदु तैं, अमृत-विन्दु से बोल ॥१॥
नवल नेह मैं दुहुनि की, लखी अपूरब बात।
ज्यौं सूखति सब देह है, त्यौ पानिप अधिकात ॥२॥
चंद-किरन लगि वाल-तन उठै आगि प्रति जागि।
परत करत दिनकर किरनि, ज्यौं दरपनि मैं आगि ॥३॥
मंत्रिनि के बस जो नृपति, सो न लहति सुख-साज।
मनहिं बाँधि दृग देत दृग, मन-कुमार कौं राज ॥४॥

रसनिधि-सतसई—(रचना काल सम्वत् १६६० से सम्वत् १७२७ तक) यह रसनिधि कवि के 'रतन-हजारा' का संक्षिप्त संस्करण है। इनकी कविता में तन्मयता खूब है। फारसी के ढंग की तबियतदारी के फेर में पड जाने से कहीं-कहीं सुरुचि की अवहेलना हो गई है.

रसनिधि जब कबहूँ बहै, वह पुरवइया बाइ।
लगी पुरातन चोट जो, तब उभरति है आइ ॥१॥
तौ तुम मेरे पलन तैं, पलक न होते ओट।
व्यापी होती जो तुमैं, आह भए की चोट ॥२॥
दरदहिं दै जानत लला, सुधि लै जानत नाहिं।
कहो विचारे नेहिया, तुव घाले किन जाहिं ॥३॥
श्रवन सुनी है यह नयौ, नेह नगर मैं भाव।
देत न तहं मन भावतो मन के साहै पाव ॥४॥

राम-सतसई—(रचना काल सम्वत् १८६० से १८८० तक) इसके रचयिता रामसहाय दास है, जो काशी नरेश के आश्रित थे। इसमें माधुर्य और प्रसाद गुण की प्रचुरता है :

जान कहौ तौ जाइए, कुसल रहौ हे कंत।
हौं बाचिहौ हिमंत सौं, सुख साचिहौ बसंत ॥१॥
नित घट उठवाती अटी, मो देती न उठाय।
आन कका के माथ कौ, साथ व जाउँ लवाय ॥२॥

विक्रम-सतसई—(रचनाकाल १८३६ से १८८६ तक) इसके रचयिता महाराज विक्रम साहि हैं, जो बुंदेलखण्ड की चरखारी रियासत के राजा थे। विक्रम-सतसई के सम्बन्ध मे कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। उदाहरण देखिए :

मिलत अगाऊ बिन कहै, यहै दोष इन माहिं।
उर उरझावत हठ नयन, सुरझावत फिर नाहिं ॥१॥

होरी मे जोरी करत, भोरी करि ब्रजबाल।
कहँ ताकत घालत कहूँ, भरि-भरि मूठ गुलाल ॥२॥

अरुन उदै लौ तरुनई, अंग-अंग झलकी आय।
छन-छन तिय तन ओस सी, मिटत लरिकई जाय ॥३॥

शृंगार-सतसइयों के सम्बन्ध में निम्नलिखित बाते ध्यान देने योग्य हैं :

(१) सूक्ति-सतसइयो की भाँति इनमें शील एवं मर्यादा का निर्वाह नहीं हो सका है। कतिपय वर्णन अश्लील भी हो गए हैं।

(२) इनमें तल्लीनता कम और बाह्यार्थ-निरूपण अधिक है। कवि जनों का ध्यान कला-पक्ष अथवा काव्य-नैपुण्य पर विशेष रूप से केन्द्रित हो गया है।

(३) इनका प्रवर्त्तन बिहारी लाल ने किया तथा बिहारी सतसई के अनुकरण पर अन्य सतसइयों की रचना हुई, परन्तु बिहारी जैसी सफलता किसी को न मिल सकी। भाषा की समास-शक्ति और भाव की समाहार-शक्ति बिहारी में चरम सीमा को प्राप्त हो गई थी। यथा :

पाय महावर दैन कौं, नाइन बैठी आय।
फिरि फिरि जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाय ॥

बिहारी के इस दोहे के भाव को लेकर रामसहाय और विक्रमसाहि ने क्रमशः निम्नलिखित दोहे लिखे, परन्तु यह बात न आ सकी—



छैल छबीली की छटा, लटि महावरी संग ।
जानि परै नाइन लगै, जबहिं निचोरन रंग ।।
सहज अरुनि एड़ीनि की, लाली लखै बिसेखि ।
जावक दीबे जकि रही, नाइन पाइन पेखि ।।

नायक परदेश जाना चाहता है, उसे रोकने के लिए बिहारी की नायिका
क सोची :

पूस मास सुनि सखिन सौं, साँई चलत सबार ।
गहि कर बीन प्रबीन तिय, राग्यौ राग मलार ।।

मतिराम ने भी कुछ ऐसी ही बात कहलाई है :

प्राननाथ परदेश कौ चलिए समौ बिचारि ।
श्याम बैन घन बाल के, बरसत लागे बारि ।।

यही भाव विक्रम ने लिया है :

माँगो बिदा बिदेस कौ, दै जराइ अनमोल ।
बोली बोल न सुधर तिय, दिय अलाप हिंडोल ।।

मतिराम ने साक्षात वर्षा की झड़ी लगा दी और विक्रम ने बसन्त ऋतु
कराया । बिहारी की नायिका ही सबसे उत्कृष्ट रही । वह तो वर्षा प्रार
ायक को विरह व्यथा का अनुभव कराने के प्रयत्न में लग गई थी ।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति ।
परत गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति ।।

इस भाव को प्रकाशित करने के लिए रसनिधि ने दो दोहे लिखे ।

उरझत दृग बँधि जात मन, कहौ कौन यह रीति ।
प्रेम नगर में आइके, देखी बनी अनीति ।।
अद्भुत गति यह प्रेम की, लखौ सनेही आइ ।
जुरै कहूँ टूटै कहूँ, कहूँ गाँठ परि जाइ ।।

रसनिधि का वाग्विस्तार भी बिहारी की संक्षिप्त सूक्ति के समान सम
ना ।

(४) विभावों, हावों और चेष्टाओं की सुन्दर योजना एवं सजीव चित्र
मतिराम ही कुछ बिहारी के निकट पहुँच सके हैं ।

हिन्दी सतसई परंपरा : कुछ और कृतियाँ

● हरिमोहन मालवीय

बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित 'सतसई-सप्तक' के प्रकाशन के बाद विद्वानो के प्रयास से अनेक प्राचीन सतसइयों की खोज हुई है। सतसई सप्तक' के लिए बाबू श्यामसुन्दरदास जी को 'रतनहजारा' के ७०० छन्दो को छाँट कर रसनिधि सतसई का रूप देना पड़ा था। वास्तव में बिहारी सतसई की लोकप्रियता का प्रभाव उत्तर भारत मे अत्यधिक पडा था और इसी कारण प्रचुर सतसई-साहित्य लिखा गया और सतसई लिखने की परम्परा आज तक चल रही है। प्रस्तुत लेख मे कुछ महत्वपूर्ण सतसइयों का परिचय तथा जिन-जिन सतसइयो की नामावली डा० माता प्रसाद जी गुप्त द्वारा संपादित 'हिन्दी पुस्तक साहित्य', डा० राजबली पाण्डेय द्वारा संपादित 'हिन्दी मे उच्चतर साहित्य' तथा अन्य श्रोतो से प्राप्त हुई है उसके आधार पर इस लेख मे सतसइयों और सतसईकारो के नाम का निर्देश मैने कर दिया है। इस प्रकार की सूची के सहारे लखनऊ विश्वविद्यालय से 'हिन्दी सतसई परम्परा' पर डा० रमासिंह ने जो महत्वपूर्ण शोध कार्य किया है उसे विस्तार देने की संभावनाएँ बढ़ेंगी।

दयाराम सतसई

श्री अम्बाशंकर नागर ने 'दयाराम सतसई' का सटीक एवं सुसम्पादित संस्करण १९६८ मे प्रकाशित करके मध्यकालीन ब्रजभाषा काव्य की महत्वपूर्ण कृति को अध्येताओं के लिए प्रस्तुत किया है। दयाराम का मूल नाम दयाशंकर भट्ट था। इनका जन्म संवत् १८३३ मे डभाई गुजरात मे हुआ था। दयाराम की गुजराती रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। दयाराम की ४७ रचनाओं का उल्लेख डा० नागर ने किया है (दे० दयाराम सतसई पृष्ठ १४, प्रकाशक साहित्य भवन प्रा० लि०, प्रयाग, संस्करण १९६८)। ये पुष्टि मार्गी वैष्णव थे। दयाराम सतसई की रचना संवत् १८७२ में हुई थी; इसमे ७३१ छन्द हैं।

निदर्शनार्थ निम्न दोहे प्रस्तुत हैं—

आदि—

श्री गुरु वल्लभ देव अरु, श्री बिट्ठल श्री कृष्ण।
पद पंकज बंदन करौं, दुखहर पूरन-तृष्ण ॥१

मध्य—

विवेक सो भावि न टरें, सोच करो मत कोय ।
गुन विचारको हे इतो, पाछें ताप न होय ।।३६१

अंत—

दया सतसिया ग्रन्थ यह, बिरचित पर उपकार ।
सब सज्जन दूषन तजौ, ग्रहन कीजियो सार ।।७३१

बृजराज विलास सतसई

पटियाला (पंजाब) के साहित्यिक श्री ओमप्रकाश आनन्द ने पंजाब के सतसई साहित्य का अध्ययन करके सर्वप्रथम हिन्दी जगत का ध्यान आनन्द सतसई, सतसई रामायण, बृजराज विलास सतसई तथा बसंत सतसई की ओर आकृष्ट किया था (दे० सप्तसिंधु, नवम्बर ५७ पृ० ४०) । श्री आनन्द ने अमीरदास कृत बृजराज विलास सतसई के संपादन का कार्य भी पूरा कर लिया था किन्तु वह प्रकाशित न हो सकी अन्यथा पंजाब मे लिखित सतसई साहित्य का पूर्ण परिचय हिन्दी जगत को प्राप्त हो जाता । इस महत्वपूर्ण सतसई के रचयिता साधु अमीरदास का जन्म अमृतसर के आस-पास हुआ था । १८८६ वि० में उन्होने बृजराज विलास सतसई का प्रणयन कार्य पूर्ण कर लिया था । सतसई के अतिरिक्त आपकी अन्य कृतियाँ है—श्री कृष्ण साहित्य सिंधु, 'सभा मडल', 'शेर सिंह प्रकाश' 'वैद्य कल्पतरु' तथा 'अश्व साहित्य प्रकाश' । अमीर दास के तीन दोहे अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं—

अलक आनि आनन परी सौरभ सनी अपार ।
मानो ससि सुतभानु मिलि करत सुहृदता सार ।।
परि पन्नन के झूमका लहरैं लेत कपोल ।
मनो चन्द्र पै चन्द्र सुत करत चौकने चोल ।।
तिय कपोल पै तनिक तिल तन को करै उदोत ।
काका जानि कलानिधैं गह्यो सूरसुत गोद ।।

बसन्त सतसई—महाकवि बसन्त सिंह 'ऋतुराज' पटियाला के राज्याश्रयी कवि थे । आपकी बसन्त सतसई के अतिरिक्त कृतियाँ हैं—नलदमयंती, बसन्त बहार, बसन्त विनोद, मौसम पर्व, गुरुवशतरु दर्पण, रूप बसन्त, कथा जगदेव पँवार तथा सिखावन राजनीति । यह सतसई अन्योक्ति अलंकार पर आधारित है । आपकी बृजभाषा रचनाएँ गुरुमुखी लिपि मे प्राप्त हैं—

आपकी रचना के कुछ नमूने इस प्रकार है—

हंस—तू मराल बैठत कहाँ, पंथ सँवार सँवार ।
यहाँ खीर अरु नीर कौ, रहत भाव इकसार ।।

मराल—तू रसाल सबको सुखद, देत सुफल रसभीन ।
याही तैं विधि करत नहिं, तोहि कबै पतहीन ।।
अधर—कढन देहु मत बदन तैं, अरे अधर अस बोल ।
नाहक बसत परोस पर, छूटे जाहिं कपोल ।।

आनन्द प्रकाश सतसई—

इस सतसई के रचयिता पटियाला दरबार के कवि दलसिह थे । इनकी अन्य कृतियाँ हैं 'रत्नहजारा' और 'भारती भण्डार' रत्नहजारा का रचनाकाल संवत् १९०५ है ।

उपर्युक्त सतसइयो के अतिरिक्त भी हिन्दी मे प्रचुर सतसई-साहित्य प्राप्त होता है । प्राचीन सतसईकारो की परम्परा मे पंजाब के कवि कीर्ति सिह कृत 'सतसई रामायण' अमेठी के राजा गुरुदत्त सिह कृत 'भूपति सतसई' तथा काशी नरेश उदितनारायण सिह के राजाश्रयी कवि रामसिह कृत 'रामसतसई' (१८८७ ई०) तथा पं० अम्बिकादत्त व्यास पणीत 'सुकवि सतसई' उल्लेखनीय हैं ।

सतसई अभिधान से प्राप्त अन्य सतसइयाँ है—शिवदत्त काव्य तीर्थ कृत 'शिव सतसई' (सं० १९६९) वियोगी हरि कृत 'वीर सतसई' सं० १९८४, श्री रामेश्वर करुण कृत 'करुण सतसई' (सं० १९९१) जानकी प्रसाद रामगुलाम द्विवेदी कृत 'जानकी सतसई', रामेश्वर अध्यापक कृत 'करुण सतसई', हरिऔध कृत 'हरिऔध सतसई', कन्हैयालाल सहल कृत 'वीर सतसई' (सं० २००५), गुलाब सिह धाऊ कृत 'प्रेम सतसई' महेश चन्द्र, जगतसिह सेगर कृत 'किसान सतसई', महेशचन्द्र प्रसाद कृत 'सदेश सतसई,' (१९८७), 'रामचरित' उपाध्याय कृत 'ब्रज सतसई', राजेन्द्र शर्मा कृत 'ज्ञान सतसई' (१९५८), उल्फतसिह 'निर्भय' कृत 'किसान सतसई', गंगानारायण बाजपेयी कृत 'शृंगार सतसई' (सं० २०२३), तथा श्री पन्नालाल मानस कृत 'मानस सतसई' आदि सतसइयो का उल्लेख मिलता है ।

भाषा भेद के साथ ही समय परिवर्तन के साथ-साथ विषय परिवर्तन भी इन विविध सतसइयो मे मिलता है । बिहारी से प्रारम्भ होने वाली हिन्दी सतसई की परम्परा की बहुत सी कडियाँ अभी लुप्त हैं या उनके बारे मे संदेह हैं । तुलसी सतसई, रहीम सतसई, वृन्द कृत 'यमक सतसई' आदि के सम्बन्ध मे निश्चित सूचनाओं के अभाव मे फिलहाल इन्हे इस परम्परा मे नही रखा जा सकता । प्राचीन साहित्य के भण्डार को जैसे-जैसे देखा जायगा वैसे-वैसे अनेक महत्वपूर्ण सतसइयो के सम्बन्ध मे जानकारी मिलेगी ।

हिन्दी की ही बोली राजस्थानी में कवि सूर्य मल्ल की भाँति अन्य कवियों की भी इसी परम्परा की सतसइयाँ मिल सकती है ।

बिहारी : शृंगार और यौवन का कवि

● श्री बैरन हालैंड

उठते यौवन और किशोरावस्था के प्रेम का मर्मस्पर्शी वर्णन आधुनिक हिन्दी काव्य में सामान्य विषय है। प्रकृति के रूपको के प्रयोग करते-करते निराला जी ने अपने "परिमल" संकलन मे इनके विषयो को स्पष्ट रूप से सामने रखा है "प्रथम प्रभात" में वह कहते हैं—

'तरुण अरुण यौवन प्रभात विज्ञान
प्रथम सुरभि मे भर उन्माद विकास
अभी अभी आई थी मेरे पास।'

"जुही की कली" में उठता यौवन फूल का रूप ग्रहण करता है। "अमल-कोमल तनु तरुणी" जो पहले छन्द मे सोती थी बाद मे वायु-यौवन के झकझोर डालने से चौंक पडी और—

'चकित चितवन निज चारो ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी—खिली,
खेल रङ्ग प्यारे संग।'

पन्त जी की "सोन-जुही" के पहले भाग मे एक "सोनजुही की बेल नवेली" समान रूप से व्यवहार करती है—

'यह ममता की मधुर लता
मन के आंगन में छाई!
सोनजुही की बेल लजीली
पहिले अब मुसकाई!'

भारतीय काव्य का यह झुकाव भारतीय समाज के व्यक्तित्व से उत्पन्न हुआ मालूम होता है। इस समाज मे किशोरावस्था का बडा ध्यान रखा जाता है। स्वाभाविक रूप से वह युवावस्था के आवेश, उत्साह और नयी भावनाओ का जीवन के लिए मनोवैज्ञानिक निश्चिन्तता और प्रौढ़ता के प्रभाव को पहचानता है। इस सिद्धान्त का सबसे स्पष्ट उदाहरण तो शादी-बारात से सम्बन्धित परम्पराएँ मानी जा सकती हैं। ये परम्पराएं प्रदर्शित कर देती हैं कि प्रेम-सम्बन्ध मे खाली शारीरिक भाव ही नहीं आन्तरिक भाव भी हैं।

ये आद्य भावनाओ की याद आदमी के अन्तरतम मन मे रखी जाती हैं और उस पर अपना प्रभाव डालती रहती हैं जैसे अपने "युक्ति" मे निराला जी कहते है :—

'गत रागो का सूना अन्तर
प्रतिपल तब भी मेरा सुखकर
भर देगा यौवन—
मन ही सर्वसृजन
मोह पतन मे भी तो रहते है हम
तम कण चूम'

कविताओं के माध्यम से यानी सौन्दर्य-परक वर्णन से युवावस्था की भावनाएं परिलक्षित की जाती है। उनके रचने और पढने से कवि और रसिक ये भावनाए क्रमश: व्यक्त कर सकते हैं और अनुभव कर सकते हैं।

कलात्मक अभिव्यक्ति से किशोरावस्था की भावनाओं का वर्णन करने की परम्परा पुराने संस्कृत साहित्य से उत्पन्न होती है। कालिदास और भर्तृहरि जैसे महान् कवियों की रचनाए यह तथ्य प्रमाणित करती है।

अपभ्रंश साहित्य में हाल की गाथा सप्तशती से यह परम्परा चलती आयी है। मगर पुराने ब्रज के कवि बिहारीलाल ने उस परम्परा को जारी रखने मे उन भावनाओ पर सबसे बड़ा ध्यान दिया गया है।

पश्चिम-निवासी की दृष्टि से बिहारीलाल की रचना का महत्व यह है, कि वह हमारे साहित्य में एक कमी पूरा कर सकती है और एक साथ ही हमें भारतीय समाज के एक प्रभावशाली पहलू को जो अब तक प्रभावकारी रहा है परिचित करा सकते हैं।

आजकल के कटुतापूर्ण और अवज्ञापूर्ण पाश्चात्य काव्य मे सौन्दर्य परक वर्णन वास्तव मे अविद्यमान हैं। गिन्जबर्ग और सेलीन जैसे कलाकार साहित्य को अप्रियता की सीमा तक ले चले हैं और दूसरे कलाकार बुद्धिवाद मे और शाब्दिक निरर्थकता में फँस गये हैं।

इस कारण विहारी सतसई का एक अंग्रेजी अनुवाद भले ही दोषपूर्ण हो फिर भी पाश्चात्य साहित्य कुछ लाभ उठा कर आनंदित हो सकेगा। दोषपूर्ण इसलिए कि रीतिकालीन सबमे सुन्दर और पेचीदी रचनाओं मे से एक होकर सतसई का अनुवाद [illegible] कठिन ही नही असम्भव भी माना जाता है। आनन्दित करने वाला [illegible] यह काव्य युवावस्था की उत्तेजक भावनाओ से चमकता है। [illegible] के अनुवाद नमूने के रूप मे प्रस्तुत है—

चितई ललचौहैं चखनु डटि घूंघट पट मांह।
छल सौं चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छांह॥

She stopped, took a longing look from eyes behind the veil,
Then artfully touching me a moment with her lovely shadow, left.

तन्त्री-नाद कबित्त-रस सरस राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग॥

In sound of strings, poetic taste, zestful song, the act of love,
The half-immersed are sunk, saved the wholly drowned.

नव नागरि तन-मुलुकु लहि जोबन आमिर जौर।
घटि बढ़ि तैं बढ़ि घटि रकम करी और की और॥

Prince youth besieged the land of adolescent form,
Made large and small wealth small and large in overall reform.

गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहाँ हजारु।
वहै सदा पसु नरनु कौ प्रेम-पयोध पगारु॥

Where thousands of loving hearts, higher than hills, have plunged,
That sea of love is ever a ditch for brutish ones.

रनित भृङ्ग-घंटावली झरित दान मधु-नीरु।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज-समीरु॥

With musk of oozing juice, bells of buzzing bees,
Slowly, slowly he proceeds, the elephant, forest breeze.

प्रजर्‌यौ आगि बियोग की बह्यौ बिलोचन-नीर।
आठौं जाम हियौ रहै उड़्यौ उसास-समीर॥

Flaming from parting's fire, flowing with the fluid of the eyes
On a sigh's wind, twenty-four hours a day, her heart flies

(दोहों का क्रम "बिहारी रत्नाकर" के अनुसार है।)

बिहारी की भाषा

● डा० ललित शुक्ल

'दीरघ दोहा अरथ के आखर थोरे आहिं' को ध्यान मे रख कर यदि बिहारी की भाषा पर विचार किया जाय तो पता चलता है, कि बिहारी को शब्दो की प्रकृति और अर्थ की विवृत्ति का पूरा ज्ञान था। ज्योतिष, धर्मशास्त्र, रसायन शास्त्र, इतिहास, भूगोल और काम शास्त्र के शब्दों के प्रयोगो में बिहारी ने अपने चातुर्य और शिल्प-साधना का अच्छा परिचय दिया है।

भाषा के क्षेत्र में बिहारी अपने युग के अन्य कवियो से अलग दिखायी पडते हैं। पद्माकर और देव की भाषा से साम्य ढूँढा जा सकता है किन्तु बिहारी की भाषा की प्रकृति सर्वथा अलग और स्वतन्त्र है। मुहावरा, अलंकार, शब्द-शक्ति आदि अर्थ के प्रकटीकरण की जितनी शैलियाँ हैं उन सब को कहीं-कहीं बिहारी ने एकत्र कर दिया है।

पहुला हारु हियै लसै, सन की बेंदी भाल।
राखति खेत खरे खरे, खरे उरोजनु बाल॥

'पहुला' शब्द के अर्थ का टंटा यहाँ नही खड़ा करना है। केवल इतना समझना पर्याप्त होगा कि यह फूलो का हार है जिसे गाँव की स्त्रियाँ पहनती हैं। रत्नाकर जी की व्याख्या खींचतान वाली लगती है। उनके उदाहरणों में एकाध उपयुक्त जान पडते हैं। यह प्रयोग आवश्यक इसलिये है, क्योंकि यह व्यक्ति वाचक सज्ञा है। 'सन की बेंदी' का सौन्दर्य दृष्टि-बोध का परिणाम है। व्यंजना और मुहावरे का कमाल नीचे वाली पंक्ति में है। खेत राखना, खेत रखाना, मोहित करना, मार गिराना, खडे होकर, खड़े हुए लोगों को, खडे उरोजों वाली और खड़े उरोजों के प्रभाव से आदि अर्थ भाषा की शक्ति को प्रकट कर रहे हैं।

भाषा के विविध प्रयोगो से परिचित होकर भी कवि अपनी भाषा का अलग अस्तित्व रखता है। यह बात बिहारी की भाषा पर भी लागू होती है। संस्कृत शब्दो की बहुलता से युक्त बिहारी की ब्रजभाषा के प्रयोग में युग से हटकर परिवर्तन किये गये हैं। शौरसेनी और मागधी मे प्रयुक्त होने वाले शब्दों को बिहारी ने आवश्य-

कता के अनुसार तोड़ा-मरोड़ा है। वस्तुतः बिहारी की भाषा सब कुछ कहकर भी अपने में कुछ न कुछ छिपाये रहती है।

क्रिया पदों की पुनरुक्ति से भाषा को चारु बनाते हुए बिहारी लिखते हैं :

हँसि हँसि हेरति नवल तिय, मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति॥

'हँसि' और 'बोलति' में वह बात नही है जो 'उमदाति' और 'बलकि' में है। 'ललकि' क्रिया का प्रसंगार्थ भी अधिक व्यजना पूर्ण है। लोक-भाषा मे बहुत सारी क्रियाएँ ऐसी हैं जिनकी तुलना मे वही अर्थ प्रकट करने वाली क्रियाएँ खडी बोली में नही हैं। 'यो' से अन्त होने वाली क्रियाएँ ब्रजभाषा में अधिक हैं। बर्‌यो, पर्‌यो, गर्‌यो, मिल्यो आदि प्रयोगों से इस बात का साफ पता चलता है। 'यो' का प्रयोग ब्रजभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओ में नही मिलता है। कुछ प्रयोग बैसवारी के ऐसे है जिन्हे इस सन्दर्भ मे उद्धृत किया जा सकता है किन्तु उनमे ब्रजभाषा जैसा माधुर्य नही पाया जाता।

'लगाना', 'बसाना', 'आना', 'जाना', आदि प्रयोगो मे 'इ' लगाने से थोड़े में अधिक अर्थ भर जाता है। 'लगाइ', 'बसाइ', 'आइ' तथा 'जाइ', का अर्थ 'लगाकर', 'बसाकर', 'आकर' और 'जाकर' होता है। क्रियाओं की इस प्रकृति का लाभ बिहारी ने बड़े यत्न से उठाया है। खड़ी बोली का एक वाक्य है—'मन्दिर दिखाई पड़ रहा है।' इस वाक्य में दीखना, पड़ना, रहना तथा है के साथ चार क्रियाएँ है। लम्बाई क्रियाओं ने बढाई थी। भोजपुरी में यह वाक्य होगा—मन्दिर लउकत ब तथा अवधी में 'मन्दिर देखात अहै।' इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोक-भाषाओं की प्रकृति संश्लेषणात्मक है। मुख-सुख की दृष्टि कथन में सुकरता सभी पसन्द करते हैं। बिहारी तो दोहाकार हैं। उनके लिये भाषा की यह प्रकृति वरदान है। कभी-कभी संज्ञाओं को क्रिया बनाकर बिहारी काम चला लेते हैं। 'अनुराग' से 'अनुरागि', 'नाच' से 'नाचि', 'चाह' से 'चाहि', 'बोल' से 'बोलति' के प्रयोग भाषा की अर्थवत्ता को स्पष्ट करते हैं।

समानुपातिक स्तर पर विचारने से बिहारी के काव्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। उसके बाद क्रमशः अर्द्ध-तत्सम, तद्भव तथा अरबी और फारसी के शब्दों का नम्बर आता है। बिहारी के श्लेष की महिमा निराली है। शृंगारी शब्दो मे ही वे ज्योतिष, वैद्यक, नीति-शास्त्र और धर्म-शास्त्र आदि जाने किन-किन क्षेत्रो के शब्दों का अर्थ भरते हैं। यह भाषा की निपुणता और पाण्डित्य का है 'मंगल बिन्दु सुरंग' वाला दोहा इतना सुगठित है कि श्लेष के

आधार पर अर्थ मे बाधा नहीं पड़ती। 'रस' और 'नारी' के श्लेष से चमत्कार बढ़ जाता है। इस दोहे में अधिकांशतः तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। यही नहीं, पूरी सतसई मे प्रतिबिम्ब, प्रभात, द्विज, रति, पीन, सिंधु, निकुञ्ज, कज्जल, काल विपाक, निदाघ, मुकुर, इन्दीवर, अलिपुंज, चिबुक, कोकनद, मकरन्द, तन्त्रीनाद तथा जातरूप जैसे तत्सम शब्दों का प्राधान्य है। हाँ क्रियाएँ ब्रजभाषा की हैं। शुद्ध शब्दो से बनायी गयी क्रियाएँ भी ब्रजभाषा की हो गयी हैं।

भाषा की विचार-दृष्टि यह सोचने पर बाध्य कर देती है कि सतसई में कलात्मक सज्जा अधिक है अथवा सहज बोध एवं भाव सम्प्रेषण की शक्ति। अपने रचना कौशल में बिहारी रीतिकाल मे सर्वश्रेष्ठ हैं। प्रत्येक शब्द को पहले ठोंक बजाकर देख लेते हैं तब उसे प्रवेश की अनुमति देते हैं। इसीलिये वह अपनी कक्षा में बैठ कर पूरा काम करता है क्योंकि उसकी स्थिति संस्तुति परक नहीं होती है। शब्दों का दारिद्र्य बिहारी के कवि के यहाँ नहीं पाया जाता। इसी गुण से रीझ कर एक बार पद्मसिंह शर्मा ने कहा था—

'भाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार था। सतसई की भाषा ऐसी विशुद्ध और शब्द-रचना इतनी मधुर है कि सूरदास को छोड़ कर दूसरी जगह उसकी समता मिलनी दुर्घट है।'

पूरी तरह देखने-परखने से उक्त कथन की प्रामाणिकता साफ जाहिर हो जाती है। एक बार कुछ लेखकों ने बिहारी की भाषा को बुन्देलखण्डी बताया था किन्तु प्रयोग बहुलता इस मत को परिपुष्ट नहीं करती। यदि जन्म का आधार लेकर कोई इस बात को प्रमाणित करता है तो भी बिहारी के साथ न्याय नहीं होगा। कवि का दृष्टिकोण भाषा के सम्बन्ध में इतना 'वेजिटेरियन नहीं होता'। समाज भी अन्यान्य परिचित-अपरिचित भाषाओं के शब्दों को स्पृश्य समझकर अपनाता है इसलिये यह मत निराधार सा लगता है।

विदेशी भाषाओं में अरबी और फारसी के शब्दों की गुंजाइश बिहारी के यहाँ है। उनके समय में इन भाषाओं का प्रचलन था। जब भक्तिकाल के कवि इन भाषाओं के प्रभाव से नहीं बच सके तब बिहारी का क्या कहना। इनका सम्बन्ध तो दरबार से था ही। वहाँ से छन कर तमाम सहज शब्द जन सामान्य में बोले जाने लगे। हमाम, हुकुम, हजार, कजामी, चश्मा, नेजा, अदब, अहसान, कबूल, सबी, रकम, गुमान तथा पायन्दाज आदि शब्दों के प्रयोग पूरी सतसई में बिखरे पड़े हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग बिहारी ने अपनी भाषा में बड़े अधिकार पूर्ण ढंग से किया है। इस बात के आधार पर दो तथ्य सामने आते हैं—

एक तो बिहारी को इन भाषाओं के शब्दों की पूरी जानकारी थी।

दूसरे इन शब्दों का प्रचलन सामान्य जनता में भी संभव हो सकता है। सभी शब्दों के सम्बन्ध में तो यह बात नहीं कही जा सकती है पर फौज, अंगूर, गोल, कबूतर, गुलाब, गुमान, दमामा, दरबार, फानूस, बहार आदि शब्दों का प्रचलन गाँव-गाँव में है। और फिर यह आवश्यक नहीं है कि कवि भाषा लिखते समय प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान रखे। वस्तुतः भाषा अभिव्यक्ति का साधन है। उसके प्रयोग की सुविधा अभिव्यक्तीकरण के अनुसार कवि को होनी चाहिए। इतना सब होते हुए भी कहीं कहीं बिहारी ने संस्कृत से सीधा सहारा लिया है:

अनलस्तम्भन विद्या, सुभग! भवान्नियतमेव जानाति।
मन्मथ शराग्नि तप्ते, हृदि मे कथमन्यथा वसति।।

बिहारी कहते हैं—

बिरह-बिथा-जल-परस-बिन बसियत मो हिय-ताल।
कछु जानत जलथंम विधि, दुरजोधन कौ लाल।।

श्री कण्ठचरित का एक प्रसंग है—

केलिप्रदीप-लतिका-प्रतियात नाभि-
निष्कञ्चुका कुच भुवो बभुरंगनानाम्।
कन्दर्प-भूभुजि मनो भवनं प्रविष्टे,
सीमन्तिता इव हिरण्मय-वेत्रदण्डाः।।

बिहारी की उक्ति है—

मकराकृत गोपाल के सोहत कुंडल कान।
धँस्यो मनो हिय घर समर, ड्योढी लसत निसान।।

इस प्रकार की समता उन्हीं स्थलों पर मिलती है जहाँ बिहारी ने किसी शास्त्र सम्बन्धी बात कही है। जहाँ कहीं ऐसी समता है वहाँ बिहारी की प्रतिभा पृथक दिखायी पड़ती है। किसी बात को पचाकर अपनी बनाकर और हो सके तो कुछ इजाफा करके कहने में अच्छा रहता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के छन्दों का भाव बिहारी की अभिव्यक्ति की मौलिकता में कोई बाधा नहीं पहुँचाता।

भाषा की चारुता ध्वनि और व्यंजना पर निर्भर करती है। बिहारी की भाषा में एक साथ कई भाषा के शब्द मिल सकते हैं किन्तु उनकी उपयोगिता इस बात में होती है कि प्रसंग गर्भत्व और नयी अर्थ विवृत्ति के सन्दर्भ में उनका महत्व अधिक

होता है । जहाँ कहो अरबी-फारसी आदि भाषाओं के शब्द आये है प्राय: उनका रूप पारिभाषिक बन गया है । इसलिये एक ओर वे पाठक को नया ज्ञान देते हैं दूसरी ओर उनके माध्यम से शब्द-शक्ति द्वारा नया अर्थ सामने आता है । आँखो की विलक्षण झलक का एक प्रसंग है :

आज कछू औरै भए, छए नए ठिकठैन ।
चित के हित के चुगल ए नित के होंहि न नैन ।।

इस दोहे मे 'आज', 'कछू', 'भए', 'नए', 'चित', हित', आदि प्राय: सभी शब्द प्रचलन मे है । बिहारी के युग में भी रहे होंगे, इस समय भी है । 'चुगल' शब्द तुर्की भाषा के 'चुगुल' का बिगडा रूप है जो जनता मे व्यवहृत होता है । नयनो के प्रसंग में चुगुली का दोषारोपण कितना काव्यात्मक है । 'चुगल' शब्द ब्रज और अवधी के शब्दो के बीच अनाहूत सा नही लग रहा है । सचमुच बिहारी शब्दो के पारखी थे। इसलिये थोडा परिवर्तन करके शब्द मे नया रंग भर देते थे । 'और' को 'औरै' बनाने मे अर्थ में जो वृद्धि होती है वह किसी से छिपी नही हैं । सानुप्रासिकता का गुण तो बिहारी की कलम का अनुगामी हैं ।

जहाँ शब्दो मे दोहरे अर्थ पाये जाते है वहाँ व्यंजना के आधार पर कुछ न कुछ नया आ ही जाता है । स्त्री सम्बन्धी पर्यायों के युक्त एक दोहा है :

बामा, भामा, कामिनी कहि बोलौ प्रानेस ।
प्यारी कहत खिसात नहिं, पावस चलत विदेस ।।

बामा, भामा और कामिनी का सम्बोधन नायिका इसलिये चाहती है क्योकि नायक वर्षा ऋतु मे परदेश जा रहा है । कुटिला, क्रोध करने वाली तथा स्वार्थिनी कहलवाकर अपना आक्रोश व्यक्त करती है । उसे 'प्यारी' में वह बात नही मिलती क्योंकि 'बामा' और भामा आदि मे व्यंग्य की जो बात छिपी हुई है वह शब्द का चमत्कार है ।

यद्यपि बिहारी ने शब्द-साधना पर विशेष ध्यान दिया था किन्तु कहीं-कहीं कुछ शब्दो के ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो किसी अंचल विशेष अथवा दरबार विशेष के लगते हैं । आज उनके प्रयोग घिसकर समाप्त हो गये हैं इसलिये ऐसे शब्द 'अजनबी' से लगते हैं । 'मुरासा,' 'सबील', 'अरगट', 'कुलिग', और 'मरगजा', जैसे शब्दों के लिये पाठको को सोचना पडता है । अर्थवती भाषा लिखने मे बिहारी की कुशलता बेजोड़ है । संश्लिष्टता, सादगी, अभिव्यक्ति की सहजता, स्वाभाविक आलंकारिता और व्यंजना व्यापार से युक्त भाषा लिखने मे बिहारी अनुपमेय कवि हैं ।

बिहारी का शब्द-विधान

● डा० जीवन प्रकाश जोशी

काव्य में शब्द की महत्ता सबसे प्रथम है। काव्य रचना मे पहले शब्द-बोध होता है फिर अर्थ-भाव और रस-बोध होता है। काव्य के रचना तंत्र में भी शब्द विधान पहले है। हाँ, काव्य के लक्ष्य की दृष्टि से रस की प्रधानता है किन्तु फिर रस निष्पत्ति के लिये भी पहले 'पद' की उपयुक्तता और महत्ता काव्य लक्षण के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में काव्य की पहली परिभाषा करते हुए, इस प्रकार पहली ही पंक्ति में ही प्रकट कर दी है :—

"मृदु ललितपदाढ्यं गूढ़ शब्दार्थ हीनं" : यहाँ शब्द ही काव्य का प्रथम शिला-न्यास है। अन्य आचार्यों ने भी पहला शब्द ही प्रायः काव्य के लिए प्रयुक्त किया है—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्,' शब्द-शक्ति और गुण रीति अलंकारों मे जो कि काव्य रचना तंत्र के विशिष्ट उपकरण हैं—सभी शब्द के प्रजाजन हैं। तात्पर्य यह है कि काव्य रचना में शब्द विधान का व्यापक व्यापार है।

आचार्य जगन्नाथ ने ठीक ही कहा है :—

"रमणीयार्थ प्रतिपादका. शब्द कायम्" । Colondge ने शब्द की काव्यगत आंतरिकता और उसके विधान को जो महत्ता दी है वहाँ जैसे काव्य की एक महत्वपूर्ण परिभाषा बनी है। वे कहते हैं 'Poetry is the best words in *the best orders'* यहाँ Best जैसे शब्द का विश्लेषण नही, माग है और जो काव्य विधान के लिए अनिवार्य है। पाश्चात्य विद्वान टेनीसन ने भी एक स्थल पर उत्तम शब्द की महत्ता 'lovely words' कह कर स्वीकारी है। यह सर्वथा सत्य है कि उत्तम शब्द विधान से ही उत्तमोत्तम काव्य की रचना करने में प्रायः कवियों को सफलता मिलती है—चाहे वह एक पक्षीय—कला पक्षीय ही क्यों न हो। किन्तु ऐसे कवियो का काव्य भी साहित्य में अपनी महत्ता रखता है। बिहारी और उनके काव्य की सफलता और महत्ता का आधार वास्तविक रूप में उनका शब्द-विधान ही है, जिसको अलंकार, गुण, शब्द-शक्ति या अन्य किसी भी रूप अथवा नाम से ग्रहण किया जा सकता है यहाँ पर बिहारी के काव्य में उनके शब्द-विधान

के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं पर ही प्रकाश डालेंगे। कुछ का कारण है स्थानाभाव।

हिन्दी साहित्य प्रेमी जानते ही है कि लगभग १२, १३ वी शताब्दी से व्रज बोली का छुटपुट प्रयोग खुसरो, कबीर और अन्य संतों के काव्य मे आरम्भ हो गया था, किन्तु उसका साहित्यिक सहज सुष्ठु प्रयोग अष्टछाप के कवियों ने किया। सूरदास ने व्रजभाषा को साहित्य के सृजन मे परिनिष्ठित रूप दे दिया। सूरदास की व्रज भाषा मे समस्त सरस भावो को वाणी देने की क्षमता जरूर आ गई किन्तु उसमें नक्काशी या शिल्प का समाहार उनसे बढ़कर रीतिकालीन कवियों ने किया। रीतिकालीन कवियो में बिहारी अग्रगण्य है। बिहारी की भाषा मे व्याकरण की शिथिलता रही, लेकिन उसमे नक्काशी और भंगिमा बेजोड़ है। यह उनके शब्द विधान के कारण है। बिहारी की भाषा भले ही व्याकरण वाहिनी न हो किन्तु उनके शब्द अजीब चित्र विधायक हैं और उन शब्दों में सामंती युग की विलासी कलात्मक एषणा की अत्यन्त प्रभावशालिनी अभिव्यक्ति है। यहाँ उनका सांकेतिक उल्लेख अपेक्षित है।

बिहारी ने अपने काव्य विधान में परम्परागत और इस्लामी प्रभाव सम्मत शब्दों का बड़ा सधा हुआ प्रयोग किया है। दोनों ही प्रकार के शब्दों का सम्मिलित विधान उनके सामंतीयुग के वातावरण की अपरिहार्य माँग थी। बिहारी ने इस माँग को अनिवार्य माना समझा और उसकी पूर्ति के लिए उन्होने दोहा जैसे लघु छंदों में अपनी सूझ का सारा बल लगा दिया। उनके दोहों की प्रसिद्ध और प्रभाव शक्ति आज भी इसका प्रमाण है।

परम्परागत शब्द-विधान में बिहारी ने तत्सम, अर्धतत्सम, तद्भव शब्दों का प्रयोग किया। अरबी, फारसी, शब्दों का प्रयोग उनका स्वतंत्र और इतस्ततः व्रजभाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल कुछ घुमाव-फिराव लिये भी दिखलाई पडता है।

परम्परागत शब्दों में समास प्रबल है जैसे :

'रनित-भृंग-घंटावली झरित दान मधु-नीरु।'

बिहारी के शब्द विधान में समास ऐसे दृढ सम्बल रहे हैं जिससे बडी से बड़ी अभिव्यक्ति का सफल बंधान बंध सका है। बिहारी की शिल्प क्षमता पर आश्चर्य होता है कि बार-बार [illegible] के समासो मे भाषा की चुस्ती कायम रख सके हैं। उनमें संस्कृत समासों की सी अर्थ दुरूहता नही प्रतीत होती।

बिहारी ने संस्कृत के जो तत्सम शब्द लिये हैं, जैसे अभिसार, संकेत, मिलन

वियोग आदि वे परम्परागत होते हुए भी ब्रजभाषा काव्य-शैली में एक प्राण प्रतीत होते हैं।

अर्ध-तत्सम शब्दों के विधान में बिहारी ने संस्कृत के तत्सम शब्दो में अपनी ओर से मौलिक परिवर्तन करके उन्हे अभिव्यंजन के अनुकूल दिशा दे दी है, उनके अर्ध तत्सम शब्दो की ध्वनि गुरूता और लघुता विशेष प्रभावशालिनी प्रतीत होती है। जैसे कुलाहल (कोलाहल), दरपन (दर्पन), नितप्रति (नित्यप्रति) निरमोही (निर्मोही) निस (निशि) आदि। अर्धतत्सभ शब्दो के विधान मे बिहारी ने ब्रजभाषा को जहाँ कुछ मौलिकता से समृद्ध किया है वहाँ दोहो मे ध्वनि की नाजुकता पैदा की है। 'कुलाहल' शब्द "कौलाहल" से अपेक्षाकृत अधिक चुलबुलाहट पैदा करता है। इसी प्रकार दरपन मे दर्पण की अपेक्षा अधिक ध्वनि सहज है। कहने का तात्पर्य यह है कि अर्धतत्सम शब्दो के प्रयोग मे बिहारी ने सूक्ष्म ध्वनि लालित्य लाने का ध्यान रखा होगा।

बिहारी ने तत्सम शब्दों की गढन की है। ऐसे शब्द सस्कृत शब्दों की विकृति लगते है। जैसे पच्छीन (पक्षियो को), बिचच्छनो (विलक्षण होने पर भी), लिलाट (ललाट) आदि। इस प्रकार के तद्भव शब्द विधान के कारण प्राय: बिहारी के दोहों मे अर्थदुरूहता आ गई है। किन्तु ऐसी बात अधिकांशत: नहीं है।

फारसी-अरबी के शब्द बिधान मे बिहारी को बडे मार्के की सिद्धि हुई है। इस प्रकार के शब्द प्रयोग मे एक ओर वे शाही समय की बादशाही को गुदगुदाते हैं, दूसरी ओर वे ब्रजभाषा की शब्द-रूप समाहारिणी क्षमता को प्रकट करते हैं और सबके अन्त मे सामंती युग की भद्रतापूर्ण शब्दों में सिमटी विचित्र स्थिति-अभिव्यंजना को भी छेड देते हैं। इजाफा, गुनही, गुमान, बेजा बहार, हमाम, आदि शब्द इसी बात की पुष्टि मे पे. किये जा सकते है।

सतसई के दूसरे दोहे में इजाफा शब्द 'जोवन-नृपति-प्रवीन' समास और तद्भव शब्द विधान के साथ जुड़ा हुआ है। यहाँ दोहा दिये बिना काम नही चलेगा,—

अपने अंग के जानि कै, जोबन-नृपति प्रबीन।
स्तन, मन, नैन, नितंब को बड़ौ इजाफा कीन॥

"इजाफा" शब्द इस दोहे में अरबी भाषा का है जिसका अर्थ पारिभाषिक है, कि ऐसी वृद्धि जिसे कोई बादशाह खुश होकर किसी को प्रदान करता है और इस दोहे के अनुसार यौवन का बादशाह स्तन, मन, नैन, नितंब, का इजाफा कर रहा है। इजाफा शब्द यहाँ इस्वामी का सारा ऐश्वर्य बोत्र लिये है बिहारी ने

इस एक ही शब्द से तब न जाने कितनी बादशाही लूटी होगी, इसे कौन कहे ? इसी प्रकार बिहारी के विदेशी शब्द-विधान की विशेषता यह है कि वह ब्रजभाषा के साथ पूरी तरह एक मेल है, उसमे सामंती युग की अनूठी झाड-फानूसी झिलमिलाहट और वह माला के महत्वपूर्ण दाने-सा भी प्रतीत होता है ।

बिहारी ने बहुत से अप्रचलित शब्दो का प्रयोग किया है, कुछ गढे भी है, और क्रियापद संज्ञा और विशेषण पद भी गढ कर प्रवाह के साथ प्रयुक्त किये है । जैसे ब्रज के शब्द 'ऊजरा' के स्थान पर 'उजाम' प्रयोग किया है । "उडाना" क्रिया के स्थान पर 'उडायक' आदि । इसी प्रकार साडी के लिए 'सिलवट' शब्द प्रचलित है किन्तु बिहारी ने 'सलोट' का प्रयोग किया है । 'गठरी' या मोटरी के स्थान पर "मोट" शब्द का अप्रचलित प्रयोग किया है । सलोट और मोट शब्द एक ही दोहे मे आए है देखिय

नटि न सीस साबित भई लुटी सुखनु की मोट ।
चुप करिए चारी करति सारी-परी सलोट ।।

यहाँ "साबित" शब्द विदेशी है जो दोहे मे अपनी सत्ता पूरी तरह दिखाए खपाए हुए हैं "साबित" के भई का अर्थ है अप्रमाणित के साथ भई ब्रजभाषा की क्रिया लगी है जो उसे विदेशी नही रहने दे रही है ।

'निवाज' शब्द मे 'बौ' प्रत्यय लगाकर बिहारी ने "निवाजिबौ" क्रिया है जो फारसी शब्द को ब्रजभाषा का सा बना देता है ।

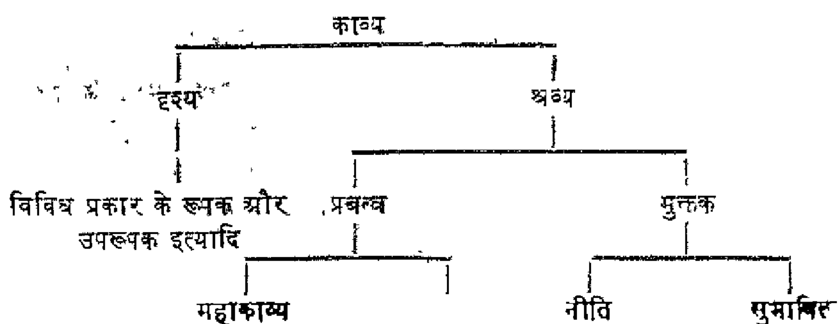
इस प्रकार बिहारी का शब्द विधान अपने मे एक महत्वपूर्ण कला प्रयास है । शब्दो के स्वरूप, प्रयोग, उद्योग, परिवर्तन और समाहार मे बिहारी का कौशल हिन्दी के प्रायः सभी कवियो से विशेष है । छायावादी काव्य मे जिस प्रकार अंग्रेजी शब्द-शिल्प का जैसा नवोन्मेष प्रधान है । उसी प्रकार रीति कालीन ब्रजभाषा के काव्य मे बिहारी का अपना शब्द-शिल्प नवोन्मेष प्रधान है, और इस विधान के कारण बिहारी ने ब्रजभाषा को जहाँ व्यापक क्षेत्र प्रदान किया है, वहाँ उसमे अभिव्यंजन की क्षमता और और कला को रस-रंग से आकर्षक बना दिया है । ब्रजभाषा के अन्य कवियो के काव्य मे ब्रजभाषा की इतनी समाहार शक्ति नहीं आ सकी । यदि बिहारी दोहो के अलावा अन्य छन्दो का प्रयोग भी करते तो उनके शब्द-विधान का और अधिक वैभव देखने को मिलता । अपने शब्द शिल्प विधान मे नि सन्देह बिहारी मध्यकालीन सभी कवियों से अलग तथा अनूठे दिखलाई पडते है । शायद इसलिये वह मध्यकालीन अनेक कवियो की भीड मे सबसे अलग ही पहचाने जाते हैं ।

मुक्तक काव्य और बिहारी के दोहे

● स्व० ललित प्रसाद सुकुल,

यदि काव्य-रचना का प्रवाह अजस्र और शाश्वत है तो काव्यानुरागियों का उसके प्रति आकृष्ट होना भी उतना ही शाश्वत मानना पड़ेगा, किन्तु काव्य-प्रेम एक वस्तु है और काव्यानुशीलन उससे भिन्न दूसरा व्यापार है। इसकी परम्परा भी कम प्राचीन नहीं। विशेष कर भारतीय काव्य-रचना और काव्य-मीमांसा का इतिहास तो और भी अधिक प्राचीन, पुष्ट, परिमार्जित और सुसम्पन्न रहा है। लेकिन दैव-दुर्विपाक से देश की युगों की पराधीनता के क्षणों में हमारे मानसिक क्षितिज पर कुछ ऐसा गहरा अन्धकार-सा छा गया था और हमारी अनुपम और कलात्मक काव्यनिधियों से हमारा सम्बन्ध ही प्राय. छूट सा गया था। इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य सृजन अथवा उसके प्रति हमारे नैसर्गिक अनुराग की ही इतिश्री हो गयी थी। परन्तु मानसिक स्थिति कुछ ऐसी जरूर हो गई थी कि हम अपने काव्य के अनुशीलन और गम्भीर अध्ययन के प्रति उदासीन से हो गये थे।

निश्चय ही जातीय जीवन के लिए वह अत्यन्त शुभ घड़ी रही होगी जब नागरी प्रचारिणी सभा जैसी संस्था की नींव पड़ी होगी, क्योंकि हमें निस्संकोच कहना पड़ता है, कि आज के देशव्यापी हिन्दी साहित्य के क्रमबद्ध अनुशीलन और अध्ययन का प्रारम्भ वहीं से हुआ। लगभग १९२३ या २४ में बाबू श्यामसुन्दर दास ने "साहित्यालोचन", हिन्दी संसार को भेंट किया था। हम कह सकते हैं कि साहित्यालोचन के प्राचीन और आधुनिक सिद्धान्तों के विवेचन का यह सर्वप्रथम सुन्दर प्रयास था। जिसने हमारे विविध विद्वानों का ध्यान शास्त्रीय अध्ययन की ओर आकृष्ट किया था। उस समय की प्राप्त सामग्री के आधार पर काव्य का जो वर्गीकरण उन्होंने प्रस्तुत किया था वह कुछ इस प्रकार था :



यों तो यह वर्गीकरण भी कई प्राचीन आचार्यों के मत से समर्थित है, किन्तु नागार्जुन और कुवलयानन्द इत्यादि आचार्यों ने काव्य-विवेचन अन्य रूपों में भी किय है, जो कई अशों मे इस उपर्युक्त विवेचन से अधिक पुष्ट और सुव्यवस्थित कहा ज सकता है। उसका उल्लेख आगे चलकर यथास्थान किया जायगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि बाबू श्यामसुन्दर दास जी के द्वारा सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त काव्य का वर्गीकरण कुछ इतना अधिक प्रचलित हो गया कि आज के हमारे हिन्दी काव्य के विद्वान और आलोचक इसके आगे और कुछ सोचते नहीं दीख पड़ते। इसी वर्गीकरण के आधार पर स्वय बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने "सतसई सप्तक" की भूमिका में अभिनव गुप्ताचार्य द्वारा दी गई "मुक्तक", की परिभाषा का उल्लेख किया है कि—

"पूर्वापरनिरपेक्षापि हि येन रस-चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्"

और इसकी व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा है कि जिस उक्ति में पूर्वापर का सम्बन्ध न हो किन्तु काव्य के अन्य आवश्यक गुण वर्तमान हों, वह मुक्तक काव्य कह-लाता है। यहाँ तक तो किसी प्रकार की आपत्ति नही हो सकती, किन्तु इसी के बाद बाबू साहब ने यह कहा है कि "मुक्तक मे रस की निष्पत्ति हो ही, यह भी आवश्यक नही, इसमे सुभाषित अथवा वाग्वैदग्ध्य की चमक हो।" अभिनवगुप्ताचार्य की परि-भाषा के अनुसार तो बाबू साहब का उपर्युक्त कथन युक्तिसगत नही उतरता। क्योंकि रस की स्थिति की शर्त स्वयं अभिनवगुप्ताचार्य ने ही 'रस चर्वणा क्रियते' कहकर अपनी परिभाषा मे स्वीकृत कर ली है। यो भी हमारे यहाँ के काव्य शास्त्रों में रस को जो व्यापक सत्ता स्वीकृत है, उसके अनुसार मुक्तक यदि काव्य कहलाने का अधि-कारी है तो रस की निष्पत्ति आंशिक ही सही आवश्यक अवश्य है। तब थोड़ा सा असमंजस जरूर होता है कि समर्थन के रूप मे अभिनवगुप्ताचार्य की परिभाषा देते हुए बाबू साहब ने मुक्तक में रस-निष्पत्ति को अनावश्यक कैसे माना? इस रहस्य को समझने के लिए मुक्तक की एक दूसरी परिभाषा भी देखनी चाहिए। अग्निपुराण में काव्य मीमांसा के प्रसंग में मुक्तक की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है—

"मुक्तक श्लोक एवैकश्चमत्कारः क्षमः सताम्"

इसमे स्पष्ट प्रश्न किया गया है कि मुक्तक क्या है? उत्तर मिला कि उत्त जनों द्वारा चमत्कार युक्त श्लोकबद्ध एक उक्ति ही मुक्तक है। इस परिभाषा अवश्य ही "चमत्कार" को छोड़ कर मुक्तक के साथ 'रस' की कोई शर्त जुड़ी हु नही है। [illegible] कि बाबू साहब के ध्यान मे यह परिभाषा भी रही हो [illegible] स्थल पर अभिनवगुप्ताचार्य की परिभाषा के साथ इसका उल्लेख [illegible]।

जो कुछ भी सही हो, निष्कर्ष यही निकलता है कि मुक्तक भी एक प्रकार का उच्चकोटि का काव्य है; अर्थात् रस, ध्वनि और अलंकार इत्यादि। साथ ही, चूंकि मुक्तक में प्रत्येक उक्ति की अपनी पृथक् सत्ता होती है, इस लिए वाग्वैदग्ध्य अथवा उक्ति-चमत्कार उसमें होना ही चाहिये। इसी स्थल पर मुक्तक काव्य से सम्बन्ध उक्ति-वैचित्र्य तथा वाग्वैदग्ध्य के मर्म का थोड़ा सा विस्तृत विवेचन आवश्यक है।

किसी भाषा का चरम-सौष्ठव दीख पड़ता है उसके काव्य में। काव्य भी कला है अतः अधिक से अधिक संतुलन उसमें अपेक्षित होना ही चाहिए। विचार और अभिव्यक्ति के माध्यम अर्थात् शब्द-चयन, दोनों पर ही लागू होता है। जहाँ एक ओर सौन्दर्य अभीसिप्त है वही काव्य मे अर्थ-गौरव भी अपेक्षित होता है। काव्य की अलंकार योजना तथा उसमें ध्वनि और व्यंजना इत्यादि का सन्निवेश इसी निमित्त माना गया है कि इनके द्वारा सफलता के साथ रस की निष्पत्ति सम्भव होती है। मुक्तक को छोड़ कर अन्य प्रकार के स्वीकृत काव्य रूपो मे, जो या तो दृश्य-काव्य के अन्तर्गत हो अथवा प्रबन्ध के अन्तर्गत हो, इतिवृत्तात्मकता के लिए न्यूनाधिक स्थान रहता ही है। इसीलिए उस कोटि के काव्यो मे रस-निर्वाह में कलाकार को अनायास ही अन्य रूपिणी सुविधाएँ प्राप्त हो जाती है। किन्तु मुक्तक में ऐसी कोई सुविधा प्राप्त नही हो सकती इसलिए भाषागत सौष्ठव और वाग्वैदग्ध्य अथवा चमत्कार पर कवि को विशेष ध्यान देना ही पड़ता है। इतिवृत्तात्मक काव्य में भी भाषा-सौष्ठव का महत्व कम नही है। परन्तु वहाँ वातावरण का वैचित्र्य, घटना-चमत्कार इत्यादि अपने निजी आकर्षण के द्वारा भी रस निर्वाह मे सहायक सिद्ध हो जाते हैं। लेकिन विशुद्ध मुक्तक में काव्यापेक्षित रस-निष्पत्ति करनी ही पड़ती है और वह भी बिना किन्ही बाह्य सुविधाओं के कवि का सम्बल सीमित रहता है केवल उसके विचार सौन्दय और उक्ति-सौन्दर्य तक। इसीलिए सफल मुक्तक काव्य-साधना अपेक्षाकृत कठिन भी मानी गई है।

काव्य के मुक्तक रूप की साधना के मर्म को समझने के लिए आवश्यक है, कि इसके स्रोत पर थोड़ा सा विचार कर लिया जाय। किन्तु उसे भली-भाँति समझने के लिए प्रबन्ध तथा इतर कोटि के काव्य स्रोतों को भली-भाँति समझ लेना भी आवश्यक है। घटना विशेष, वातावरण-विशेष अथवा चरित्र विशेष का आकर्षण और उसकी रस-सिक्तता यदि प्रबन्ध काव्य को जन्म देती है तो विचार विशेष का अन्तर्निहित चमत्कार तथा रस-संकेत मुक्तक को जन्म देता है। मुक्तक की ही कोटि

में सुभाषित और नीति काव्य भी है। किन्तु नीति-काव्य मे उक्ति की रसात्मकता की अपेक्षा उसकी सर्वग्राही उपादेयता ही उसकी साधना है। परन्तु सुभाषित को ही वास्तव मे विशुद्ध-मुक्तक-काव्य कहना चाहिए। सुभाषित उक्ति को केवल भाषा-चमत्कार तक ही सीमित नही माना जा सकता। क्योंकि यदि ऐसी उक्ति की कुछ भी सार्थकता है और उसमें कहने योग्य कुछ ललित भाषा में कहा गया है तो वह कोई सुन्दर कथनीय और स्मरणीय विचार ही हो सकता है। वह काव्यबद्ध है केवल छन्दबद्ध नहीं। इसलिए उस उक्ति में रस विशेष की प्राण प्रतिष्ठा होना भी अनिवार्य है। लेकिन यह तभी सभव है जब कि व्यक्त विचार रसग्राही हो अतः निष्कर्ष यह निकला कि विशुद्ध सफल मुक्तक रस-ग्राही विचार होता है जो अपेक्षित और उपर्युक्त भाषा-सौष्ठव से युक्त होकर प्रस्तुत किया जाय। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि आकर्षक घटना विशेष, वातावरण विशेष अथवा चरित्र विशेष मुक्तक काव्य के विषय नही हैं। यदि यह सिद्धान्त मान्य है तब हमे बिहारी की सतसई पर इसी कसौटी को लिए हुए एक बार फिर से विचार करना पड़ेगा और देखना पड़ेगा कि बिहारी के द्वारा रचे गए सात सौ दोहे, क्या विशुद्ध अर्थ में मुक्तक कहे जा सकते हैं।

अब तक बिहारी की जितनी भी प्राचीन अथवा नवीन समीक्षाएँ देखने में आयीं प्रायः हर एक विद्वान आलोचक ने एक स्वर से यही माना है कि सतसई का प्रत्येक दोहा मुक्तक काव्य का श्रेष्ठ नमूना है और तर्क भी प्राय सभी के एक से ही हैं कि प्रत्येक दोहा अपनी अलग सत्ता रखता है, उक्ति चमत्कार से युक्त है और अभिनवगुप्ताचार्य के द्वारा दी गई मुक्तक की परिभाषा में कथित "पूर्वापरनिरपेक्ष" की शर्त को पूरा करता हुआ न्यूनाधिक रसपूर्ण है अत मुक्तक काव्य है। किन्तु यह आलोचना बहुत छिछले स्तर की है। इसमे आधार लिया गया है प्रधानतया केवल काव्य क बाह्य रूप का, उसकी आत्मा मे प्रवेश करके उसकी समीक्षा नही की गई है।

यदि बिहारी का निम्नलिखित दोहा लिया जाय तो उपर्युक्त कथन की सार्थकता स्पष्ट हो जायगी :

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारो देत सराहि।
बैद-बधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुह चाहि॥

इस दोहे का अर्थ स्पष्ट है कि कवि किसी वैद्य का स्पष्ट-चित्र खींच रहा है और अपनी मर्म भरी वाणी में उसकी विविध उपहासास्पद शारीरिक और मानसिक कमजोरियो का केवल चित्रण ही नही कर रहा है। वरन् उसका उपहास भी कर रहा है। इस दोहे से यह भी प्रत्यक्ष है कि कवि इसे लिखते समय किसी घटना एवं चरित्र विशेष से प्रेरित है। भले ही परिणाम-स्वरूप इस दोहे से, "खुदरा फजीहत दीगरा नसीहत" वाला जीवन सिद्धान्त भी समर्थित होता है। किन्तु यह असंदिग्ध है कि इस दोहे को लिखते समय कवि के सामने पहले सिद्धान्त नही था वरन् व्यक्ति विशेष अथवा घटना विशेष ही थी, इसी प्रकार कविवर बिहारी लाल का यह दोहा—

स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु वृथा, देखि, बिहंग, बिचारि।
बाज, पराएँ पानि परि, तूं पच्छीनु न मारि॥

भी विचारणीय है। यों तो यह अपने काव्य रूप में एक सुन्दर अन्योक्ति है। इसके सम्बन्ध मे बिहारी सतसई के प्राचीन और प्रसिद्ध टीकाकार माधवेश ने लिखा है कि 'सिन्ध के हिन्दू राजा कर्णबिन्दु पर मुगलो की सेना ने कई बार चढ़ाई की थी किन्तु असफलता ही सदा हाथ लगी थी। अन्त में मिर्जा राजा जयसिंह को मुगल दरबार से चढ़ाई करने का आदेश दिया गया था। स्वामिभक्ति से प्रेरित होकर जिस समय वे कर्णबिन्दु पर आक्रमण करने के लिए प्रस्तुत हुए तो इनकी वीरता का कायल सिन्ध-नरेश कातर हो उठा, उसने आपको युद्ध से विरत करने की अनेक चेष्टाएँ की लेकिन उसे निराश होना पड़ा। अन्त में वह कविवर बिहारी लाल की शरण में आया और माधवेश ने लिखा है कि उपर्युक्त दोहा उसी समय बिहारी ने लिखकर जयसिंह को दिया था और उन पर इनका कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे युद्ध से विरत हो गए और उस हिन्दू नरेश की स्वाधीनता सुरक्षित रह गई।'

यदि माधवेश का यह कथन इतिहास सिद्ध है तब तो कहना ही क्या? किन्तु यदि यह केवल जनश्रुति मात्र ही हो तब भी इतना तो उपर्युक्त दोहे से स्पष्ट ही है कि वह केवल कोरी सैद्धान्तिक अन्योक्ति का उदाहरण ही नही है। निश्चय ही इस दोहे को लिखने की प्रेरणा कवि को किसी ऐसी ही विचारोद्दीपिनी घटना से मिलनी

चाहिए। ऐसी दशा मे इस दोहे को भी हम विशुद्ध अर्थों में ऊपर दी गई कसौटी के अनुसार केवल मुक्तक रचना ही नही मान सकते।

इसी प्रकार का बिहारी का एक और प्रसिद्ध दोहा है—

नहि परागु, नहि मधुर मधु, नहि बिकासु इहिकाल।
अली, कली ही सौ बँध्यौ, आगे कौन हवाल।।

यह अन्योक्ति भी जनश्रुति के आधार पर महाराज जयसिंह के जीवन की एक प्रसिद्ध घटना से सम्बद्ध मानी जाती है। परन्तु इतिहासवेत्ता डा० राम प्रसाद त्रिपाठी जैसे विद्वान इस दोहे के साथ जुडी हुई जनश्रुति की ऐतिहासिकता को स्वीकार करने मे असमर्थ हैं। भले ही उक्त जनश्रुति अपनी अनैतिहासिकता के कारण जयसिंह के जीवन से सम्बद्ध न हो, किन्तु इस दोहे से जो ध्वनि निकलती है वह निश्चय ही किसी घटना विशेष या प्रसंग विशेष से प्रेरित जान पड़ती है। इसके पीछे भी केवल सैद्धान्तिक उक्ति-चमत्कार मे कवि-उचित उल्लासमात्र नहीं देख पड़ता। अत: इसे भी केवल विशुद्ध मुक्तक की कोटि मे नही रखा जा सकता।

इसी कोटि में बिहारी के अन्य भी न जाने कितने दोहे निरख और परख कर रखे जा सकते हैं।

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर।।
दिन दस आदरु पाइ कै, करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग! सराध पखु, तौ लगि तौ सनमानु।।
मरतु प्यास पिंजरा-पर्‌यौ, सुवा समै के फेर।
आदरु दै दै बोलियतु, बाइसु बलि की बेर।।
जो सिर धरि महिमा मही, लहियति राजा राइ।
प्रगटत जड़ता अपनियै, सु मुकुटु पहिरत पाइ।।

बिहारी की इस कोटि की उक्तियों की प्रेरणा प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति विशेष अथवा घटना विशेष में जान पडती है। ऐसी उक्तियों को हम किसी एक प्रसंग वश उठे हुए रस-सिक्त भाव का चमत्कारित उल्लास मात्र नही कह सकते।

इसी के विपरीत यदि वृन्द या रहीम के दोहों का अध्ययन किया जाय तो उनमें सूक्तियों की प्रेरणा व्यक्ति अथवा घटना से प्राप्त नही देख पडती। वरन् वे बहुत बड़े अंशों मे रसात्मक विचार और भावो के कवित्वपूर्ण उद्रेक हैं और उक्तियो का प्रधान लक्ष्य है—जीवन-सिद्धान्त निर्धारण। अत: वैसी उक्तियाँ अवश्य ही खरी

मुक्तक कोटि की मानी जा सकती हैं। बिहारी की बहुत सी उक्तिया इस कोटि की है। किन्तु सभी नही।

प्राय: अनुशीलन के क्षेत्र मे ऐसी ही समस्या सूर और अन्य भक्ति-रस-सिक्त पदो के गायको की कृतियों के सम्बन्ध मे भी उठती है। संस्कृत काव्य में "गीतगोविन्द", के साथ भी यही समस्या शुरू हुई है। कथा-प्रवाह की अनुपस्थिति मे अथवा इतिवृत्तात्मकता न होने से ही किसी काव्य मर्मज्ञों ने "निबन्ध काव्य" की कोटि का निर्धारण किया था। उसके निर्धारित लक्षणो के अनुसार इस कोटि की रचनाएँ उसमें अधिक सार्थकता के साथ सन्निविष्ट होती हैं।

बिहारी की सौन्दर्य-सृष्टि

* डा० रमाशंकर तिवारी

सम्पूर्ण रीति-काव्य रूप-रस की चर्वणा का साहित्य है। परुष और कोमल, कर्त्तव्य और कामना, श्रेय और प्रेय—दोनो मौलिक राग-वृत्तियो का जैसा मनोरम मणि-कांचन सयोग भक्ति-काव्य मे सम्पन्न हुआ था उसकी स्फूर्तिमयी परम्परा का सवहन रीति-काल में लगभग असंभव ही था। जातीय चेतना के चरम पतन की मनोवैज्ञानिक भूमिका मे जो मादक एव आत्मविस्मृतिशील काव्य रचा गया वह त्रिविध रंगो से युक्त, मोहक सांध्य-रक्तिमा[1] के समान ललित, मधुर एवं आकर्षक है। यह देखकर अवश्य क्षोभ होता है कि इस युग के सिद्ध-सरस्वती के रससिद्ध कवियो ने व्यापक लोक-'संस्कृति' की अंतर्वर्तिनी धारा से सर्वथा असम्पृक्त रहकर, सामन्तीय 'सभ्यता' की बाहरी प्राण-शून्य चकमक की लपेट में आकर जीवन का खड-चित्र ही उपस्थित किया; तथापि इस सत्य से भी आख नही मूँदी जा सकती कि अपने सीमित-संकीर्ण क्षेत्र मे इन्होंने मानव-हृदय की मधुरतम भूख की जो विशद एवं मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति प्रस्तुत की उसे हिन्दी-साहित्य की वैभव-राशि से यदि बहिष्कृत कर दिया जाय तो स्पष्ट ही हमे अपनी गरीबी और कंगाली का भान हो जायगा। यह सच है कि यह कविता श्रृंगारी है तथा "प्रेम की उच्च भूमि" पर नहीं पहुँचती; यह भी सच है कि "वासना को उसमे अपने प्राकृतिक रूप मे ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम-रूप में स्वीकार किया गया है—उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है, न उदात्त और परिष्कृत करने का।"[2] किन्तु इन नागर-कवियों ने नारी और वाणी का जो अभूतपूर्व श्रृंगार किया है वह हिन्दी-साहित्य की अत्यन्त प्रिय एवं मृदुल सम्पत्ति है। विद्वानों की यह भी शिकायत है कि इस काव्य मे "रोमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान-भावना"[3] भी प्राय: नहीं मिलती। इस सम्बन्ध मे ध्यान देने की बात यह है कि रोमांटिक प्रेम का प्रयोग संभवत: भारतीय प्रतिभा के प्रतिकूल रहा है—इधर आधुनिक काल में जिस साहसिक, शौर्य-प्रधान अथवा आत्म-बलिदान-प्रधान प्रेम की चर्चा होने लगी है उसका मूल कारण पाश्चात्य सभ्यता का हमारा सम्पर्क है। "स्वाधीन चिन्ता" का अभाव होने पर भी, यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि रीति-काव्य "उस प्राचीन लोक-भाषा के साहित्य का ही विकास था जो कभी संस्कृत साहित्य को अत्यधिक प्रभावित कर सका था।"[4]

अन्त: सौन्दर्य का उन्मीलन :

बिहारी रूप-रस के लालची हैं। अन्त:सौन्दर्य के उन्मीलन की कल्पना युग-धर्म के विपरीत पड़ती थी। काव्य के आस्वादकों को, उनकी तत्कालीन मनो-वृत्ति मे, नारी के स्थूल, चक्षुग्राह्य सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण की आवश्यकता थी। कदा-चित 'नवल नागरी' की माया-माधुरी का चित्रण उनके लिए एक अपेक्षणीय मानसिक क्षतिपूर्ति ('कम्पेन्सेशन') का विधान था। रसिक कवियों और उनके मौलि-मणि बिहारी ने मानो जीवन की अप्रिय एवं कर्कश भूमिका मे से कोमलता और मधुरता की प्रतीक नारी को चुन लिया तथा उसके समस्त रूप-सौन्दर्य को अपनी रंगीन कल्पना की माया में निमज्जित कर एक ऐसे अभिनव रूप-काव्य की सृष्टि की जिसकी तुलना के लिए भारतीय शृंगार-साहित्य मे अत्यन्त स्वल्प सामग्री मिलेगी। ऐसा समझा जा सकता है कि "नहिं पराग, नहिं मधुर मधु···" में बिहारी अपने प्रति-पालक नरेश को उनकी नवल वधू की आसक्ति से विरत करना चाहते थे। किन्तु, इस उपदेश के लिए जिस "कान्तासंमिततयोपदेशयुजे" वाली शैली का उन्होंने आश्रय लिया वह परिणाम मे और भी मादक और मोहक सिद्ध हुई। बिहारी ने अपने प्रसिद्ध दोहे[५] मे अपने युग की सम्पूर्ण प्रवृत्ति का ही निर्वचन कर दिया है—"संगीत, कवित्व और कामिनी, तीनों अपने उपासकों का पूर्ण आत्मसमर्पण चाहते हैं। अतएव, इनमें प्राण-प्राण डूब जाना ही आनन्ददायक हो सकता है।" जातीय जीवन के गर्व और गौरव के प्रतिनिधि-अंगो को जो गहरी चोटें लगी थीं उसके लिए मधुर अवलेह और अंगूरी आसव की अपेक्षा थी। बिहारी के दोहो ने अनगिनत सौन्दर्य-चित्रों से यही कार्य सम्पन्न किया है।

सौन्दर्य अनिर्वचनीय है जिसकी सम्यक् व्याख्या अभी तक नहीं हो सकी है। वस्तुत: मनुष्य के शरीर में से वह उसी प्रकार प्रस्फुटित होता है जैसे एक परिपक्व सेव के फल में मधुर लाली। कहा गया है कि सौन्दर्य वह है जिसके दर्शन से मन को शान्ति मिले और आनन्द का उद्रेक हो। मानव-शिशु, या किसी दिव्य-भावापन्न रमणी की नव-कान्ति के दर्शन से शान्ति-मूलक आनन्द का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु प्रणय-मूलक शृंगार-क्षेत्र मे 'रूप-पर्व' की आयोजना मूलत: इस उद्देश्य से की जाती है कि दो प्राणियों का पारस्परिक आकर्षण घनीभूत एवं तीव्रतर होवे। यद्यपि बिहारी के रूप-चित्रों मे कामुकता की गंध प्राय: गहरी-सी लगने लगती है, तो भी कतिपय स्थलों में रूप-आभा की नितान्त स्फूर्तिवर्द्धक व्यंजना हुई है। वास्तव मे, बिहारी द्वारा कल्पित अमल-वर्णी, अनिंद्य सुन्दरियां किसी भी साहित्य का शृंगार बन सकती हैं। उनके दोहों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि उन्होंने रूप-रंग का भली-भाँति निरीक्षण किया था। एकाध प्रसंगो के अतिरिक्त, बिहारी ने सांचलिये। का मानो ति स्कार ही किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि संस्कृत-

काव्य मे स्त्री-शरीर का वर्णन साधारणतः श्यामल रूप मे नही मिलता। लोक में भी नारियों की गुराई की ही अभ्यर्थना की जाती है। पुरुष श्यामल हो सकते हैं, किन्तु नारी—जिसके संसर्ग से समग्र जीवन और जगत् ही रूपवान्, आलोकमान् बन जाते हैं[६] का गौर-वर्ण होना भारतीय सौन्दर्य-दृष्टि आवश्यक मानती है। बिहारी ने भी इसी सौन्दर्य परम्परा का पालन किया है। यही क्यों, रोमांटिक काव्य-क्रान्ति के मूर्धन्य कवि 'प्रसाद' जी भी कामायनी को श्यामल नही बना सके।

बिहारी, जैसा अभी कहा गया है, रूप-कान्ति का यथेष्ट निरीक्षण कर चुके थे। यह सर्व विदित तथ्य है कि गुराई तीन प्रकार की लोक-प्रसिद्ध है—श्वेत, पीत और लाल। आ० द्विवेदी ने एक जगह लिखा है कि पीत और रक्त को तथा श्वेत और गौर को एक ही रंग मान लिया जाता है।[७] किन्तु, लोक स्पष्ट ही इन रंगो की पृथक्-पृथक् प्रतीति से अनुप्राणित है। श्वेत गुराई, पीली गुराई, लाल गुराई—इनका परिज्ञान, व्याख्यातीत होने पर भी, साधारण रूप-पारखी निश्चयमेव कर ही लेते हैं। बिहारी की श्वेत-वर्णा नायिका की निष्कलंक प्रभा अपनी उज्ज्वलता से प्रेक्षक के नयनों को भी उज्ज्वल बना देती है :

"कहा कुसुम, कह कौमुदी, कितक आरसी-जोति।
जाकी उजराई लखे, आँखि ऊजरी होति॥"

—तन-द्युति की उज्ज्वलता के प्रभाव से आँख भी उज्ज्वल हो गई! ऐसा जान पडता है, मानो सुन्दरी की प्रभा से दर्शक के नेत्रों मे, नायिका के रूप-रस के प्यासे होने के कारण जो कुछ कल्मष सचित था, वह भी धुल गया। ऐसे स्थलो मे, यह सौन्दर्य कामोद्दीपन नही करता अपितु श्वेत गौरता की एक अभिनव मूर्ति हमारे समक्ष उपस्थित कर देता है।

बिहारी ने प्रेमिका की इस गुराई-गौरव के स्वारस्य का निर्मल चन्द्रिका के साहचर्य में अनुभव किया है। वस्तुतः नायिका की "जगर-मगर द्युति" का प्रतिस्पर्द्धी स्थावर जगत् में कोई हो सकता है तो वह चाँदनी ही है जो रसिक-हृदय कवि तथा स्नेह-सुधा से आप्लावित प्रेयसी की अन्तरात्मा मे मनोरम स्वप्नो की सृष्टि कर देती है। चाँदनी के अभाव में "नेह-नगर" के व्यवसायी प्रेमी-प्रेमिका की आनन्द-सृष्टि अवश्य ही धूमिल बन जाती है। कवि ने शुक्लाभिसारिका का एक अत्यन्त मनोरम चित्र अंकित किया है :

"जुवति जोन्ह में मिलि गई, नैक न होति लखाइ।
सौंधे कें डोरें लगी, अली चली संग जाइ॥"

—नभोमंडल से विकीर्ण होने वाली रजत-धवल ज्योत्स्ना की नयनाभिराम धारा मार्ग को आप्लावित किये है। उसमें श्वेत रंग वाली, धवल-वसना प्रेमिका, गम्भीर गति से, पति-मिलन का उल्लास लिये, संचरण कर रही है। वह युवती—

पार्थिव जगत् का एक अभिनव आश्चर्य (miracle) घटित हो रहा है—चाँदनी में मिल जाती है; दोनो एक-रूप, या यों कहें कि एक-मन, हो जाते हैं। कवि-प्रसिद्धि है कि पद्मिनी नारियों के शरीर में से एक सुगन्ध निकलती है; उसी सुगन्ध के डोरे के सहारे सखी उस अभिसारिका की प्रतीति रखती चली जाती है। युवती को ज्योत्स्ना मे विलीन करने के लिए कवि को रूढ़ि का आश्रय लेना पड़ता है, किन्तु श्वेत गुराई, जो नेत्रों को उज्ज्वल बना देने मे समर्थ है, ज्योत्स्ना मे 'एकमेक' घुल-मिल भी सकती है। जो लौकिक अनुभव-जगत् में होता है उसे तो सभी ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु जो कल्पना के लोक मे भी घटित हो सकता है अथवा होना चाहिए, उसकी स्फुट कल्पना एवं आह्लादमयी व्यंजना सहृदय कवि ही कर सकते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास का कथन है कि कवि-कल्पना के प्रति पाठक की "आस्तिक-बुद्धि" रहती है। वास्तव में, जो समीक्षक यह मानते हैं कि कवियों का काम "मनुष्य को दुर्बलताओं को दुलराना"[८] नहीं, अपितु उन पर "निर्मम प्रहार" करना है, वे ऐसी 'आस्तिक-बुद्धि' की धारणा नहीं कर सकते। स्थावर और जंगम (static और dynamic) का यह संमिलन—जो उक्त दोहे मे सम्पन्न हुआ है—प्रेम-लोक मे ही संभाव्य है तथा कवि की रूपवर्णानुभूति की मनोरमता का द्योतन करता है।

कल्पना और अनुभूति

चमत्कार की प्रवृत्ति बिहारी की उर्वर कल्पना से यत्र-तत्र क्रीड़ा भी करवाती है। वहाँ उनकी सौन्दर्य-मूर्ति हमारी सहृदयता को उद्‌बुद्ध नहीं करती। एक दोहे मे[९] रात को एक-साथ जाने वाले श्रीकृष्ण और राधिका ऐसे घुलमिल जाते हैं कि चाँदनी से पृथक् उनके अस्तित्व की प्रतीति नही होती। राधा का गौर शरीर ज्योत्स्ना मे तथा कृष्ण का श्यामल शरीर राधा की परछाँही में लुप्त हो गया है। यहाँ कवि ने, दो के बदले, तीन का परस्पर विलीनीकरण दिखलाने का उद्योग किया और सहृदय की 'आस्तिक-बुद्धि' का अवलम्ब छूट गया फलत: उसकी कल्पना क्रीडा-कुतूहल की वस्तु बन गई है। पं० रामनरेश त्रिपाठी का कथन है कि कविता मे मस्तिष्क हृदय का मजदूर है, वस्तुत. यह भी जोडा जा सकता है कि कल्पना—जो मूलतः रूप-सृष्टि मे सहायक होती है—हृदय की सेविका है। कविता मे मस्तिष्क और कल्पना, उचित अनुपात मे मिश्रित होकर, जब हृदय-रस का उद्रेचन करते हैं तभी काव्य-आस्वादन की निष्पत्ति होती है।

डा० रामरतन भटनागर का कथन है कि बिहारी 'तारुण्य का सम्बन्ध स्वर्ण-वर्ण से जोड़ते हैं और गौर-वर्ण का कौमार्य से।'[१०] यह कथन सही नहीं है। ऊपर के उदाहरणों मे नायिकाएँ तरुणी हैं, कुमारी नही। तीन रगों वाली गुराई की लोकानुमोदित कल्पना जो बिहारी को अनुप्राणित करती है, उसे बिना समझे हम भ्रान्तिपूर्ण धारणा द[illegible] लेंगे यद्यपि स्वयं बिहारी ने श्वेत-वर्ण को गौर-वर्ण कहा है तब पि

उनके द्वारा चित्रित पीत वर्ण तथा रक्त वर्ण भी गुराई की समृद्ध परम्परा के ही घटक तत्व है।

इन त्रिविध वर्णों मे से कनक-वर्ण (पीत वर्ण) बिहारी को सर्वाधिक प्रिय है। कदाचित् कनक-वर्ण के ही प्रति उनका अनुराग विशेष उद्‌बुद्ध हुआ है। कनक-वर्ण श्वेत-वर्ण के सान्निध्य मे अत्यधिक नयनाभिराम प्रतीत होता है। श्वेत रग की साडी पहने एक पीत-वर्णी युवती का चित्र देखिए :

"सोहति धोती सेत मै, कनक-बरन-तन बाल।
सारद-बारद-बीजुरी-भा-रद कीजत, लाल॥"

—'हे लाल ! श्वेत धोती मे सुवर्ण-रग वाली वह प्रेमिका ऐसी शोभती है कि उसके सामने शरद् ऋतु के बादल की बिजली की प्रभा भी व्यर्थ हो जाती है।' 'कनक-वर्ण' मे काव्य-रूढ़ि हो सकती है, किन्तु यह समझना साहस का काम होगा कि कवि ने यह चित्त लोक से न लेकर शास्त्र से लिया है। कनक-रंग वाली युवतियाँ आज भी सफेद साडी मे सहृदयो का चित्त हरण करती है, अतएव बिहारी ने स्वय इस रूप-रस की चर्वणा नही की थी—ऐसा नही कहा जा सकता।

जब यह कनक-वर्णा रूपसी कनक के आभूषण भी पहन लेती है तब, या तो शरीर का कनक-रग वास्तविक कनक की चमकीली द्युति से 'एकमेक' हो जायगा या अपने प्रतिस्पर्द्धी पदार्थ की चमक का हरण कर लेगा। एक जगह तो कवि की दृष्टि मे सवर्ण के आभूषण दर्पण के मोर्चे-जैसे हीन हेय प्रतीत हो रहे है। वह सुन्दरी को सलाह देता है कि तू 'कनक के भूषण' मत पहन, क्योकि इससे तेरे शरीर की नैसर्गिक प्रभा में उत्कर्ष तो आता नहीं, उलटे तेरे लावण्य में धब्बे-जैसी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अलंकार के बिना भी नारी का नैसर्गिक सौन्दर्य कम स्पृहणीय वस्तु नही है—इस मार्मिक हृदय-सम्मत सत्य की अनुभूति कवि को हुई है। सेनापति की प्रेमिका शृङ्गार-सज्जा से विहीन, ताल, गीत आदि बंधनो से रहित गायक की कमनीय अलाप-जैसी हृदयाकर्षक लग रही है।[11] स्नानोपरांत सघन, श्यामल चिकुर-राशि सुखाने वाली "लाल मनरंजन" से मिलने की प्रतीक्षा मे बैठी हुई नायिका की परिस्थिति का चित्रण कर सेनापति ने एक स्पष्ट मूर्ति हमारे समक्ष रख दी है। यह बात बिहारी की समास-पद्धति के अन्तर्गत लगभग असम्भव-सी ही है। किन्तु मूर्त्त के लिए अमूर्त्त की योजना कर जहाँ सेनापति ने निश्चित ही उस चित्र की 'अपील' कम कर दी है (क्योकि सगीत-मर्मज्ञ व्यक्ति ही प्रारम्भिक अलाप के सौन्दर्य का अनुभव कर सकते है), वहाँ बिहारी ने स्पष्ट शब्दो मे कनक-भूषणो की व्यर्थता व्यंजित कर दी है :

"पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहि हेत।
दरपन कें से मोरचे, देह दिखाई देत॥"

जहाँ प्रेमिका का कनक-रंग तथा भूषणों का स्वर्ण-रंग परस्पर मिल जाते हैं, वहाँ भी कवि को एक विशेष रस मिलने लगता है।

"डीठि न परतु समान-दुति,कनकु कनकु सैं गात ।
भूषन कर करकस लगत, परसि पिछाने जात ।।"

कनक-वर्णा कामिनी की नैसर्गिक प्रभा तथा स्वर्णाभूषणों की पीत आभा दोनों इस प्रकार मिल गये है कि गहनो का भान स्पर्श की कर्कशता से ही होता है । कवि के इस रूप-चित्र में आँख को ही तृप्ति नहीं मिलती, अपितु स्पर्शेन्द्रिय भी तृप्त हो जाती है । रूप-गौरव की अनुभूति के लिए करांगुलियो का प्रयोग कवि की प्रकृत रसिकता का परिचायक है । इससे नायिका की शरीरकांति की निर्मलता का ही उन्मीलन नही होता, अपितु यह भी लक्षित हो जाता है कि उसका रूपाधायक चर्मावरण कितना मुलायम, कितना स्निग्ध भी है ।[१२]

इस कनक-वर्ण का उद्योतन बिहारी ने पीत चमेली की उपमा देकर भी किया है । नायिका फूली हुई पीली चमेली के वन में कौतुकवश छिप गई है । वर्ण-साम्य के कारण वह लक्षित न हो सकी—पुष्पित चमेली-वृक्षो की झुरमुट में बैठी वह प्रेमिका स्वयं कुसुमित चमेली का वृक्ष बन गई । ऐसी अवस्था में कोई उसे कैसे लक्षित कर सकता था । केवल उसकी नैसर्गिक श्रेष्ठतर सुगन्ध ही उसके विज्ञापन का कारण बनी :

"कहि, लहि कौनु सकै दुरी सौनजाइ मैं जाइ ।
तन की सहज सुबास बन देती जौ न बताइ ।।"

प्रकृत सौन्दर्य-स्रष्टा के लिए रगों की मिलनमाया के प्रति जागरूक होना नितान्त अपेक्षणीय है । कीट्स, शेली, ब्राउनिग प्रभृति प्रेम-कवियो ने रंग-वैभव का मंजुल चित्रण किया है । बिहारी की रंगीन कल्पना भी रंगो के विलास मे प्रचुर आनन्द लेती है । "अधर धरत हरि कैं परत..." वाले दोहे में "हरित बाँस की बाँसुरी" के इन्द्रधनुषीय रंग धारण कर लेने की कल्पना पर मुग्ध होकर मिश्रबंधुओ ने लिखा है कि "इन्होने रंगो और उनके मिलाव का बड़ा श्लाध्य वर्णन किया है ।" एक दोहे मे नायिका के शरीर की सुनहरी आभा उसकी कुसुभी रंग वाली लाल कंचुकी को यो प्रभावित करती है :

"सोनजुही सी जगमगति, अँग-अंग जोबन-जोति ।
सुरँग, कसुँभी कंचुकी दुरँग देह-दुति होति ।।"

—कामिनी के अंग-प्रत्यंग मे नव-प्रस्फुटित यौवन की ज्योति जगमगा रही है तथा कुसुभ के रंग में रंगी हुई लाल कंचुकी उसकी स्वर्णिम-द्युति से मिल कर दुरंगी —रक्त-पीत मिश्रित—बन जाती है । इस मूर्ति की रमणीयता मे कवि की अपनी अन्तरात्मा की रंगीनी मिल कर किस माया-माधुरी का जनन करती है, यह सहृदयो-द्वारा उपेक्षणीय नही । इस चित्र में केवल चमत्कार नही है, बल्कि वास्तविकता तो यह है कि यहाँ चमत्कार केवल "बाइ-प्रॉडक्ट"—आ० द्विवेदी के शब्दों मे, 'फोकट का माल' है । प्रधान वस्तु है कवि की रस-लिप्सु सहृदयता । जिसकी निष्ठा ('सिन्सि

यग्टिी') का प्रमाण तब तक नहीं मिलता जब तक नवल-प्रेमिका की नवल यौवन-ज्योति कंचुकी के भौतिक रंग मे परिवर्तन नही उत्पन्न कर देती। अतएव, यहाँ मूल-महत्व है कवि की सहृदयता का और यदि उसकी अभिव्यंजना में चमत्कार की चकमक भी आ गई है तो वास्तविक कवित्व का प्रस्फुटन हो गया समझना चाहिए।

कहीं-कहीं कवि की कल्पना क्रीड़ा भी करने लगती है। ऐसे स्थलों पर यद्यपि हृदय की रूप-रस की भूख पूर्णतया तृप्त नहीं होती, तथापि एकाध चित्रों मे पर्याप्त राग-मूलक रमणीयता एवं स्फूर्तिजनक आह्लाद का आविर्भाव होता है। निम्नस्थ दोहे में जल-क्रीडा के लिए अधीर पीत-द्युति वाली कामिनी का एक गत्यात्मक चित्र देखिए :

"लै चुभकी चलि जाति नित जित जल-केलि-अधीर।
कीजत केसरि-नीर से तित तित के सरि-नीर॥"

—पीत-प्रभा वाली नायिका जल-केलि करती हुई, अत्यन्त अधीरता पूर्वक जिधर-जिधर नदी मे जाती है, इधर-उधर का पानी उसकी तन-द्युति के पीलेपन से केशर घोले जल के समान पीला होता जाता है। चित्र की सजीवता उपेक्षणीय नही है। जल-केलि की अधीरता मे वह क्रीडनशील चुलबुली युवती पानी मे दौडती हुई 'चुभकी' लगाती फिरती है। जिधर-जिधर वह हाथ-पाँव फेंकती-संचरण करती है, इधर-उधर का जलप्रान्त मानों केशर में घुल जाता और पीला हो जाता है। प्रथम चित्र में प्रेमिका की शरीर-प्रभा रक्तवर्ण कंचुकी मे नयी द्युति उत्पन्न कर देती है और साथ-ही अपने रूप की चकमक मे भी वृद्धि करती है, प्रस्तुत चित्र मे जल-बिहार करने वाली कामिनी एक विस्तृत जल-खंड मे ही नवीन छबि और नवीन प्रभा के आविर्भाव मे समर्थ हो गई है। वस्तुतः "बाधक बुद्धि" (Meddling intellect'—Wordsworth) को नमस्कार कर, तनिक सहृदयता से कल्पना करने पर इस जल-केलि प्रवीण अप्सरा (Water-nymph) की आह्लाद-दायिनी मूर्ति हमारे सम्मुख नाचने लगती है। कीट्स की आंग्ल-साहित्य में चित्रांकन प्रतिभा के लिए बड़ी प्रशंसा की जाती है; किन्तु हमारा, व्यक्तिगत अध्ययन के आधार पर दृढ मत है कि बिहारी की रूप-सृष्टि-शील चित्रमयी प्रतिभा की होड़ में कीट्स आसानी से ठहर नही सकता। कीट्स का विश्वास था कि कविता मे 'सूक्ष्म चित्रण की एक रमणीय अधिकता' होनी चाहिये। यह विश्वास उसके 'ईव आफ सेंट ऐग्नीज', 'इजाबेला' प्रभृति प्रेमाख्यानों मे चारुता-पूर्वक प्रतिफलित हुआ है। बिहारी ने भी यद्यपि "कवित्त-रस" में डूबने का संकेत किया है, किन्तु उन्हे अनेक कारणों से 'प्रबन्ध-काव्य की विस्तृत वनस्थली' को त्यागकर मुक्तको का रमणीय 'गुलदस्ता' चुनना पड़ा जिसमें 'हृदय-कलिका को थोड़ी देर तक खिलने के' ध्येय से कल्पना की समाहार-शक्ति' तथा 'भाषा की समास-शक्ति' [१३] को समन्वित करने का कलात्मक उद्योग नितान्त अपेक्षणीय सिद्ध हुआ। कीट्स के लिए केवल एक वास्तविक बाधा

थी—उसके अन्तर्मन में 'दर्शन-प्रेम' तथा एक 'परम रसीलो विलास चेतना'[१४] के बीच द्वन्द्व चला करता था। किन्तु सौभाग्यवश उसकी ऐन्द्रिकता विजय-लाभ कर जाती थी जिसके फलस्वरूप वह अपने राष्ट्रीय-काव्य का अभिनव श्रृंगार कर सका। बिहारी जैसी मुक्तक-वरण की आवश्यकता कीट्स के लिए बाधक नही थी। इस प्रकार भाषा-संहृति और छंद के कसाव को ध्यान मे रखते हुए बिहारी की मूर्ति-विधायनी प्रतिभा की कल्पना कर हम विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नही रहेगे। 'जल केलि-अधोर', मौजी और चुलबुली युवतियाँ हिन्दी साहित्य में—'विश्व-साहित्य' कहने मे तो गुरुजनों का भय लगता है—अन्यत्र कठिनाई से उपलब्ध होगी[१५]।

रक्तिम गुराई वाली रूपसियो का वर्णन अधिक नही मिलता है। कर, चरण और अंगुलियो की रक्तिमा का ही चित्रण कुछ दोहो मे प्राप्त है।

रूप-सृष्टि :

बिहारी की रूप-सृष्टि के विषय मे एक बात ध्यान देने की यह है कि उन्होने (और अन्य बदनाम रीति-कवियो ने भी), भारतीय गार्हस्थिक परम्परा के अनुकूल, नारी को श्वेत अथवा नीली साडी पहिना कर उसके सलज्ज सौन्दर्य की रमणीय मूर्ति चित्रित की है। इस सम्बन्ध मे कवि की बारीक दृष्टि नितान्त प्रशंसनीय है। उसने सदैव शरीर-दीप्ति के आलोक मे 'तरल-र्धमिता' की प्रतिष्ठा की है। वह सौन्दर्य जिसमें 'गतिमयता' का आभास होगा, निश्चय ही उस सौन्दर्य से अधिक हृदयग्राही होगा, जिसमें स्थिरता है। निम्नलिखित एक चित्र से कवि की कला-दृष्टि पर मनोरम आलोक पड़ता है। यों तो बिहारी 'नवनागरियों' के उपासक नागरी-विलास के कवि समझे गये हैं, किन्तु यह देखकर किंचित् प्रसन्नता होती है कि उन्होंने भारतीय कौटुम्बिक जीवन से भी रमणीय चित्रो का आकलन किया है। भोजन कक्ष में रसोई बनाती हुई एक नवयुवती की मूर्ति देखिये :

"टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख-जोति।
लसति रसोई कैं बगर, जगर-मगर दुति होति।।"

भोजन बनाती हुई टटकी धुली हुई साडी पहने प्रेमिका के मुख की ज्योति अग्नि की चमक से और भी चटकीली हो रही है; वह रसोई घर मे इस प्रकार विराजती है तथा उसकी दीप्ति 'जगमग-जगमग' कर रही है! इस "जगर-मगर" की ध्वनि पर तनिक विचार कर लेना उस ग्राम्य बाला की सुषमा में चार-चाँद लगा देता है। "जगर-मगर" से यह कल्पना जाग्रत होती है कि चूल्हे मे जलने वाली अग्नि की शिखाएँ जिस प्रकार एक नृत्य-सा करती प्रतीत होती है, उसी प्रकार उस सुन्दरी की मुख-ज्योति भी, मानो लपटो की प्रतिस्पर्द्धा में, नाच-सी रही है। ज्योति मे वैसे भी गतिमयता की अवस्थित रहती ही है। युवती की शरीर-द्युति की तरलर्धमिता में जैसे उसकी अन्तरात्मा का हलका स्पदन भी दृष्टिगोचर हो रहा है!

शारीरिक आभा की 'जगर-मगर' सुषमा की व्यजना के हेतु बिहारी ने साढ

को किसी-न-किसी जल-खंड से उपमित किया है। जल के भीतर पड़ी हुई वस्तु में एक प्रकार का स्पंदन-सा दिखाई देता है—चाहे जल स्वच्छ स्थिर हो या क्षीण उर्मियो से तरंगायित हो। नीचे के दोहे में कवि ने एक सर्वथा नवीन उपमान की योजना कर एक नितान्त मंजुल रमणी-मूर्ति का अंकन किया है :

"सहज सेत पचतारिया पहिरत अति छबि होति।
जलचादर के दीप लौं जगमगाति तन-जोति ॥"

—नायिका अत्यन्त महीन, अत्यन्त हलकी, 'पंचतोलिया' (वजन में पाँच तोले वाली) श्वेत साड़ी धारण किये है। उस निर्मल-धवल परिधान के भीतर उसका शरीर ऐसा दीप्तिमान हो रहा है मानो 'जलचादर' के पीछे दीपकावली जगमगा रही हो। ऊपर से गिरने वाले स्वच्छ जलप्रवाह के पीछे दीपराशि जैसी जगमग करती है वैसे ही श्वेत साड़ी के भीतर उस सुन्दरी की शरीर-ज्योति जगमग-जगमग कर रही है! इस जगमगाने में प्रेक्षक अथवा भावक की अन्तरात्मा में भी जगमगाहट, एक स्फूर्तिमय उल्लास की सृष्टि नहीं हो जाती—ऐसा वही कह सकता है जिसको लक्ष करके संस्कृत के रस-जीवी कवि ने "शिरसि मा लिख, मा लिख" की अभ्यर्थना की थी।

नीली साड़ी के झीने अंचल पट मे छिपे रमणी-मुख की 'झलमलाहट' में कवि ने कुछ ऐसे ही सौन्दर्य का दर्शन किया है :

"छिप्यो छबीलौ मुंह लसै, नीलै अंचर-चीर।
मनौ कलानिधि झलमलैं, कालिंदी कैं नीर ॥"

—नदी के नीर मे झलमलाते हुए चन्द्र-बिंब का जिसने दर्शन किया है वही इस प्रेमिका के झलमलाहट भरे ललित मुख-बिंब के स्वारस्य की चर्वणा कर सकता है। वैसे ही, बिहारी ने झीने पट मे 'झुलमुल' करती हुई रूपसी की 'अपार ओप' को समुद्र मे विलसिती हुई कल्पवृक्ष की पल्लवयुक्त डाल से [१६] तथा झीने घूंघट-पट मे छिपे चमचमाते चंचल नयनों को नदी के निर्मल जल मे उछलते मीनों से, [१७] उपमित किया है। कहने की अपेक्षा नही कि कवि ने ऐसे स्थलों पर वैयक्तिक अन्वेक्षण के सहारे सौन्दर्य की गतिमयता किंवा नृत्यशीलता के प्रति सहृदयो का ध्यान आकर्षित किया है। हमें भय है कि काव्य-रूढि के तर्क पर हिन्दी-काव्य की एक प्रभूत एवं समृद्ध सौन्दर्य सृष्टि सुधी समीक्षको की मार्मिक दृष्टि से वंचित रह जायगी।

'प्रसाद' जी ने कामायनी की जो रमणीय मूर्ति चित्रित की है, उसकी तनिक चर्चा कर लेना अप्रासगिक नहीं होगा। गाधार देश के चिकने नीले रोम वाले मेड़ो के चर्म-खंड से ढँका कामायनी का सुन्दर शरीर इस प्रकार शोभित हो रहा था जैसे बादलों के वन में गुलाबी रंग का बिजली का फूल खिला हो :

'नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग ।।"

डा० किरण कुमारी गुप्ता, का कथन है कि[१८] 'प्रसाद' जी के इस "सौन्दर्य-विलास" में बिहारी की उपरिलिखित "छिप्यौ छबीलो..." की स्पष्ट छाप है । यहां हमारा विनम्र निवेदन है कि दोनों ही कलाकारों ने अपने-अपने आदर्शों तथा दृष्टिकोणों के अनुरूप सौन्दर्याभिव्यक्ति में समान सफलता पाई है । बिहारी की सौन्दर्यानुभूति सरल, स्पष्ट एवं लोकग्राह्य है । कौटुम्बिक मनोवृत्ति के कारण उनकी नायिका का मुख-बिंब नीले अंचल-पट में से मधुर झलमलाहट छोड़ रहा है । 'प्रसाद' की मनोवृत्ति रोमांटिक है; अतः उनकी कल्पित मूर्ति में अधिक चकमक है, संभवतः थोड़ी 'अस्पष्टता' भी । बिहारी की मूर्ति का साधारणीकरण घटित हो जाता है जब कि 'प्रसाद' की श्रद्धा, रागात्मक 'अनुभूति' से अधिक, हमारी 'कल्पना को जागृत करती है । बिहारी ने प्रत्यक्ष अनुभव से अपनी मूर्ति अंकित की है जब कि 'प्रसाद' ने कल्पना के सुनहले, रंगीन पंखों पर चढ़ कर प्रथम मानवी की रूप-सृष्टि की है । रमणी-मूर्ति के आकलन के लिए भिन्न-भिन्न स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करने के कारण 'प्रसाद' और बिहारी, दोनों की अभिव्यक्तियों में भी अन्तर पड़ गया है । श्रद्धा का 'मृदुल अधखुला अंग' 'बिजली का फूल' है—किन्तु बिजली के फूल में सम्भवतः चमक की 'प्रखरता' होगी, इसलिए 'प्रसाद' ने उस चकमक को 'मृदुल' बनाने के लिए बिजली के फूल को 'गुलाबी रंग' से रंग दिया । बिहारी ने "जल-चादर के दीप लौं" कह कर अपनी सूत्र-शैली में जो रूप-दीप्ति व्यंजित की है उसे ही व्यक्त करने के लिए 'प्रसाद' को गुलाबी रंग में रंगे बिजली के फूल की कल्पना करनी पड़ी है । उसी प्रसंग में 'प्रसाद' ने कामायनी के देदीप्यमान मुख को ज्वालामुखी की धधकती लपटों से उपमित किया है । इस चित्र को देख कर शेक्सपीयर की रोमांटिक प्रेमिका जूलियट का स्मरण हो जाता है जिसकी मौखिक कांति की व्यंजना में वह कहता है कि जूलियट एक कोडी "चोर-बत्तियों' (टॉर्च) की संमिलित चमक से भी अधिक चमकती थी ।[१९] 'प्रसाद' जैसे रोमांटिक सौन्दर्य-द्रष्टा कल्पना द्वारा सृष्ट रूप की अभिव्यक्ति में जितने सफल हुए हैं, निश्चय ही उतने ही सफल, अपनी सीमा में बिहारी भी हुए हैं । यदि 'प्रसाद' की नायिका अनेक लोकोत्तर उपमानों की रंगीनी में वेष्टित हो हमें विस्मय में डाल देती है, तो बिहारी का जगर-मगर दीप्ति-वाली लजीली प्रेमिका हमें, अपने घर में ही, अपनी दिन-रात की दुनियाँ में ही, सहज-स्निग्ध सौन्दर्य की खोज करने के लिए अनुप्राणित करती है ।

नख-शिख परिपाटी के अन्तर्गत बिहारी ने गठनात्मक सौष्ठव के बदले विभिन्न अंगों की मसृणता एवं दीप्ति का ही विशेष वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त भाल

बिन्दी, कर्णफूल, बिछिया, मेहदी, महावर इत्यादि सौन्दय-विधायक उपकरणों के नितान्त मंजुल और मनोहर चित्रों से 'सतसई' जगमगा रही है। नवीन-प्लैटॉनिस्ट (Neo-platonist) प्रसिद्ध दार्शनिक प्लोटिनस (Plotinus) ने बाह्य रूप वा आकृति में सौन्दर्य की अवस्थिति का प्रत्याख्यान करते हुए कहा है कि "सौन्दर्य एक प्रकार की ज्योति है जो किसी पदार्थ या शरीर की सममातृता ('सिमेट्री') से 'प्रस्फुटित' होती है, किन्तु जो स्वयं सममातृत्व नहीं है; इसी 'ज्योति' में सौन्दर्य निवास करता है।"[२०] रस-जीवी कलाकारों के लिए इसी 'ज्योति' में अनिर्वचनीय आकर्षण रहता है। यही कारण है कि बिहारी ने नायिका के विभिन्न अंगों या अवयवों की दीप्ति का ही मनोरम उन्मीलन किया है। पुनः, पंडितों ने बताया है, और अनेक विख्यात प्रेमियों ने निदर्शित किया है, कि वस्तुतः सौन्दर्य, जिसका प्रधान गुण है प्रसादन, आकर्षण तथा अभिभूत-क्षमता, वस्तुगत न होकर विषयगत है। विदेशी साहित्य को छोड दें, तब भी कृष्ण का कुब्जा-विषयक प्रेम विपर्ययगत सौन्दर्य से ही निष्पन्न माना जायगा। इस कोटि की सौन्दर्यानुभूति में विषयी की व्यक्तिगत रुचि वा मन स्थिति ही निर्णायक होती है—"भिन्नरुचिर्हि लोकः"।[२१] बिहारी सौन्दर्यानुभव के इस सूक्ष्म परिपार्श्व से भी अवगत हैं :

"समै-समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ॥"

सुकुमारता अथवा कोमलता और माधुर्य का नितांत स्तुत्य एवं स्पृहणीय प्रत्यक्षीकरण कवि की अभिराम रूप-सृष्टि मे निष्पन्न हुआ है। सुकुमारता की बड़ी ...यग्राही व्यंजना निम्नांकित दोहो में हुई है :

(१) "भूषन-भारु सम्हारियै क्यौ यह तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं सोभा ही कै भार॥"

(२) "अरुन बरुन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरँग रँगु सी मनो चपि बिछियनु कैं भार॥"

(३) "यौं दलमलियतु निरदई, दई कुसुम सौं गातु।
करु धरि देखौ धरधरा उर कौ अजौं न जातु॥"

—प्रथम चित्र में, अत्युक्ति की छाप होने पर भी, शारीरिक सुकुमारता की भावना के साधारणीकरण मे किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। द्वितीय चित्र में अरुण-दीप्ति-मती तरुणी की कोमल पादांगुलियों से, बिछियो के दबाव के कारण, इंगुर के रंग चूने की कल्पना में उस तन्वंगी सुकुमारी की स्पष्ट मूर्ति सामने खडी हो जाती है। तीसरे चित्र में, हृदय की धड़कन को कुसुम-कोमल गात्र से सम्बद्ध करके सुकुमारता की मृदुल, मोहक कल्पना का मूर्तीकरण हुआ है। शुद्ध चमत्कार-पूर्ण चित्रण और कोमलता की व्यंजना भी, 'सतसई' मे उपलब्ध है; किन्तु वैसे स्थलो को प्राधान्य

देकर कवि की वास्तविक रागमूलक रमणीयता पर पर्दा डाल देना उसके साथ घोर-तम अन्याय होगा। वास्तव मे युग-प्रवृत्ति के तुष्ट्यर्थ "वैदग्ध्यभंगी-भणिति" का तिरस्कार करना बिहारी के लिए असभव ही था।

सौन्दर्य के तीसरे प्रमुख तत्त्व 'माधुर्य' की अत्यन्त मोहक एवं निसर्गसिद्ध व्यजना 'सतसई' के रूप-लोक मे निष्पन्न हुई है। वस्तुतः सौन्दर्य में यदि मिठास न हो, तो उसकी चर्वणा क्योंकर हो सकती है? रूप-माधुरी को आस्वाद्य बनाने में कला की पूर्ण महिमा प्रस्फुटित होती है। ऐसे चित्रो में नेत्र और स्पर्श से आगे बढ़ कर, भावुक की रसनेन्द्रिय भी परितृप्त होती है। कीट्स की इस जाति की ऐन्द्रियता की भूरि-भूरि स्तुति की गयी है। हमारा विश्वास है कि बिहारी की इन्द्रिय-तृप्ति-मूलक कला कीट्स की कला से कथमपि हीन नही है।

यौवन का मूल्यांकन :

वयः सधि का चित्रण शृंगार-काव्य का एक परम-प्रिय विषय रहा है। हिन्दी काव्य-गंगा में शृंगार-धारा के प्रथम मान्य प्रवर्त्तक 'मैथिल-कोकिल' विद्यापति ने शैशव एवं यौवन के मध्य, नव बाला के शरीर-राज्य पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए, एक कुतूहल-जनक संघर्ष की उद्भावना की है। सेनापति ने शैशव-निशा के अवसान और यौवन-दिन के उदय की मध्यवर्ती "प्रभात की झाईं" के रूप में सुषुप्त महाराज अनगदेव के नव-जागरण का दर्शन किया है :

"काम-भूप सोवत सो जागत है।"

'यौवन-नृपति' अथवा मदन-महिपाल की कल्पना तो जैसे शृंगार-काव्य की आधार-शिला ही है; तथापि वय.संधि के चित्रण में बिहारी ने जो मार्मिक दृष्टि और मौलिक उद्भावना दिखाई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। जैसा ऊपर कहा गया है, बिहारी रूप-दीप्ति से बड़े प्रभावित थे। नीचे दिये गये उदाहरण मे शैशव की 'झलक' और यौवन की 'झलक', परस्पर आँख-मिचौनी करती हुई, चित्रित की गई हैं :

"छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता-रंग॥"

—धूपछाँह कपड़े मे अरुण-श्यामल रंगों का कुछ ऐसा अनूठा मिलाव रहता है कि बड़ी से बड़ी सूक्ष्म दृष्टि वाले व्यक्ति के लिए भी यह बताना मुश्किल हो जाता है कि अमुक स्थल पर, अमुक क्षण में, श्यामल-रंग दीख पड़ता है और अमुक स्थल पर, अमुक क्षण में, अरुण-रंग का अलोक चमकता है। उस मुग्धा नवयौवना के शरीर में कौमार्य एवं तारुण्य, धूपछाँह कपड़े की अनिर्वचनीय दीप्ति के समान, अपनी-अपनी झलमलाहट छोड़ रहे हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि शिशुता एवं यौवन की, एक अत्यन्त तथा जटिल ढंग से, 'धप्-धप्' चमकने वाली दीप्तियों के निदर्शन मे कवि ने उस नव-बाला की मानसिक-दीप्तियों की, उसकी क्षणे-क्षणे बदलती आन्तरिक चेतनाओं की मोहक मिलावट की ओर भी कलात्मक संकेत किया है। यहाँ कवि

की रूप-सृष्टि करने वाली कल्पना उसके हृदय की परिचारिका बन गयी है। काव्य द्राक्षासव की ऐसी मधुर कनक-कटोरियों की 'सतसई'-सागर में निश्चयमेव कोई कमी नहीं है।

इस नव-प्रस्फुटित-यौवना के क्रमिक विकास का भी बिहारी ने, सूक्ष्म अवेक्षण के आधार पर, नितांत मनोरम चित्रण किया है। कवि इस सत्य से परिचित है कि नेत्र, उरोज, नितम्ब प्रभृति अवयवों के विकास के साथ-साथ नव-बाला का मानसिक (Psychological) विकास भी सम्पन्न हो रहा है :

"अर तैं टरत न बर-परे, दई मरक मनु मैन।
होड़ा-होड़ी बढ़ि चले चितु, चतुराई, नैन ॥"

मनोविज्ञान बतलाता है कि 'वय.संधि' अत्यंत जटिल 'मनः-संधि' की अवस्था का द्योतक है। इसमे बालक या बलिका की अंतरात्मा मे शतशः, सहस्रशः अत्यन्त सूक्ष्म परिवर्तन घटित होते हैं जिनकी यथातथ्य, सही-सही व्याख्या करना लगभग असम्भव-सा हो जाता है। आन्तरिक विकास के एक निश्चित सोपान की व्यंजना कवि ने :

"होड़ा-होड़ी बढ़ि चले चितु, चतुराई, नैन।"

में अत्यन्त विदग्धता-पूर्वक की है। 'चित्त', 'चतुराई' और 'नयन'—इन तीनों का विकास ही तो कैशोरावस्था—"प्री-ऐडोलेसेन्स"—से यौवनावस्था"—ऐडोलेसेन्स"—मे होने वाले संक्रमण ('ट्रांजिशन') की मूल-भित्ति है। इन तीनो तत्वों में ही संक्रमणकालीन समस्त शारीरिक और मानसिक, 'फिजियोलोजिकल' और 'साइकोलोजिकल' परिवर्तनो को कवि ने सूत्र-रूप मे समाहित कर दिया है। पुन. "होड़ा-होड़ी बढ़ि चले" मे चित्त, चतुराई और नेत्रों की जिस प्रतिस्पर्धा की विज्ञप्ति की गयी है, वह सर्वथा सत्य निरीक्षण की पीठिका पर आधारित होने के साथ-साथ, शास्त्रीय दृष्टि से भी अनुमोदित है। वास्तव में, बिहारी का अवेक्षण तथा अनुभव, आधुनिक मनोवैज्ञानिक पंडित के प्रयोगशाला-जन्य ज्ञान से कम महत्त्व का नहीं है। वय:-संधि की सीमा का अतिक्रमण करते ही, यौवन के सिंहद्वार पर पदार्पण करने वाली निरन्तर-विकसनशील बाला की अन्तरात्मा अनेक, अनिर्वचनीय तथा पकड़ में न आने वाली 'इल्यूसिव' (Elusive) भावनाओं और चेतनाओं की रंगस्थली बन जाती है। आधुनिक शरीर-शास्त्रियों का कथन है कि मानसिक प्रतिक्रियाओं या चेतनाओं का प्रभाव मनुष्य की बाह्य आकृति, विशेषतः उसके मुखमंडल, पर पड़ता है। हृदय के भीतर होने वाला, क्षणे-क्षणे नवता को प्राप्त होने[२२] वाला भाव-नाट्य नव-यौवना की बाह्य रूप-दीप्ति में भी सूक्ष्मतया प्रतिबिंबित होगा। हमको और आपको, बिजली की कौंध के समान चमक कर विलीन होने वाली और फिर चमकने वाली इन नवकांतियों के अवलोकन और आस्वादन के लिए न अवकाश है, न अभिरुचि। किन्तु, जो कलाकार नारी और वाणी, दोनों का शृंगार करने का अभिलाषी है, उसके

तो हम यह आकांक्षा करेंगे ही कि वह अपनी विकसित-यौवना नव-नायिका की नव्य-नव्य छवियों का कलात्मक उन्मीलन करे। बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में विकसनशील यौवन का मंजुल मूल्यांकन किया है :

"लिखनि बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥"

चित्रकार केवल अंगों और अवयवों का ही चित्र नहीं उतारता है। वस्तुतः उसकी समस्त कला का नियोजन इस ध्येय से होता है कि उन अवयवों के माध्यम से जो कांति प्रस्फुटित होती है, जो भावों-वीचियों का मधुर एवं सूक्ष्म नृत्य प्रतिफलित होता है, उसे नयनगोचर बना कर, प्रेक्षक के हृदय को उसका बिम्ब-ग्रहण कराया जाय। वस्तुतः भावों को संवेद्य बनाना ही चित्रकला, संगीत और काव्य का प्रधान धर्म है। उक्त दोहे में प्रति-क्षण विकसित होने वाली नवयौवना की नव-नव कांतियों तथा नव-नव भाव-छायाओं को पकड़ने और रंग तथा तूलिका की माया में बाँध देने की असमर्थता के कारण अनेक चतुर चित्रकार हतबुद्धि, हतदर्प हो गये हैं। कवि ने हमें वह छटा दिखाई है जिसकी, जीवन की घिसघिस में, हमें अनुभूति नहीं होती अथवा जिसके अनुभव का अवकाश नहीं मिलता।

सौन्दर्यानुभूति की व्यापकता :

बिहारी ने अपने चुने क्षेत्र में सौन्दर्य की प्रत्येक संभव स्थिति, प्रत्येक आकर्षक 'पोज' का रसोन्मीलन किया है। हाव-भावों की व्यंजना करने में तो वे परम निपुण हैं ही।[२३] यह सच है कि कतिपय स्थलों में उन्होंने परिष्कृत रुचि का ध्यान नहीं रखा है—कहीं तो ठेठ ग्राम्यत्व या भदेसपन की सीमा को स्पर्श करने लग गये हैं और कहीं नव-नागरी की व्याख्यापन में शुद्ध विलास की "रुग्ण मनोवृत्ति" को खनखनाने-झनझनाने लग गये हैं। तथापि, ऐसे चित्रों के बावजूद 'सतसई' में, यथेष्ट संख्या में ऐसी सौन्दर्य-मूर्तियाँ उपलब्ध हैं जिनमें कला-रस और हृदय-रस का मनोरम मिश्रण हुआ है। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने ग्राम्य नारियों की ओर भी सौन्दर्य-चयन की दृष्टि दौड़ाई है। सरोवर में स्नान करते समय, स्नानोपरांत सरोवर से निकलते समय, जूड़ा बाँधते समय, ऊँची डाल से फूल तोड़ते समय, चरखा कातते समय, दहेंड़ी धरते समय,—जब-जब इन्होंने ग्राम्याओं के निश्छल, नैसर्गिक सौन्दर्य की झाँकी पायी है, तब-तब चतुर चितेरे की भाँति, शब्द और छन्द में बाँधकर, उन्होंने उन भोली सुन्दरियों को काव्य की अमर सम्पत्ति बना दिया है। यह अवश्य है कि उन्होंने नागरिकों को गँवारिनों से अलग रहने की सलाह दी है, किन्तु इसका कारण यह है कि उनके काव्य के लक्ष्यीभूत पाठक वा आस्वादक नागर-जन थे जो नागरी अंगूर चखने के बाद ग्राम्य निबौरी के रंचमात्र स्पर्श से भी घबरा जाते थे :

"तो रस-राँच्यौ, आन-बस, कहौ कुटिल-मति कूर।
जीभ निबौरी क्यौं लगै, बौरी चाखि अँगूर॥"

'सतसई' के सौन्दर्य-लोक में सरस, मनोरम चित्रों की एक चटकीली 'गैलरी' की अवतारणा हुई है जो 'नव-नागरी' के 'नवल-नेह' की सीमाओ से मर्यादित होने पर भी, बिहारी की सौन्दर्यानुभूति की व्यापकता, विशदता, सूक्ष्मता एव मार्मिकता का मंजुल साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में, कविता और कामिनी का शृंगार बिहारी से बढकर दूसरा कोई कलाकार नही कर सका।

संदर्भ-संकेत

(१) "सायक सम मायक नयन, रगे त्रिबिध रँग गात।"—बिहारी।

(२) डा० नगेन्द्र : 'रीति-काव्य की भूमिका।'

(३) वही।

(४) डा० ह० प्र० द्विवेदी : 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका'।

(५) "तंत्रीनाद, कवित्त-रस, सरस-राग रति-रँग।
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग।।"

(६) "प्रेयसी किसके सहज संसर्ग से, दीखते है प्राणियो को स्वर्ग से ?"—'साकेत', प्रथम सर्ग।

(७) 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका'—पृ० २५४।

(८) डा० सुधीन्द्र : 'हिन्दी कविता में युगान्तर'।

(९) "मिलि परछाही जोन्ह सौं, रहे दुहुनि के गात।
हरि राधा इक संग ही, चले गली महि जात।।"

(१०) 'बिहारी—एक अध्ययन'।

(११) "ताल गीत विन, एक रूप कै हरति मन,
परबीन गायन को ज्यौ अलापचारी है।"—'क०-र०'।

(१२) अलंकार इत्यादि प्रसाधनो की व्यर्थता निम्नांकित दोहो मे व्यक्त की गयी है—

(अ) मानहुँ विधि तन-अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबै काज।
दृग-पग-पोछन कौ करे, भूषन पायंदाज।।

(आ) करतु मलिन आछी छबिहि, हरतु जु सहजु बिकासु।
अंगरागु अगनु लगै, ज्यौ आरसी उसासु।।

(१३) आ० रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'।

(१४) i 'Poetry should surprise us by a fine excess.'
ii 'An exquisite sense of the luxurious.'

(१५) पीत-द्युति वाली नायिकाओं का चित्रण निम्नलिखित दोहो मे भी हुआ है। 'दीपशिखा' स्त्री-कांति के लिए डा० द्विवेदी के मतानुसार रूढ़ उपमान है, किन्तु

से हमार. इम क पना मे बाधा नही पडती कि बिहारी ने लोक प्रसिद्ध विचित्र ाई का चित्रण किया है।

(अ) "अंग-अंग नग जगमगत, दीपसिखा-सी देह।
दिया बढ़ाए हूँ रहै, बड़ौ उज्यारौ मेह॥"

(आ) "दीप-उजेरे हू पतिहिं हरत बसनु रति-काज।
रही लपटि छबि की छटनु, नैकौं छुटी न लाज॥"

(इ) "कंचन-तन धन बरन बर, रह्यौ रंग मिलि रंग।
जानी जाति सुबास ही केसरि लाई अंग॥"

(१६) "झीनै पटमैं झुलमुली, झलकति ओप अपार।
सुर-तरु की मनु सिंधु मैं, लसति सपल्लव डार॥"

(१७) "चमचमात चंचल नयन बिच घूंघट-पट झीन।
मनौ कलानिधि झलमलैं, कालिंदी कैं नीर॥"

(१८) 'साहित्य-सन्देश', आलोचनांक, १९५१ : "हिन्दी साहित्य को रीतिकाल की देन"।

(१९) "Taught twenty torches to burn bright"

(२०) Beauty is rather a light that plays over the symmetry f things, than the symmetry itself, and in this consists its harm."

—बोसांके : 'सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास'।

(२१) रवीन्द्रनाथ टैगोर ने नारी के लिए कहा है—

"O woman ! Thou art half dream and half reality,"

—'अर्द्ध-स्वप्न' में विषयगत तत्व और 'अर्द्ध-तथ्य' में विषयिगत तत्व की स्वीकृति निहित हैं, वास्तव मे सौन्दर्यानुभव का यही सही निरूपण है।—दे० 'सिद्धान्त और अध्ययन' (बाबू गुलाबराय)।

(२२) "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयतायाः"।

(२३) "बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाइ॥"
"नासा मोरि, नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकै हिए, गडी कँटीली भौंह॥"
"ललन-चलन सुनि पलन में अँसुवा झलके आइ।
भई लखाइ न सखिन्ह हूँ झूठै ही जमुहाइ॥"

बिहारी और सतसई विषयक प्रकाशित लेखों की सूची

अग्रगामी (जयपुर)

बिहारी कृत सतसई में विदेशी शब्द, ले० व्लादमिर मिल्टनर, जनवरी १९६

अवन्तिका

महावरी का मर्म, ले० श्री मणिशंकर, मार्च १९५४

" " ले० डा० रामानन्द तिवारी, जुलाई १९५४

आर्य महिला

सतसईकार बिहारीलाल जी की भक्तिमयी सूक्तियाँ

ले० पं० लोकनाथ शिलाकारी, मई १९३४

आर्किव ओरियन्टल्नी

ओल्ड ब्रज मार्फोलॉजी इन दि बिहारी सतसई, ले० व्लादमिर मिल्टन

प्राहा ३०, १९६

दि म्यूजिकल कैरेक्टर आफ दि वर्सेज़ आफ बिहारी लाल, ले० व्लादिमि

मिल्टनर प्राहा, ३१, १९६

आलोचना

बिहारी सतसई, ले० श्री विश्वम्भर मानव, अक्टूबर १९५२

कादम्बिनी

बिहारी और गुलाब, ले० रतनलाल मिश्र, अगस्त १९६५

जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी

अरबिक एण्ड पर्शियन वर्ड्स इन सतसई

ले० आर० पी० ड्यूहर्स्ट, सन् १९१५

टाइम्स आफ इण्डिया एनुअल

काँगड़ा पेंटिंग्स आफ दि बिहारी सतसई ले० एम० एस० रंधावा, १९६४

(छ) नागरी प्रचारिणी पत्रिका

बिहारी का आत्मपरिचय, जनवरी १९१९ : पृ० १५१ :

महाकवि बिहारीदास की जीवनी, ले० रत्नाकर जी, सं० १९८४ : पृ० ८७

हिन्दी साहित्य में बिहारी, ले० पं० ललिता प्रसाद शुक्ल, सं० १९८४ : पृ०

बिहारी सतसई सम्बन्धित साहित्य, ले० रत्नाकर जी, सन् १९२९ ई० : खंड ९, १० :

बिहारी रत्नाकर की पाठ समस्या, ले० श्री कन्हैया सिंह अंक २, सं० २०१७

प्रभा

देव और बिहारी ले० गंगाधर मिश्र, फरवरी, १९२२

बिहारी और प्राचीन संस्कृत कवि, फरवरी, १९२४

प्रसाद

बिहारी की काव्य चर्चा ले० श्री करुणापति त्रिपाठी, (सितम्बर से दिसम्बर तक धाराबाहिक) १९६२

(ञ) ब्रज भारती

बिहारी की वाग्विभूति, ले० डा० राकेश गुप्त, चैत्र-वैसाख, सं० २००८ ।

ब्रज भाषा मे सतसई की परम्परा—ले० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, चैत्र-ज्येष्ठ २००९

बिहारी सतसई की एक नई टीका, ले० श्री उदयशकर शास्त्री, फाल्गुन, सं० २०११

बिहारी के प्रति : कविता : ले० श्री रामलला, ज्येष्ठ २०१४ वि०

बिहारी का शब्द विधान, ले० जीवनप्रकाश जोशी, ज्येष्ठ, सम्वत् २०१९

महाकवि बिहारीलाल का साहित्यतीर्थ, ले० बालमुकुन्द चतुर्वेदी, भाद्रपद सं० २०२२

'बिहारी रत्नाकर मे शब्दार्थ संबंधी भूले' श्री रामस्वरूप बिशारद, फाल्गुन २०२५

बिहारी की भक्ति भावना, प्रो० सुरेश चन्द्र दुबे, फाल्गुन २०२५

भारतेन्दु

कविवर बिहारी का इतवृत्त ले० राधाचरण गोस्वामी, जनवरी, सन् १८८६

माधुरी

बिहारी के एक दोहे की टीका, ले० रत्नाकर जी, नवम्बर, १९२२

बिहारी और सौन्दर्य विज्ञान, ले० बाबू गुलाबराय, दिसम्बर १९२२

बिहारी सतसई के पहले दोहे की टीका, ले० आ० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी जनवरी, १९२३

सजीवन भाष्य के कुछ अश की संक्षिप्त आलोचना ले० लक्ष्मणसिंह जुलाई १९२३

देव और बिहारी, ले० रामस्वरूप शर्मा शार्दूल, दिसम्बर १६२३

बिहारी रत्नाकर, ले० डा० गंगानाथ झा, नवम्बर १६२६

दास और बिहारी, ले० प्रेमी, दिसम्बर १६२६

बिहारी बोधिनी, ले० कृष्णबिहारी मिश्र सितम्बर, १६२८

बिहारी की सतसई और उसके टीकाकार, ले० किशोरीदास बाजपेयी, आश्विन तथा कार्तिक, सं० १६८७

संस्कृत में महाकवि बिहारी, ले० भट्ट मथुरानाथ शास्त्री, मार्च १६३१

बिहारी का साहित्य बिहार, ले० कालीकुमार मुखोपाध्याय, सं० १६६० (पृ० ६०७)

सतसई सप्तक, ले० मायाशंकर याज्ञिक, आश्विन, सं० १६६१

रसवन्ती

बिहारी की काव्यकला, ले० डा० विजयेन्द्र स्नातक, फरवरी, १६६०

राजस्थान भारती

बिहारी सतसई की सबसे प्राचीन प्रति, ले० दीनानाथ खत्री, जुलाई-अक्टूबर १६६४

राष्ट्रवाणी

बिहारी का सौन्दर्य बोध, ले० बाबू गुलाबराय, अगस्त १६६०

बिहारी सतसई के अध्ययन की कुछ नई दृष्टियाँ, ले० डा० भागीरथ मिश्र, सितम्बर १६६०

विक्रम

बिहारी का भाषा सौन्दर्य, ले० आ० दुर्गाशंकर मिश्र, सितम्बर १६५१

(द) श्री शारदा

बिहारी और देव, ले० लाला भगवानदीन अक्टूबर, सन् १६२१ से मई सन् १६२२ तक

संजीवन भाष्य के कुछ अंशों की प्रत्यालोचना, ले० समदर्शी, भाद्रपद १६८०

सम्मेलन पत्रिका

मुक्तक काव्य और बिहारी के दोहे, ले० ललिता प्रसाद शुक्ल, पौष शुक्ल सं० २०११ एम० ए०

बिहारी की सौन्दर्य सृष्टि, ले० रमाशंकर तिवारी, सं० ३ सं० २०११

(ध) साहित्य समालोचक

बिहारी की मौलिकता

(१) अमरुशतक और बिहारी सतसई, ले० श्री रामसेवक पाण्डेय, शिशिर वसंत, सम्वत् १९८२-८३
(२) गोवर्द्धनाचार्य और बिहारी, ले० लक्ष्मणसिंह क्षत्रिय
बिहारी का अपहरणदोष, ले० वैद्य मधुसूदन शास्त्री, पृ० ११७
बिहारी के दुर्लभ दोहे, जनवरी, १९२५

सरस्वती

'बिहारी और फारसी कवि सादी' ले० पद्मसिंह शर्मा, जुलाई १९०७
सतसई संहार, ले० पद्मसिंह शर्मा, १ जनवरी, १९१० से पृ० २९ से ४४६ तक
सतसई संहार की कुछ उक्तियों पर एतराज, मार्च, १९११
कविवर बिहारी कौन थे, ले० बनारसीदास चतुर्वेदी, अक्टूबर १९२६
कविवर बिहारी कौन थे, ले० अमृतलालशील, फरवरी १९२७
सतसई का दोष परिहार, ले० किशोरीदास बाजपेयी, मार्च १९२७
बिहारी सतसई में फारसी और अरबी, ले० डा० अमरनाथ झा, मई १९४०
बिहारी का वियोग शृंगार, ले० प्रो० ससारचन्द्र, नवम्बर १९५५
संस्कृत साहित्य का कविवर बिहारी पर प्रभाव, ले० श्यामनन्दन शास्त्री फरवरी १९५७
बिहारी का काव्य और युग, ले० प्रो० आनन्द नारायण शर्मा, जनवरी १९६५

सरस्वती सम्वाद

बिहारी की काव्य प्रतिभा, ले० डा० सुधीन्द्र, जून १९५३

साहित्य

केशव और बिहारी, ले० पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, कार्तिक और मार्गशीर्ष सं० १९९७
बिहारी की राष्ट्रीयता, ले० ठाकुर नन्दकिशोर सिंह, कार्तिक सम्वत् १९९५

साहित्य सन्देश

बिहारी की वाग्विभूति और बहुज्ञता, ले० प्रो० अम्बाप्रसाद सुमन, मई १९५५
बिहारी रत्नाकर में शब्दार्थ सम्बन्धी भूलें ले० श्री रसिकेचन्द्र, जनवरी, १९५७
बिहारी सतसई की प्राचीन टीकाएँ, ले० श्री अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव मई १९५७
देव और बिहारी, ले० श्री मतिराम ले० डा० गोपीनाथ तिवारी, जून १९५९
कविवर बिहारी की नवीन रचना, ले० डा० शिवगोपाल मिश्र सितम्बर, १९६९

सुधा

बिहारी , ले० जी० ए० ग्रियर्सन, सितम्बर ९२९

अश्रृंगारी बिहारी, ले० आ० परशुराम चतुर्वेदी, अगस्त-सितम्बर १९२७

महाकवि बिहारी और देव, ले० पं० लोकनाथ द्विवेदी शिलाकारी, दिसम्बर १९३३

बिहारीलाल के चार राजनीतिक दोहे, ले० पं० लोकनाथ द्विवेदी शिलाकारी मई सन् १९३४

(म) हरिऔध

बिहारी सतसई का आजमशाही क्रम, अक्टूबर १९५८

(य) हिन्दी अनुशीलन

बिहारी सतसई मे समाज चित्रण, ले० डा० रामशंकर तिवारी, अप्रैल-जून १९५७

बिहारी के कवित्त सवैये, ले० अम्बाशंकर नागर, जनवरी-जून १९६४

बिहारी का स्थिति काल-ले० हरिप्रसाद नायक जुलाई-सितम्बर १९६५

बिहारी सतसई में काव्य रूढ़ियाँ एवं प्रयोग वैचित्र्य डा० योगेन्द्र सिंह जुलाई दिसम्बर १९६६

(र) हिन्दुस्तानी

बिहारी सतसई के टीकाकार कृष्णकवि, ले० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे, एम० ए० जनवरी-मार्च १९४७

कविवर बिहारी दास की जीवनी पर पुनर्विचार, ले० हरिमोहन मालवीय भाग २७ अंक १-२

बिहारी-सतसई संबंधित कुछ अन्य प्रकाशित ग्रंथ

कांगड़ा पेन्टिंग्ज आफ दि बिहारी सतसई, ले० श्री एम० एस० रंधावा

बिहारी सतसई एक वैज्ञानिक समीक्षा, ले० डा० गणपति चन्द्र गुप्त

बिहारी और उनकी सतसई, ले० डा० राजकिशोर सिंह

बिहारी-भाष्य, ले० डा० देशराजसिंह भाटी